भारतीय पुरालिपि-शास्त्र

जार्ज बुयलर

मंगल नाथ सिंह

[केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय की प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित योजना के अन्तर्गत प्रकाशित]

भारतीय पुरालिपि-शास्त्र

जार्ज ब्यूलर

GEORG BÜHLER

INDISCHE PALAEOGRAPHIE

अनुवाद

मंगल नाथ सिंह

पुनरीक्षण

जीवन नायक

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7
नैपाली खपरा, वाराणसी, (उ० प्र०)
बांकीपुर, पटना (बिहार)

[दो भाग]

प्रथम संस्करण

1966

श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7 द्वारा प्रकाशित तथा श्री शांतिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7 द्वारा मुद्रित ।

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा-मंत्रालय के तत्त्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हों। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशकों को या तो वित्तीय सहायता प्रदान करती है अथवा निश्चित संख्या में, प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ खरीदकर उन्हें मदद पहुँचाती है। प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध जर्मन भारती-विद् जार्ज ब्यूलर के *Indische Palaeographie* का हिंदी रूपांतर है। भारतीय पुरालिपि-शास्त्र के क्षेत्र में इस पुस्तक का बड़ा महत्त्व है। यह ग्रंथ विश्व विद्यालयों में पाठ्य-ग्रंथ के रूप में स्वीकृत है।

इसका अनुवाद केंद्रीय हिंदी निदेशालय के तत्त्वावधान में सहायक निदेशक श्री मंगल नाथ सिंह ने और पुनरीक्षण उपनिदेशक श्री जीवन नायक ने किया है। अनुवादक को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस विषय के अध्यापन का पर्याप्त अनुभव है। इसमें शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है, यह योजना सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय होगी।

ए. चंद्रहासन

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय — निदेशक
शिक्षा-मंत्रालय

दो शब्द मूल-ग्रंथ के संबंध में

प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के लिए पुरालेखों का कितना महत्त्व है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन अभिलेखों में कुछ पर तो तिथियाँ अंकित हैं; किंतु इनमें अधिकांश अतिथिक ही हैं। ऐसे लेखों की अंतर्वस्तु का वास्तविक मूल्यांकन पुरालिपि-शास्त्र की सहायता से उनके काल-निर्धारण के पश्चात् ही संभव होता है। यही इस शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता प्रकट हो जाती है।

भारत में लेखन कला की उत्पत्ति कब हुई, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि इस देश में मिलनेवाला प्राचीनतम अभिलेख ईसा पूर्व छठी शताब्दी का है। कालान्तर में भारतवासी अपने प्राचीन लिपियों का ज्ञान खो बैठे हैं। प्राचीन लिपियों के पुनः पढ़े जाने का इतिहास बड़ा रोचक है।* कहते हैं सतत् जिज्ञासु अकबर महान् को इस बात की बड़ी उत्सुकता थी कि दिल्ली में अशोक के प्रस्तर-स्तम्भों पर जो लेख खुदे हैं उनका अर्थ क्या है। उसकी जिज्ञासा शांत करने के निमित्त तत्कालीन लालबुझक्कड़ पण्डितों ने इन अभिलेखों को 'पढ़कर' अकबर को बतला दिया कि इनमें शाहनशाह की प्रशंसा की गयी है और उसके राज्य के अचल होने की भविष्यवाणी है। पण्डितों के इस निर्वचन से सुधी अकबर के मन की जिज्ञासा शांत हुई या नहीं यह कहना तो कठिन है, किन्तु इतना भी निर्विवाद है कि भारत की प्राचीन लिपियों के पढ़ने का वास्तविक प्रयत्न आज से लगभग 200 वर्ष पूर्व ही आरम्भ हुआ था जब सन् 1784 ई० में कलकत्ते में रायल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई। इसके अगले वर्ष ही चार्ल्स विल्किन्स ने बादल के प्रस्तर स्तम्भ पर खुदी पाल-राजा नारायण पाल की प्रशस्ति को पढ़ लिया। उसी वर्ष पण्डित राधा कान्त शर्मा ने अशोक-स्तम्भ पर खुदे वीसल देव चाहमान के लेख को पढ़ लिया। इसी प्रकार शीघ्र ही बराबर की गुफाओं के अन्य सभी लेख भी पढ़ लिये गये। फिर तो एक-एक कर लगभग सभी प्राचीन लेख पढ़े जाने लगे।

ध्यान देने की बात यह है कि अनेक विद्वानों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप प्रारम्भिक काल में जो लेख पढ़े गये, वे ऐतिहासिक दृष्टि से मध्य हिन्दू-युग के और उत्तर भारत के ही थे। प्राचीनतर और दक्षिण भारत की लिपियों का

---

*इस इतिहास का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए डा० राज़बली पाण्डे कृत *Indian Palaeography*, Vol. I, पृष्ठ 1-22 देखिए।

पढ़ना शेष था। इनके रहस्य की कुंजी अभी विद्वानों के हाथों नहीं लगी थी। अगली शताब्दी के प्रारंभ में इन दिशाओं में भी प्रयत्न शुरू हुए। चौथे दशक में बैंबीगटन ने मामलपुरम के संस्कृत और तमिल लेखों के आधार पर अक्षरों की एक सारणी बनाई। बैंबीगटन से भी अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक चार्ट वाल्टर इलीएट ने बनाया जिस में कन्नड़-वर्णमाला के प्राचीन रूपों का तुलनात्मक विवरण था। 1837 में ही हार्कनेस ने *Ancient and Modern Alphabets of the Popular Hindu Languages of the Southern Peninsula of India* प्रकाशित की। इस प्रकार दक्षिण भारत की लिपियों के पढ़ने का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।

इधर जेम्स टॉड ने राजस्थान, मध्य-भारत और गुजरात से पर्याप्त संख्या में प्राचीन अभिलेख एकत्र किये। इसी बीच गुप्तों और वैलभी के मैत्रकों के अभिलेख भी पढ़ लिये। अतः 19वीं शताब्दी के मध्य तक भारती-विद्या के विद्वानों के हाथ में वह कुंजी भी आ गयी थी जिससे प्रारंभिक भारतीय अभिलेख भी पढ़े जा सकते थे। अशोक कालीन अभिलेखों के पढ़ने का श्रेय जेम्स प्रिंसेप नाम के विद्वान को है। प्रिंसेप के रूप में पिछले 50 वर्षों के प्रयत्नों को चरम फल मिला। जब तत्कालीन सभी प्राचीन अक्षरों की पहचान हो चुकी थी। प्रिंसेप ने Modifications of the Sanskrit Alphabet from 528 B.C. to A.D. 1200 के नाम से एक चार्ट बनाया जिसमें 18 सौ वर्षों की पूरी भारतीय वर्णमाला दी हुई है। इस चार्ट के देखने से यह पता चलता है कि इस अवधि में प्रत्येक अक्षर में क्या-क्या परिवर्तन हुए। प्रिंसेप ने उचित रूप से ही इस चार्ट को पुरालिपिक कालमापी कहा।

प्रिंसेप के इस चार्ट के साथ से पुरालिपिक शास्त्र के अध्ययन के इतिहास में प्रथम चरण की समाप्ति होती है, जब कि भारत की प्राचीन वर्णमाला पुनः सजीव होकर बोलने लगी।

प्रिंसेप ने ही अपने इस चार्ट के माध्यम से भारतीय-अभिलेखों के अध्ययन के दूसरे चरण की नींव रखी। अब भारतीय पुरालिपिक शास्त्र की नींव पड़ चुकी थी। पुरालिपिक अध्ययन एक स्वीकृत विषय बन चुका था। 1874 ई० में बर्नेल ने प्रथम बार *Elements of South Indian Palaeography* (from the 4th to the 14th century A.D.) being an Introduction to the Study of South Indian Inscriptions and Manuscripts नाम से इस विषय का पहला ग्रंथ प्रकाशित किया। अब वह समय भी आ चुका था जब विभिन्न शोध पत्रों में अभिलेख की प्रतियाँ छपने लगी

थीं। 1877 में कनिंघम ने अशोक के अभिलेखों को प्रकाशित किया और उसके अगले साल फ्लीट ने गुप्तों और उनके समकालिकों के अभिलेख प्रकाशित कराये।

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में दो विद्वान उस काल तक उपलब्ध सारी पुरालिपिक सामग्री का समग्र अध्ययन करने में संलग्न थे। उनके नाम थे—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री ब्यूलर। 1894 ई० में **प्राचीन लिपि-माला** नाम से ओझा जी ने एक विस्तृत पुस्तक प्रकाशित की जिसमें प्रथम बार एक स्थान पर समस्त भारतीय लिपियों का सुसंबद्ध अध्ययन है। हर्ष की बात यह है कि यह ग्रंथ हिंदी में प्रकाशित हुआ था। इसके दो वर्ष उपरांत ही ब्यूलर की प्रसिद्ध पुस्तक *Indische Palaeographie* प्रकाशित हुई जिस का अनुवाद यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

ओझा, ब्यूलर, हार्नले, हुल्श आदि इस काल के विद्वानों का मुख्य उद्देश्य अभिलेखों का यथातथ रूप में प्रकाशन था। तब तक शुद्ध प्रतिलिपियाँ प्राप्त करने के वैज्ञानिक उपकरणों की ईजाद नहीं हुई थी। ओझा जी ने तो अभिलेखों के सहारे अपने हाथ से ही उनकी प्रतिलिपि ली थी। ब्यूलर ने मूल अभिलेखों से अक्षर काटकर छापे हैं। इसलिए उसका कार्य अधिक वैज्ञानिक है।

इस काल के विद्वानों ने लिपियों के वर्गीकरण का भी प्रयत्न किया। वर्णों के अंतरों को ध्यान में रखकर हुल्श ने पहली बार उनके क्षेत्रीय-विभाजन का प्रयत्न किया। ओझा जी ने इस वर्गीकरण को स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में क्षेत्र और काल के कारण अक्षरों में रूप-परिवर्तन हो सकते हैं, किंतु इसे वे आवश्यक नहीं मानते। ब्यूलर ने प्राचीन भारत के लिपियों के अध्ययन को और भी आगे पहुँचाया है। ओझा के विरुद्ध वह भारतीय लिपियों के क्रम-विकास को स्वीकार किया है। उसने क्षेत्र और काल के आधार पर उनका और भी सूक्ष्य वर्गीकरण किया है। उसने स्मारक रूपों और पांडुलिपियों में प्रयुक्त लिपियों के लिए अलग-अलग कालमान देकर इस प्रक्रिया को और भी वैज्ञानिक बना दिया है। इस प्रकार *Indische Palaeographie* के रूप में हमें भारतीय पुरा-लिपि के क्षेत्र में प्राय: 100 वर्षों के अध्ययन के चरमोत्कर्ष के दर्शन होते हैं।

ब्यूलर के उपरान्त इस देश के विभिन्न भागों से बहुत बड़ी संख्या में अभिलेख मिले हैं। इनके अतिरिक्त भारतीय पुरालिपि के क्षेत्र में सिंधु-घाटी की लिपि के रूप में अब तक की सबसे बड़ी खोज भी ब्यूलर की मृत्यु के उपरांत ही हुई है। किंतु प्राय: पचास वर्षों के अनेक विद्वानों के अध्यवसाय और प्रयत्न के बावजूद अभी तक इस लिपि का कोई सर्वमान्य निर्वचन नहीं हो पाया है। ब्यूलर के बाद इस क्षेत्र में जो अनेक प्रकाशन हुए हैं, उनमें प्रमुख हैं (1) श्री

सी० शिवराममूर्त्ति का *Indian Palaeography and South Indian Scripts*, (2) डॉ० चन्द्रिका सिंह उपासक का *History and Palaeography of Mauryan Script*, और (3) डॉ० अहमद हसन दानी का *Indian Palaeography*. इनमें प्रथम ग्रंथ तो ब्यूलर की ही परंपरा में उसका एक अलग कदम है, दूसरे और तीसरे ग्रंथों में नए रास्ते खोजने का दावा किया गया है। किंतु ब्यूलर के उपरांत भारतीय और विदेशी शोध-पत्रिकाओं में जितने अभिलेखों का अब तक प्रकाशन हुआ है, उसमें ब्यूलर की ही प्रणाली का अनुसरण है। इस प्रकार भारतीय पुरा-लिपि-शास्त्र के क्षेत्र में ब्यूलर के ग्रंथ की प्रामाणिकता अभी तक बनी हुई है।

ओझा जी की **भारतीय लिपि-माला** तो हिंदी में लिखी ही गयी है। ब्यूलर के इस ग्रंथ के हिंदी में अनूदित हो जाने पर हिंदी के माध्यम से इस विषय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को यदि कुछ भी सहायता मिली, तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

राम नवमी
1966

मंगल नाथ सिंह

संक्षिप्तियाँ

इं. ऐ.	इंडियन ऐंटिक्वेरी
इं. पि.	इन्स्क्रिप्शंस दे पियदसि, सेनार
ए. इं.	एपिग्राफिया इंडिका
ए. क.	एपिग्राफिया कर्नाटिका सं. राइस
क, आ. स. रि.	कनिंघम्, आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स
क, इं. अ. (का. इं. इं)	कनिंघम, इन्स्क्रिप्शंस आफ अशोक (कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्
क, क्वा. इं. सी.	कनिंघम, क्वायंस आफ इंडो-सीथियंस
क, क्वा. ऐं. इं.	कनिंघम, क्वायंस आफ ऐंशियंट इंडिया
क, क्वा. मि. इं.	कनिंघम, क्वायंस आफ मिडीवल इंडिया
क, म. ग.	कनिंघम, महाबोधि-गण
ज. अ. ओ. सो.	जर्नल, अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी
ज. ए.	जर्नल एशियाटिके
ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो.	जर्नल, बांबे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी
ज. रा. ए. सो.	जर्नल, रायल एशियाटिक सोसायटी
जात.	दि जातक सं. फासबोल
जि. बे. वी. आ.	जिट्सुंग्सबेरिस्ट डेयर वीनर आकादेमी
डे, वी. आ.	डेक्शिफ्टेन डेयर वीनर आकेदमी
त्सा. डे. मो. गे.	त्साइटश्रिफ्ट डेयर डाइचेन मोर्गनलेंडिशेन गेसेल शाफ्ट
प्रि, इं, ऐ.	प्रिंसेप, इंडियन ऐंटिक्विटीज़ सं. टामस
फ्ली., गु. इं.	फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रिप्शंस
(का. इं. इं.)	(कार्पस, इन्स्क्रिप्शनस इंडिकेरम)
ब, आ. स. रि. स. इं.	बर्गेस, आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, सदर्न इंडिया
ब, आ. स. रि. वे. इं.	बर्गेस, आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, वेस्टर्न इंडिया
ब, ए. सा. इं. पै.	बर्नेल, एलिमेंट्स आफ साउथ इंडियन पैलियोग्राफी, द्वि. सं.
बु. इं. स्ट.	ब्यूलर, इंडियन स्टडीज़
बै. ओ. रे.	बैबिलोनियन ऐंड ओरियंटल रेकार्ड्स

ब्यो. रो. व्यो.	ब्योरलिंग ऐंड रोट, संस्कृत-व्योर्टरबुख'
ब्यो, व्यो.	ब्योटलिंग, संस्कृत-व्योर्टरबुख इन क्यर्त्सरर फासुंग
महा. (म. भा.)	महाभाष्य
मै. मू, ऋ. वे.	मैक्समूलर, ऋग्वेद संहिता,
मै. मू., हि. ऐ. सं. लि.	मैक्समूलर, हिस्ट्री आफ ऐंशियंट संस्कृत लिटरेचर
यू. टै. स्कि. अ.	यूटिंग, टैबुला स्क्रिप्चरा अर्माइके
ला, इं. आ.	लासेन, इंडिश आल्टर टुम्स कुंड द्वि. सं.
वि, ए. ऐ.	विल्सन, एरियाना ऐंटिका
वी. त्सा. कुं. मो.	वीनर त्साइटश्रिफ्टफयुर डी कुंड डेसमोर्गन लांडेश अर्थात् वियना ओरियंटल जर्नल
वे, इं. स्ट्रा.	वेबर, इंडिश स्ट्राइफेन
सा. इं. इं.	साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस सं. हुल्श
से, इं. पि.	सेनार, इंस्क्रिप्शंस दे पियदसि
से, नो. ए. इं.	सेनार, नोट्स दे इपिग्राफी इंडियने

विषय-सूची

भारत में लेखन-कला की प्राचीनता और सबसे प्राचीन लिपि की उत्पत्ति

III. प्राचीन ब्राह्मी और द्राविड़ी

IV. 350 ई. के आसपास की उत्तरी लिपियाँ 91

VI. संख्यांक-लेखन 156

VII. अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रन्थों का बाह्य विन्यास 179

VIII. लेखन-सामग्री, पुस्तकालय और लिपिक 190

भारतीय
पुरालिपि-शास्त्र

(ई० पू० 350 से 1300 ई० तक)

भारत में लेखन-कला की प्राचीनता और सबसे प्राचीन लिपि की उत्पत्ति

1. भारतीय परम्परा[1]

भारतीय आस्तिक और नास्तिक दोनों संप्रदायों में जो परंपराएं उपलब्ध हैं उनमें लेखन-कला, कम-से-कम मुख्य लिपि के आविष्कार का श्रेय ब्रह्मा को दिया गया है। इस प्रकार इन परंपराओं में लेखन-कला को राष्ट्रीय आविष्कार माना गया है और इसे अत्यंत प्राचीन कहा गया है। ब्रह्मा से उत्पत्ति की बात **मनुसंहिता** के नूतन संस्करण **नारद-स्मृति**[2] (620 ई० में बाण ने इसका उल्लेख किया है), मनु पर बृहस्पति के **वार्तिक**,[3] युवाङ् च्वाङ्[4] तथा जैनों के **समवायांग सूत्र** (परंपरा से प्राप्त तिथि ई० पू० 300) में मिलती है। **समवायांग सूत्र** की ही कथा **पण्णावणा सूत्र**[5] (परंपरा से प्राप्त तिथि ई० पू० 168) में भी दुहराई गई है। बादामी में ब्रह्मा की एक मूर्त्ति मिली है जिसका समय लगभग 580 ई० है। इसमें ब्रह्मा के एक हाथ में ताड़-पत्र हैं[6]। बाद की मूर्त्तियों में ताड़पत्र के स्थान पर कागज मिलता है जिसमें लिखावट दिखलाई गई है।[7] इन मूर्तियों में भी इसी कथा की ओर संकेत है।

ब्रह्मा से उत्पत्ति की यह कथा विशेषकर उस भारतीय लिपि के संबंध में है जो बायें से दायें की ओर लिखी जाती है। चीन के बौद्ध ग्रंथ **फवाङशुंलिन**[8] में यह सारी-की-सारी कथा मिलती है। वहाँ ब्रह्मा को **फाङ** कहा गया है। ऊपर उल्लिखित दोनों जैन-ग्रंथों तथा **ललितविस्तर**[9] में सबसे महत्वपूर्ण

---

1. बु, इ. स्ट. III, 2, 23-35 मिला. **एनेक्डोटा औक्सेन, आर्यन सिरीज**, I, 3, 67; ब, ए. सा. इं. पै. 6; ए. ल्युडविग, **यवनानी**; **सिट्ज. बेर, व्युह्म, गेस, डी. विस्स.** 1893, IX और डा० बर्नेल द्वारा उद्धृत रचनाएं।

2. सै. बु. ई. 23, 58 तथा आगे

3. सै. बु. ई. 23, 304

4. **सियुकि** 1, 77 (बील)

5. वे, इं. स्ट. 16, 280, 399

6. इं. ऐ. 6, 366 फलक

7. मूर, **हिन्दू पैंथियन**, फल० 3, 4; ए. रि. 1, 243

8. बै. ओ. रे. 1, 59

9. संस्कृत पाठ 143 (बिब्ल. इंड.) और 308 ई० का चीनी अनुवाद

लिपि को **बंभी** या **ब्राह्मी** कहा गया है। इससे भी इस कथा के प्रचलन का संकेत होता है। इन परंपराओं के प्रकाश में उस लिपि को **ब्राह्मी** कहना ही उचित जान पड़ता है जिसमें अधिकांश अशोक के आदेश-लेख लिखे गये हैं या जो उसका अगला विकसित रूप है।

बेरूनी[10] एक दूसरी ही कहानी कहता है। बेरूनी के अनुसार हिन्दू लिखना भूल गये थे। दैवी प्रेरणा से पराशर के पुत्र व्यास ने पुनः इसकी खोज की। इस प्रकार भारतीय लिपियों का इतिहास कलियुग से अर्थात् ई० पू० 3101 से प्रारंभ होता है।

इन पुराण-कथाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू लोग अत्यंत प्राचीन काल में—निश्चय ही ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व और संभवतः 300 ई० पू० से भी पहले यह बात भूल चुके थे कि उनके यहाँ लिपि की उत्पत्ति कब हुई। किन्तु उनकी परंपराओं में कुछ अंश ऐसे बच रहे हैं जो इस संबंध में काफी महत्त्वपूर्ण है। ऊपर जिन दो जैन-ग्रंथों की चर्चा आई है उनमें 18 लिपियों का उल्लेख है। **ललित विस्तर**[11] से पता चलता है कि बुद्ध के समय में 64 लिपियाँ प्रचलित थीं। दोनों सूचियों में कई नाम समान है। इसमें चार लिपियाँ तो निश्चय ही ऐतिहासिक हैं। वर्तमान भारतीय लिपियों की जननी **ब्राह्मी** या **बंभी** के अतिरिक्त दो अन्य लिपियों की भी पहचान ज्ञात लिपियों से की जा सकती है। दायीं से बायीं ओर को लिखी जानेवाली **खरोष्ठी** या **खरोट्ठी** का आविष्कार फवाङ् शुलिन[12] के कथनानुसार **खरोष्ठ** (गधे से ओष्ठवाला)[13] ने किया था। यह वही लिपि है जिसे विद्वानों ने पहले बैक्टीरियन, इंडो-बैक्टीरियन, बैक्ट्रो-पालि, एरियानो-पालि आदि-आदि नामों से अभिहित किया था। **द्राविड़ी** या **डामिली** शायद ब्राह्मी का ही अंशतः स्वतंत्र भेद है। हाल ही में इसका पता कृष्णा जिले में भट्टिप्रोलु के स्तूप से प्राप्त धातु-पात्रों से लगा है।[14] इनके अलावा, **पुष्करसारी** या **पुक्खरसारिया** नाम भी ऐतिहासिक है। इसका संबंध **पुष्करसादि** या **पौष्करसादि** (उत्तरी बौद्ध-परम्परा के पुष्करसारि) नाम

---

10. **इंडिया**, 1, 171 (सचाऊ)

11. **वही**; लगभग 30 नामों की एक तीसरी सूची जिसमें अधिकांश नाम भ्रष्ट हैं **महावस्तु** 1, 135 (सेनार) में हैं।

12. बै. ओ. रे. 1, 59

13. **मिला०** वी. त्सा. कुं. मो. 9, 66 और बु, इं. स्ट. III, 2, 113 तथा आगे।

14. ए. इं. 2, 323 तथा आगे

से है। पाणिनी, **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** और अन्य ग्रंथों में इस नाम के एक या अनेक धर्मशास्त्रियों और वैयाकरणों का उल्लेख है। असम्भव नहीं कि **पुष्करसद** वंश के किसी व्यक्ति ने किसी नई लिपि का आविष्कार किया हो या किसी प्रचलित लिपि का ही संस्कार कर उसे नया रूप दिया हो। जैनों की सूची में **यवणालिया** या **यवणाणिया** का भी उल्लेख है। यह वही लिपि है जिसे पाणिनी (परंपरा-प्राप्त तिथि लगभग 300 ई० पू०) ने **यवनानी**[15] अर्थात् यवनों यानी यूनानियों की लिपि कहा है। ई० पू० 509 में स्काइलैक्स ने उत्तरी-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया था। उसी समय भारतीयों का यूनानी लिपि से परिचय हुआ होगा। ज़ेर्कसीज का जब यूनान से युद्ध हुआ था[16] तो उसमें भारतीय और गांधार सैनिकों ने भी भाग लिया था। यूनान से भारतीयों का व्यापारिक संपर्क भी पुराना है। अतः भारतीयों का यूनानी लिपि से परिचय संभव है। चाहे जो भी हो सिकंदर से पूर्व उत्तरी-पश्चिमी भारत में यूनानी वर्णमाला का प्रयोग होता था; क्योंकि यूनानी मान के ऐटिक द्राम की अनुकृति वाले इस काल के सिक्के इस प्रदेश में मिले हैं जिनपर यूनानी लिपि में अभिलेख हैं[17]।

इस प्रकार अभिलेख-शास्त्र और पाणिनी तथा स्वतंत्र उत्तरी बौद्ध परंपराओं की साक्षी से यह सिद्ध होता है कि जैनों की सूची में जिन लिपियों की गणना है उनमें कुछ तो निश्चय ही प्राचीन हैं और उनका पर्याप्त ऐतिहासिक मूल्य है। और इस बात की पर्याप्त संभावना है कि ई० पू० 300 में भारत में अनेक लिपियाँ ज्ञात या प्रचलित थीं। जैनों ने इनकी संख्या 18 दी है। इसे एक रूढ़ संख्या ही मानना उचित है, क्योंकि परंपराओं में प्रायः यही संख्या मिलती है।

दृष्टिवाद जैनों का एक लुप्त ग्रंथ है। इसके एक अवतरण में ब्राह्मी के संबन्ध में कुछ और सूचनाएं मिलती हैं।[18] इस ग्रंथ के अनुसार इसमें 46 मूल चिह्न थे, जबकि सामान्यतया इनकी संख्या 50 या 51 मानी जाती है। निःसंदेह इसका तात्पर्य निम्नलिखित अक्षरों से है :—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, (10) अं, अः; क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, (20) झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, (30) ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल (40), व, श, ष, स, ह और ळ ऋ, ॠ, ऌ, ॡ की मात्रिकाएं और संयुक्ताक्षर क्ष (बाद में इसे भी

---

15. **महाभाष्य** 2, 220 (कीलहार्न)
16. **हेरोडोटस**, VII, 65, 66
17. वी. वी. हेड, **कैटलाग आफ ग्रीक क्वायंस; एटिका**, फल XXXI पृ. 25-27
18. वे, इं. स्ट्रा. 16, 281

गलती से मात्रिका मान लिया गया था) इस वर्णमाला में शामिल न थे। **ललित-विस्तर**[19] की वर्णमाला में भी ये चारों द्रव स्वर नहीं हैं। आजकल भारत की प्रारंभिक पाठशालाओं में जो वर्णमाला सिखलाई जाती है उसमें भी ये स्वर संमिलित नहीं हैं। इसका आधार **बाराखड़ी** (सं० **द्वादशाक्षरी**) है। यह एक तालिका है जिसमें प्रत्येक व्यंजन को 12 स्वरों के संयोग से, अर्थात् क, का से कं, कः तक सिखलाते हैं। इस बाराखड़ी को **ओम् नमः सिद्धम्** के मंगलपाठ के कारण कभी-कभी **सिद्धाक्षरसमाम्नाय** या **सिद्धमात्रिका** भी कहते हैं। इसकी प्राचीनता का प्रमाण हुइ-लिन् (788 ई० से 810 ई०)[20] से भी मिलता है। उसने इस मंगलपाठ को 12 में पहली **फाङ्** या चक्र (युवाङ् च्वाङ् के 12 चाङ्[21]) कहा है। उस काल में हिन्दू लड़के इसीसे विद्यारंभ करते थे। युवाङ् च्वाङ् ने लिखा है[22] कि भारतीय वर्णमाला में 47 अक्षर हैं। संभवतः वह संयुक्ताक्षर 'क्ष' को भी वर्णमाला में संमिलित करता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि युवाङ् च्वाङ् ऋ, ॠ, ऌ, और ॡ को वर्णमाला में शामिल नहीं करता। अशोक के समय के एक प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है। गया में अशोक के संगतराशों ने[23] पत्थरों पर एक अपूर्ण वर्णमाला खोदी है जिसके टुकड़े मिलते हैं। इस वर्णमाला का पुनरुद्धार इस रूप में किया जा सकता है :—अ, *आ, *इ, *ई, *उ, *ऊ, *ए, *ऐ, *ओ, औ (10) *अं, या *अः, क, *ख, *ग, *घ *ङ, *च, छ, *ज *झ (20) *ञ, *ट। इस वर्णमाला में भी ये चारों स्वर नहीं है।

इन सबसे यही सिद्ध होता है कि जैसा जैन-परंपराओं में मिलता है, ब्राह्मी में ई० पू० तृतीय शताब्दी से ही 46 अक्षर थे और ऐ, औ, अं, अः के स्वरों और ङ् व्यंजन की स्थिति से यह सिद्ध होता है कि इसे संस्कृत की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया गया था; किंतु यह असंभव नहीं कि उस काल में भी ब्राह्मण व्याकरण और ध्वनिशास्त्र के ग्रंथों में द्रव-स्वर के लिए विशेष चिह्नों का प्रयोग करते थे। पर जिस विधि से इन स्वरों के ज्ञात चिह्न बने हैं वह उस विधि से भिन्न है जिससे अन्य स्वर चिह्न बने। ऋ के मात्रा-चिह्न ॠ और ळ का विकास पहले हुआ। आद्यों का बाद में। अ, आ……… इत्यादि में इससे ठीक उलटी प्रक्रिया अपनाई गई है। (देखिये आगे 4 और

---

19. **संस्कृत पाठ** (विब्ल, इं.) 145, ल्यूमन, 127

20. बु, इं. स्ट. III, 2, 30

21. **सियुकि** 1, 78 (बील); सेंट जुलियन, **मेम्वायर्स डेस प्युलेरिन्स बुद्धिकेस** 1, 72 और नोट

22. **सियुकि** 1, 77

23. बु, इं. स्ट. III 2, 31

24, अ, 6,7) । चीन में भी एक भारतीय परंपरा सुरक्षित है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि ऋ की मात्रा ऋ और ळ भारतीय वर्णमाला में बाद में जोड़े गए ।[24]

2. लेखन के प्रयोग के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रमाण

अ ब्राह्मणों का साहित्य[25]

वाशिष्ठ धर्मसूत्र एक वैदिक ग्रंथ है। कुमारिल (लग० 750 ई०) के मतानुसार अपने मूल रूप में यह एक ऋग्वेदिक संप्रदाय का ही अंग था। इसकी रचना **मनु-संहिता** से पहले और **मानव-धर्मसूत्र** के बाद में मानते हैं। **मनु-संहिता**[26] से सभी परिचित हैं किंतु **मानव-धर्मसूत्र** अब लुप्त हो चुका है। **वाशिष्ठ धर्मसूत्र** में इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि 'वैदिक' काल में लेखन-कला का काफी प्रचार था। वशिष्ठ (XVI, 10, 14-15) दस्तावेज को कानूनी प्रमाण मानता है। इसमें पहला सूत्र किसी प्राचीन ग्रंथ या परंपरा-प्राप्त कृति का उद्धरण है। वेदांगों में पाणिनी के व्याकरण की भी गणना है। पाणिनी द्वारा **यवनानी** के उल्लेख की चर्चा हो चुकी है। इसके अतिरिक्त पाणिनी में **लिपिकर** और **लिबिकर** (III, 2, 21) के समस्त-पदों का उल्लेख है। कभी-कभी कोशों के प्रमाण के विरुद्ध लोग इसका अर्थ 'अभिलेखों का कर्त्ता'[27] कर देते हैं किंतु इसका अर्थ लेखक है। इन निश्चित प्रमाणों के अतिरिक्त उत्तर वैदिक ग्रंथों में कतिपय पारिभाषिक शब्द, जैसे; **अक्षर**, **काण्ड**, **पटल**, **ग्रंथ** आदि आये हैं। विद्वानों ने लेखन-कला के प्रमाणस्वरूप इन्हें उद्धृत किया है। दूसरों ने इन्हें दूसरे ही रूप में समझाया है। ये उल्लेख लिखित अक्षरों और हस्त-लिखित ग्रंथों के हैं यह मानना आवश्यक नहीं है।[28] लिखित अक्षरों और हस्त-लिखित ग्रंथों के संबंध में अन्य सामान्य तर्क भी दिये गये हैं, जैसे; वैदिक

---

24. वही III 2, 33

25. वही III,2, 5 तथा आगे; मै. मु, हि. ऐ. सं. लि. 497 तथा आगे; ला, इं. आ. 2, 1, 1008 तथा आगे; ब, ए. सा. इ. पै. 1 तथा आगे; **बे. इं. स्ट्रा** 3, 348 तथा आगे

26. सै.बु.ई. 14, XVII तथा आगे 27. मै. . मु. ऋ. वे 4, 72

28. मै. मु, हि. ऐ. सं. लि. 521 तथा आगे; गोल्डस्टकर, **मानव कल्प सूत्र** भूमि०, 14 तथा आगे; **बे, इं.** स्ट्रा. 5, 16 तथा आगे; मै. मु, ऋ. वे. 4, 72 तथा आगे

सभ्यता काफी विकसित थी, विशेषतः व्यापार के क्षेत्र में उन्होंने काफी उन्नति की थी, वैदिक ग्रंथों में धन के पेचीदे लेन-देन का उल्लेख है, ब्राह्मण-ग्रंथ गद्य में हैं, वैदिक ग्रंथों के संग्रह, उनके पाठक्रम आदि सुव्यवस्थित हैं। इसी प्रकार वेदाङ्गों में व्याकरण, ध्वनिशास्त्र तथा कोशकला की दृष्टि से भी जो शोधें हुई हैं[29] उनके आधार पर विद्वान् लेखन-कला की प्राचीनता का प्रमाण देते हैं। इन तर्कों में कितना बल है इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इनमें कुछ तर्कों में, विशेषकर प्रथम और अंतिम में काफ़ी ज़ोर है। किन्तु अभी विद्वान् इनकी ग्राह्यता के बारे में एकमत नहीं है। असंभववाची तर्कों (argumentum ex-impossibili) के बारे में ऐसा होता ही है। संस्कृत के विद्वानों ने इस संबंध में जो खोजें की हैं उनसे और ब्योरेवार विशेष खोजें क्यों न हों, इन प्रमाणों के बारे में ऐकमत्य होना कठिन है।

जहाँ ऐसे तर्क सामान्यता शीघ्र मान्य न होंगे, वहीं मौनता का तर्क (argumentum ex-silentio) भी हमें छोड़ देना होगा, जैसे; यदि किसी वैदिक ग्रंथ में लेखन-कला का उल्लेख नहीं मिले, तो उस आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि उक्त ग्रंथ की रचना उस काल में हुई होगी जब भारतीयों को लिखने का ज्ञान न था। मौनता का तर्क निश्चय ही अकाट्य नहीं होता। यद्यपि हिंदू हजारों वर्षों से लगातार लेखन का प्रयोग करते आये हैं, किंतु आज भी वे लिखित से अधिक मौखिक का आदर करते हैं, क्योंकि उनकी सारी साहित्यिक और वैज्ञानिक चर्चाएं मौखिक ही होती रही हैं। विशेषकर वैज्ञानिक कृतियों में तो लेखन कला या हस्तलिखित ग्रथों का उल्लेख विरले ही होता है। यद्यपि हिन्दू हस्तलिखित ग्रंथों को **'सरस्वती-मुख'** कहते हैं और बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा भी करते हैं, किंतु आधुनिक हिन्दू भी वेद-शास्त्र का निवास आचार्य के श्री मुख में ही मानते हैं। आचार्य की वाणी का उनके लिए किसी भी लिखित पुस्तक से अधिक मूल्य है। उनके विचार से वेद और शास्त्र का सम्यक् अध्ययन गुरुमुख से ही संभव है, किसी पुस्तक की सहायता से नहीं। हमारे समय में भी हिन्दू **मुखस्था विद्या** का ही आदर करते हैं। यह विद्या पंडित की स्मृति में ही मुद्रित होती है। शास्त्रार्थों में यही विद्या काम आती है। आधुनिक भारतीय

---

29. ह्विटनी, **ओरि. ऐंड लिंग्वि. स्ट.** 82; ज. अ. ओ. सो. 6, 563; बेंन्फे, त्सा. डे. मी. गे. 11, 347; **ब्युटलिंग, पीट. आकादे०** 1859, 347; पिशेल और गेल्डनर, **वेडिशे स्टडीएन** I, XXIII, XXVI; जे.डी. ड्यूह्लमन, **डास महाभा.** 185; इन मतों के विरुद्ध मत देखिए मै. मू. ऋ. वे. 4, वही; **ईत्सिंग** X तथा आगे के अंश के तककुसु के अनुवाद में; वे., 5, वही

कवि की भी यह कामना नहीं होती कि लोग उसकी कविताएँ पढ़ें, वह तो यही चाहता है कि उसकी कविताएं **सतां कंठभूषण** बनें। जहां तक हमारी दृष्टि जाती है हम तो यही पाते हैं कि आदिकाल से ही भारत में यही अवस्था रही है। संभवतः इसका कारण यह है कि हिन्दू शास्त्रों और काव्य का प्रारंभ उस समय हुआ जब लोगों को लेखन-कला का ज्ञान न था। लेखन-कला के प्रारंभ से पूर्व मौखिक शिक्षण-पद्धति का विकास हो चुका था। ऋग्वेद से इसका पता चलता है। इन कारणों से हमें आचार्यों या पण्डितों की रचनाओं में लेखन-कला के बहुत-से चिह्नों की खोज की आशा नहीं करनी चाहिए। उनमें अक्षरों या दस्तावेजों के उल्लेख बारंबार नहीं मिलेंगे। किंतु पुनः-पुनः किये गये इस अनुमान को रोकने का कोई कारण नहीं हैं कि वैदिक काल में भी मौखिक शिक्षा में और अन्य अवसरों पर हस्तलिखित पुस्तकों से सहायता ली जाती थी। इस अनुमान की पुष्टि में प्रमाणस्वरूप यह अकाट्य तथ्य उपस्थित किया जा सकता है कि ब्राह्मी वर्णमाला की रचना ध्वनिशास्त्रियों या वैयाकरणों ने की थी और वैज्ञानिक कार्यों के लिए की थी।[30]

महाकाव्य, पुराण, काव्य, नाटक आदि वास्तविक जीवन का चित्रण करते हैं। श्लोक-बद्ध स्मृतियों में धर्म ही नहीं बल्कि सिविल और दांडिक विधि का भी पूरा-पूरा वर्णन हैं। इसी प्रकार नीति-नाट्य– तथा कामशास्त्र की रचनाओं में भी सांसारिक विषयों का ही कलन है। इन सभी ग्रंथों में लेखन और विभिन्न प्रकार के प्रलेखों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। खेद है कि रामायण-महाभारत को छोड़कर इनमें किसी भी अन्य ग्रंथ को उसके वर्तमान रूप में प्राचीनतम अभिलेखों से पुराना मानना संभव नहीं है। रामायण-महाभारत की साक्षी भी दोष-मुक्त नहीं है, क्योंकि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इनका प्रत्येक शब्द अत्यंत प्राचीन है। प्रो० जैकोबी ने रामायण के विभिन्न पाठ-भेदों की परीक्षा कर दिखलाया है कि रामायण आज जिस रूप में उपलब्ध है उसका अधिकांश मूल रामायण में न था।[31] हमारी जानकारी में महाभारत की जितनी पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं उनमें उतने पाठ-भेद नहीं हैं। किंतु इसके अधिकांश अध्यायों के अस्तित्व के संबंध में जो प्रमाण हैं वे 11वीं शती में ही मिलते हैं।[32] इसलिए इन महाकाव्यों की साक्षी में हमें पर्याप्त सावधानी बरतनी पड़ेगी। किंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनमें

---

30. देखि. आगे 5 31. जैकोबी, **डास रामा.** 8 तथा आगे
32. बु, इं. स्ट. II, पृ. 27 तथा आगे में किल्सें

लेखन-संबंधी जो उल्लेख हैं वे काफी प्राचीन हैं। दक्षिणी बौद्ध आगमों[33] की भाँति ये भी पुराने शब्दों, जैसे; **लिख, लेख, लेखक,** और **लेखन** का व्यवहार करते हैं, न कि **लिपि** का जो संभवतः विदेशी शब्द है ।

महाकाव्यों में लेखन के सम्बन्ध में आये अधिकांश महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में उपर्युक्त शब्दों के अंतर्गत तथा जे० डालमन द्वारा उनके डैस **महाभारत**, पृ. 185 तथा आगे में हो गया है। मनु में लेखन संबंधी उल्लेखों के लिए सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, खंड 25 की अनुक्रमणिका में Documents शब्द द्रष्टव्य है। बाद की स्मृतियों में आये कानूनी प्रलेखों के लिए इस **विश्वकोश** का भाग 2, खंड 8, **रेश एंड लिट्टे**, 35 देखिये। पुराणों में हस्तलिखित पुस्तकों के बारे में आये अवतरणों का संकलन हेमाद्रि के **दानखंड**, अध्याय 71 पृ० 544 तथा आगे (बिब्लि० इंडि०) में हैं। **कामसूत्र**, 1, 3 (पृ० 33, दुर्गाप्रसाद) में **पुस्तकवाचन** की गणना 64 कलाओं में की गई है।

आ बौद्ध-साहित्य[34]

ब्राह्मण–ग्रंथों से अधिक महत्त्वपूर्ण सिंहली त्रिपिटक की साक्षी है। इसमें अनेक स्थल ऐसे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि जिस काल में बौद्ध आगम की रचना हुई उस समय लोग लेखनकला से परिचित ही नहीं थे, बल्कि जनता में इसका पर्याप्त प्रचार भी था। **भिक्खुपाचित्त्य** 2, 2 और **भिक्खुनी पाचित्त्य** 49,2 में **लेखा** (लेखन) और **लेखक** का उल्लेख है। पहले में लेखन-ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि इसका सर्वत्र आदर होता है। जातकों में निजी[35] और शासकीय[36] पत्रों की चर्चा है। इनमें राज-घोषणाओं[37] का भी उल्लेख है। **महावग्ग** 1, 43 में एक ऐसा ही दृष्टांत मिलता है। जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि पारिवारिक मामलों या नीति और राजनीति के सूत्र सोने के पत्रों पर खोद दिये जाते थे।[38] दो बार **इणपण्ण**[39] (ऋण-बांड) और

---

33. देखि. नीचे **आ** के अंतर्गत।

34. बु, इं. स्ट. III, 2, 7-16; ; ओल्डेनबर्ग, **सै. बु. ई.** 13, XXXII तथा आगे; डी' आल्विस **इन्ट्रोडक्शन, टु काच्चायन्स ग्रामर,** XXVI तथा आगे CXV तथा आगे, 72-103; वेबर. **इंड. स्ट्रा.** 2, 337 तथा आगे

35. बु, इं. स्ट. III, 2, 7 तथा आगे
36. वही, 2, 8 तथा आगे, 120

37. वही 2, 10, 18
38. वही 2, 10 तथा आगे

39. वही 2, 10, 120

दो ही बार **पोत्थक**[40] (पुस्तक) का उल्लेख है। **विनयपिटक** और निकायों में[41] **अक्खरिका** नामक खेल की चर्चा कई बार आई है। बुद्धघोष के कथनानुसार इसमें आकाश में अक्षर पढ़ते ये। **विनयपिटक** (3, 4, 4) के पाराजिक खंड में बौद्ध भिक्षुओं को ऐसे नियम खोदने (**छिंदति**) की मनाही है जिनमें कहा जाता है कि अमुक प्रकार से आत्महत्या करके अगले जन्म में स्वर्ग या धन या यश की प्राप्ति की जा सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि (1) बुद्ध से पूर्व यती-मुनि अपने भक्तों को बाँस या लकड़ी की पट्टी पर ऐसे नियम खोदकर देते थे जिनमें यह बतलाया जाता था कि यदि भक्त अमुक विशेष विधि से धार्मिक आत्महत्या करे तो अगलें जन्म में उसे स्वर्ग या धन या यश की प्राप्ति होगी। प्राचीन ब्राह्मण या जैन इस प्रकार के कृत्य की जोरदार संस्तुति करते थे। और (2) लोगों में लिखने-पढ़ने का पर्याप्त प्रचार था।

जातक सं० 125 तथा **महावग्ग** 1,49[12] से पता चलता है कि उस काल में भी प्रारम्भिक पाठशालाएं थीं जिनमें पढ़ाई का ढंग और उसके विषय भी लगभग वही थे जो आधुनिक भारतीय शालाओं में प्रचलित हैं। जातक में **फलक** (लकड़ी की पट्टी) और **वर्णक** (चन्दन का कलम) का वर्णन है। **फलक** का उल्लेख **ललितविस्तर**[43] तथा बेरूनी[44] में भी है। भारतीय शालाओं के बच्चे आज भी इसका इस्तेमाल करते हैं। **महावग्ग** में शाला का पाठ्यक्रम भी है; **लेखा, गणना** और **रूप**। हाथीगुंफा के अभिलेख[45] के अनुसार कलिंग के राजा खारवेल ने भी अपने बचपन में ये तीन विषय सीखे थे। इस अभिलेख का समय मौर्य संवत् 165 है। **लेखा** का अर्थ है 'लिखना', और **गणना** का 'अंकगणित' अर्थात् जोड़, बाकी और पहाड़ा जिसे पहले **अंक** और आज **आँक** कहते हैं। **रूप** व्यवहार-गणित जैसा विषय होगा जिसमें रुपया, आना, पाई में हिसाब, ब्याज और मजदूरी और प्रारंभिक क्षेत्रमिति आदि का अभ्यास रहा होगा। देशी स्कूलों में, जिन्हें भारत में **गाम्टी, निशाल, पाठशाला, लेह्‌शड** या **टोल** कहते हैं, यही तीनों विषय पढ़ाये जाते हैं। अंग्रेजी में इन्हें "Three R's', अर्थात् Reading (पढ़ना), Writing (लिखना) और Arithmetic (अंकगणित) कहते हैं।

सिंहली आगमों में ई० पू० 500।400, कुछ के मत से संभवतः छठी शती ई० पू०[46] की विकसित स्थिति का वर्णन है। इनमें लेखन के संबंध में **छिंदति,**

---

40. बु.इं.स्ट. III, 2, 120 41. वही 2, 16 42. वही 2, 13 तथा आगे
43. **संस्कृत पाठ** 143 (मिला. बै. ओ. रे. 1, 59)
44. **इंडिया,** 1, 182 (सचाऊ) 45. छठां प्राच्य सम्मेलन, 3. 2. 154
46. बु, इं. स्ट. III, 2, 16 तथा आगे; ओल्डेनवर्ग, **विनयपिटक** I, XXXIV तथा आगे; मै. मूलर, सै. बु. ई. 10. XXIX तथा आगे

लिखति, **लेख**, **लेखक**, **अक्षर** जैसे पुराने शब्दों का प्रयोग हुआ है। लिखने की सामग्री काष्ठ, बाँस, **पण्ण** (पत्ते) और **सुवण्णपट्ट** (सोने के पत्र) का उल्लेख है। इससे इन उद्धरणों की प्राचीनता सिद्ध होती है, जब कड़ी सामग्री पर अक्षर खोदे जाते थे। यद्यपि निआर्कस तथा कर्टियस के वक्तव्यों में सिकंदर के आक्रमण के समय के भारत में लेखन-सामग्री के जो संदर्भ हैं उनसे यही संभावना प्रतीत होती है कि ई० पू० चौथी शती में रोशनाई का पता था और यद्यपि ई० पू० तीसरी या दूसरी शती के अंधेर के स्तूप सं० III से प्राप्त एक धातु-मंजूषा के ढक्कन के भीतरी भाग में एक मसि-अभिलेख भी है[47] तथापि रोशनाई के प्रयोग का कोई चिह्न शेष नहीं है।

सिंहली पोथियों में **लिपि**, **लिबि**, **दिपि**, **दिपति**, **दिपपति**, **लिपिकर** और **लिबिकर** शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। इसमें प्रथम 6 का प्रयोग अशोक के आदेश लेखों में हुआ है तथा अंतिम दो पाणिनी के व्याकरण में आये हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। **दिपि** और **लिपि** का मूल संभवतः प्राचीन ईरानी **दिपि** से है। ये शब्द ई० पू० 500 में पंजाब पर दारा के आक्रमण से पूर्व भारत में न पहुँचे होंगे। **दिपि** ही बाद में **लिपि** हो गया।[48]

इ विदेशी ग्रंथ

निआर्कस ने लिखा है कि हिंदू लोग कुंदी किये सूती कपड़ों पर पत्र लिखते हैं।[49] पेड़ों की छाल के भीतरी मुलायम हिस्से पर पत्र लिखने का उल्लेख क्यू० कर्टियस ने किया है।[50] ये उल्लेख ई० पू० चौथी शताब्दी के अंतिम चरण के हैं। कर्टियस के उल्लेख से स्पष्ट है कि लिखने के लिए उस समय भोज-पत्र (birch bark) का प्रयोग होता था। इन दोनों लेखकों की साक्षी से पता चलता है कि ई० पू० 327-325 में लिखने के लिए दो पृथक्-पृथक् **स्थानीय** सामग्रियाँ काम में आती थीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय यहाँ प्रायः लोगों को लिखने का ज्ञान था और उनके लिये यह कोई नई बात न थी। मेगस्थनीज का अंश 36 अ इनसे कुछ बाद का है।[51] इससे पता चलता है

---

47. कनिंघम, **भिलसा स्तूप पृ.** 349 **फल.** 30, 6

48. बु, **इं. स्ट.** III, 21 तथा आगे; वेस्टरगार्ड, **ज्वोई आभन्डल.** 33

49. **स्ट्राबो**, XV, 717

50. **हिस्ट्री अलेक्जा.** VIII, 9; मिला. सी. मूलर, **फैग. हिस्ट्री ग्रीक**, 2, 421

51. सी. मूलर, वही 430

कि उसके समय में भारत में दूरी का ज्ञान कराने और पड़ावों की सूचना देने के लिए सड़कों पर मीलों के पत्थर लगे हुए थे। उसके एक अन्य बहुचर्चित अंश[52] में कहा गया है कि भारत में वादों का निपटारा अलिखित कानूनों से होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वह आगे कहता है कि भारतीय grammata नहीं जानते। वे सभी फैसले *a' pomnemes* करते हैं। अब यह बात मानी जाती है कि मेगास्थनीज का यह कथन उसके भ्रम के कारण है। उसे किसी ने **स्मृति** की सूचना दी होगी जिसे उसने *mneme*=memory समझ लिया। इस प्रकार उसने भारतीय **स्मृतियों** का गलत अर्थ लगाया। भारत में स्मृतियाँ भी लिखित होती थीं। भारतीयों के मतानुसार इनका मर्म कोई धर्मवेत्ता ही अपने मुख से बतला सकता है।

3. पुरालिपिक प्रमाण[53]

साहित्य में ई० पू० पाँचवीं तथा संभवतः छठीं शताब्दी में भारत में लेखन कला की पर्याप्त व्याप्ति के प्रमाण मिलते हैं। अत्यन्त प्राचीन अभिलेखों की पुरालिपिक परीक्षा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस संबंध में सर्वप्रथम अशोक के आदेश-लेखों पर विचार करना होगा। इनके अक्षरों के परीक्षण से सिद्ध होता है कि भारत में ई० पू० तीसरी शताब्दी में लेखन-कला कोई नई ईजाद न थी। आदेश-लेखों की लिपि में एकरूपता नहीं है। उ, ञ, ङ, ञा, ठ और न को छोड़कर ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है जिसके अनेक रूप न मिलते हों। इस भिन्नरूपता का कारण कुछ-कुछ तो स्थानीयता है और कुछ घसीट-कर लिखने की प्रवृत्ति भी। एक ही अक्षर के कभी-कभी तो नौ-दस भेद तक मिलते हैं। फलक II, 1, 2 स्तं० II–XII में अ और आ के कम-से-कम दस रूप मिलेंगे। इनमें आठ प्रमुख एक साथ नीचे दिये जा रहे हैं :—

इसमें पहले और अंतिम रूप में शायद ही कोई मेल हो। किंतु पंक्ति में जो क्रम दिया गया हैं उससे इनका आपसी संबंध और विकास स्पष्ट होता

---

52. **फ्रैग.** 27; सी. मूलर वही, 421; 1 वानबेक, **मेगस्थनीज, पृ.** 50, **नोट.** 48; मै., मू. हि. एं. सं. लि. 515; ब., ए. सा. इं. पै. I; **ला., इं. आ.** II, 2, 724, बेबर, **इंडि. स्किजेन,** 131 तथा आगे।

53. **बु, इं. स्ट.** III, 2, 35-35

है। प्रथम सात रूपों के पीछे दो प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं। एक तो कोण बनाने की प्रवृत्ति और दूसरी भंग बनाने की। ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की विरोधी हैं। फलक II के अन्य अक्षरों; जैसे **घ, ड, द, ल** आदि में भी यही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ऊपर दिये गये चिह्नों में सं० 1, 2, 3 प्रथम प्रवृत्ति के दृष्टांत हैं और सं० 6 और 7 दूसरी प्रवृत्ति के। सं० 4 और 5 कोण से भंग के संक्रमण के उदाहरण हैं। आठवां छठें का घसीट सुगम रूप हैं। ये आठो चिह्न अशोक के आदेश-लेखों के सभी पाठों में नहीं मिलते। इनका वितरण निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है। कोणीय रूप सं० 1, 2, 3 दक्षिणी आदेश-लेखों में और, गिरनार, शिद्दापुर, धौली और जौगड़ में 4 से 7 के साथ मिलते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि 4 से 7 वाले रूप गिरनार और शिद्दापुर में विरले ही मिलते हैं, जबकि धौली और जौगड़ में इनका प्राचुर्य है। नर्मदा या विन्ध्य के उत्तर के पाठों में सं० 4 से 7 वाले रूप सबसे अधिक मिलते हैं, कालसी में सं० 8 वाला रूप भी खूब मिलता है। रामपुरवा में यह रूप कुछ ही बार मिला है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अ, आ के कोणीय रूप विशेषतः दाक्षिणात्य हैं और निस्संदेह सबसे पुराने भी है। पहले अनुमान की पुष्टि उन अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से होती है जिनका आपस में निकट का संबंध है। कोल्हापुर[54] और भट्टिप्रोलुकी मंजूषाओं (फल. II स्तं० XIII-XV) और नानाघाट (फल. II, स्तं. XXIII–XXIV) में प्राप्त आंध्रं के प्राचीनतम अभिलेखों में अ और आ के एकमात्र कोणीय रूप ही हैं या ये सं०4-5 के मिश्र रूपों के साथ मिलते हैं। किंतु इनसे और उत्तर सांची और भरहुत के स्तूपों या पभोस और मथुरा (फल. II स्तं. XVIII–XX) के अभिलेखों या अगाथाक्लीस के सिक्खों या नागार्जुनी गुफा (फल. II, स्तं० XVII) के अभिलेखों में **अ** और **आ** के जो रूप मिलते हैं वे या तो विशुद्ध भंग वाले हैं या मिश्र रूप। महाबोधि गया[55] में ही इसका एक अपवाद मिलता है जिसका खुलासा इस बात से हो जाता है कि दक्षिण के यात्रियों ने उस प्रसिद्ध विहार में दान-सूचक यह लेख खोदा होगा। **ख, ज, म, र,** और **स**[56] के संबंध में भी ऐसे ही उत्तरी और दक्षिणी अन्तर हैं। इनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि जिन परिस्थितियों में अशोक के आदेश-लेख खोदे गये हैं, उनमें स्थानीय रूपों का निर्बाध प्रयोग न हो सकता था।[57] किंतु स्थानीय रूपों

54. **ब,आ.स.रि.वे.इं,सं०** 10,39 **फल.।**
55. **कनि;एम.जी.फल.** 10, 2
56. देखि. आगे **16, इ.**
57. देखि. आगे **16, आ**

का होना इस बात की ओर इशारा करता है कि जिस लिपि में इसका प्रचलन है उसमें ऐसे रूप बहुत समय से प्रचलित रहे होंगे।

इतनी ही महत्त्वपूर्ण एक बात और भी है। वह यह कि जो प्रकार स्पष्ट ही या वास्तविक रूप में विकसित और घसीट वाले होते हैं वे अधिकांश में बाद के अभिलेखों में फिर प्रकट हो जाते हैं या स्थिर हो जाते हैं। नीचे की तालिका में पंक्ति अ में अशोक के आदेश-लेखों से वे चिह्न दिये गये हैं जो देखने में अत्यंत आधुनिक लगते हैं, पंक्ति ब में बाद के अभिलेखों से चुनकर वे ही अक्षर दिये गये हैं।

	अ	क	ख			ग	घ	छ	जा	द	ति
अ											
ब											
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11

	द	प	फ	भ	ल		व	वि	स	ह	
अ											
ब											
	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22

इनमें चार चिह्न, सं० 2, 7, 10 और 21—जैसाकि बाद में दिखाया जायेगा[58]—वास्तविक रूप में पुरागत हैं किंतु शेष चिह्नों में कुछ तो द्वितीयक और कुछ तृतीयक घसीट वाले रूप हैं। आखिरी श्रेणी वाले रूपों में सं० 4, 8, 11, 15 और 19 विशेष रूप में दृष्टव्य हैं। पक्ति ब के अक्षरों में 9, 11, 12 और 19 के रूप अशोक के पोते दशरथ के नागार्जुनी गुफा-अभिलेखों में मिलते हैं, सं० 2, 6–8, 10, 13–16 और 21 खारवेल के हाथी-गुंफा अभिलेख और प्राचीनतम आंध्र अभिलेखों में, नासिक सं० 1 और नानाघाट के अभिलेखों, तथा मथुरा के पुराने अभिलेखों में मिलते हैं। ये सभी लेख ई० पू० 170 से 150 के बीच के हैं। सं० 1, 3, तथा 22 और बाद के हैं। ये पहली बार मथुरा के कुशाणों के अभिलेखों और आंध्रों और आभीर के नासिक के अभिलेखों में मिलते हैं जिनका समय ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी है।

---

58. देखि. आगे 4 अ

अशोक के आदेश-लेखों में यदा-कदा नन्ही-सी शिरोरेखा के भी दर्शन होते हैं जो बाद की लिपि की विषेशता है। इससे बहुत-से रूपभेद होते हैं।[59] **आ** और **ए** की मात्राओं की ऊर्ध्वगामी लकीर तथा **इ** की मात्रा की घसीट गोली लकीर प्रायः मिलती है। गिरनार में तो कभी-कभी **आ** और इ के मात्रा-चिह्नों में कोई फर्क ही नहीं मालूम देता। उत्तर-कालीन **ओं** की मात्रा की सीधी लकीर कम मिलती है। **ओ** मात्रा का फंदानुमा रूप भी एक बार प्रयोग में आया है।[60] अंत में, अनुस्वार कभी कभी उस अक्षर के ऊपर रहता है, जिसके बाद उसका उच्चारण होता है।[61] बाद में ऐसा ही होता रहा है।

अनेक स्थानीय रूपों का पाया जाना, और इतने घसीट रूपों का होना यह सिद्ध करता है कि अशोक के समय में लेखनकला का इतिहास काफी लम्बा रहा होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय लिपि संक्रमण की स्थिति में थी। पुरागत रूपों के साथ-साथ घसीट रूपों के इस्तेमाल का खुलासा संभवतः इस अनुमान से हो जाता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में अनेक शैलियों का प्रयोग होता था, इनमें कुछ तो अंशतः अधिक पुरानी थीं, और कुछ अंशतः अधिक विकसित। लेखक अपनी मर्जी से या हुक्म पाकर जब पत्थरों वाले रूप लिखते थे तो असावधानी से उसमें घसीट अक्षर भी लिख जाते थे क्योंकि, ऐसे अक्षरों का उन्हें काफी अभ्यास होता था। बाद के अभिलेखों में भी ऐसी घटनाएं मिलती हैं। इस मत की पुष्टि में उपर्युक्त **दृष्टिवाद** की उस परंपरा का जिक्र किया जा सकता है जिसमें ई० पू० 300 में अनेक लिपियों के प्रयोग की चर्चा है। यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि धौली में अशोक के छठें आदेश-लेख में **सेतो**=श्वेत (हाथी) शब्द भी उसी समय खोदा गया था जब कि तत्पूर्व लेख तो यह अनुमान प्रमाण में बदल जायेगा। यह शब्द उस मूर्ति को स्पष्ट करने के लिए जोड़ा गया है जिसके नीचे यह लिखा हैं। **सेतो** के दोनों अक्षरों का वही रूप है जो कुशाण और गुप्त अभिलेखों में मिलता है।[62] यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि बाद में किसी को उभरी मूर्त्ति के स्पष्टीकरण का ध्यान आया होगा और उसने लेख की पंक्ति का भी ध्यान रखा होगा। किन्तु इस बात की सम्भावना से भी बिलकुल इनकार नहीं किया जा सकता कि वास्तविकता यही है कि ये शब्द बाद में जोड़े गये हैं।

---

59. देखि. आगे **16 इ**

60. देखि. आगे **16 इ**

61. देखि. आगे **16 ई.**

62. ब., आ. स. रि. स. इं. 1, 115

एरण के सिक्के पर जो लेख है वह बायें से दायें चलता है।[63] इससे ब्राह्मी का पूर्व इतिहास समझने में मदद मिलती है। इसका **स** अक्षर पुराने रूप वाला है। इसमें बगल की लकीर सीधी है। किन्तु **म** का रूप बाद का है। इसका सिरा अर्द्धवृत्ताकार है। **ध** बायीं ओर मुड़ा है। यह सिक्का संभवतः उस समय का है जब ब्राह्मी दायें से दायें और बायें से दायें दोनों तरह लिखी जाती थी। सिक्कों के लेख प्रायः पुरागत रूपों में लिखे जाते हैं, जो प्रचलित नहीं भी होते। इसका ध्यान रखते हुए कनिंघम (क्वायस आफ एंशियन्ट इंडिया, 101) के इस विचार से सहमत होना ही पड़ता है कि यह सिक्का मौर्य-काल से पहले का है। इसकी तिथि यदि 400 ई० पू० नहीं तो ई० पू० चौथी शताब्दी के मध्य अवश्य है। मौर्यों से पहले ब्राह्मी संभवतः हलावर्त शैली में लिखी जाती थी, धीरे-धीरे इसका प्रचलन बंद हो रहा था। क्योंकि अशोक के आदेश-लेखों में थोड़े ही चिह्न दायें से बायें लिखने के हैं। जौगढ़ और धौली के **ओ** और जौगढ़ और दिल्ली--शिवाशिक के दुर्लभ **घ** (फल० II, 8, VI, और 26, V, VI)[64] उलटे लिखे हैं। इस सिक्के के सिलसिले में पटना की मुहरों का (कनि० **आ० स० रि०** 15, फल० 3,1,2) का उल्लेख भी जरूरी है। ये मुहरें संभवतः मौर्यों से पहले की हैं। पहली मुहर पर **नदय (नंदाय)** "नंदा की (मुहर)" लेख खुदा है। इसमें **द** दायें को खुलता है। दूसरी मुहर के लेख **अगपलश (अंगपालश्श)** में **अ** अपने मूल रूप में है। (फलक II, 1, I) भट्टिप्रोलु की धातु-मंजूषाओं की द्राविड़ी से ब्राह्मी के इतिहास के बारे में महत्वपूर्ण नतीजे निकलते हैं।[65] इनका उल्लेख पहले हो चुका है। इस वर्णमाला में अशोक के लेखों के दक्षिणी भेद के अनुरूप बहुत से अक्षर तो मिलते ही हैं, साथ ही इसमें (1) **ध, द** और **भ** के तीन रूप ऐसे हैं जो दायें से बायें को लिखे गये हैं; (2) **च, ज** और **ष** के रूप अशोक के आदेश-लेखों और एरण के सिक्के से पुराने हैं; (3) **ल** और **ळ** के दो चिह्न हैं जो अपने मूल सेमेटिक से निकले हैं। (4) **घ** के लिए एक नया चिह्न है जो **ग** से निकला है, ब्राह्मी के मात्रिका **घ** का त्याग मिलता है। अगले पैराग्राफ में

63. क, क्वा. ऐ. इं. फल० 11, 18 और इस पुस्तक का फल. II, स्त. I

64. जैसा श्री ए. वी. स्मिथ ने मुझे बतलाया है कि यदि क, क्वा, मि. ई,. 27 के अनुसार मिहिरकुल के कतिपय सिक्कों पर दायें से बायें को अभिलेख है तो यह विशिष्टता सासानी प्रभाव के कारण होनी चाहिऐ।

65. फल० II, स्त० XIII-XV

(2) और (3) का कारण बतलाया जायेगा। यदि ये पूर्व पक्ष सही हैं तो निश्चय ही इसका मतलब यह हुआ कि भट्टिप्रोलु के लेख की तिथि चाहे जो हो, सत्य यह है कि द्राविड़ लिपि अपने मूल वंश से एरण के सिक्के के बहुत पहले, अधिक से अधिक समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में, अलग हो चुकी थी।

यह अनुमान हमें उस काल में वापस ले जाता है, जब सिंहली-आगम के अनुसार भारत में लेखन-कला सामान्य प्रयोग में थी, यद्यपि सिंहली-आगम उस लिपि का नाम नहीं बतलाता। इससे यह अनुमान स्वाभाविक हो जाता है कि प्राचीनतम बौद्ध लेखक जिस लिपि से परिचित थे वह ब्राह्मी का ही एक रूप थी। इस मत की पुष्टि के लिए कुछ और भी तथ्य हैं। प्रथमतः हाल की खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्राह्मी उत्तरी-पश्चिमी भारत में भी अत्यंत प्राचीन काल से प्रयोग में थी और यही सही माने में सभी हिन्दुओं की राष्ट्रीय लिपि थी।[66] प्राचीन तक्षशिला के खंडहर पंजाब के शाहडेरी में (अब पाकिस्तान में) हैं। यहाँ प्राचीन भारतीय मानक के सिक्के मिले हैं। कुछ सिक्कों पर खरोष्ठी में लेख हैं, पर अधिकांश सिक्कों पर प्राचीनतम प्रकार की ब्राह्मी में लेख है। कुछ पर ब्राह्मी के साथ खरोष्ठी में भी लेख हैं।[67] इन सिक्कों का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। कनिंघम के मत से तो ये सिक्के और भी प्राचीन अर्थात् ई० पू० चौथी शताब्दी के हैं। इनमें कुछ सिक्के तो **दोजक** या **दूजक**, **तालिमत** और **अतकतका** (?) के **नेगमा** (निगमों) द्वारा जारी किये गये हैं। एक पर **वटस्वक** लेख खुदा है। यह सिक्का सम्भवतः अश्वकों (अस्सिकिनोई) की किसी शाखा ने जारी किया था। इनका नाम वट वृक्ष पर पड़ा था, जो धार्मिक दृष्टि से बड़ा पवित्र माना जाता है। इन सिक्कों से यह बात निश्चित हो जाती है कि पंजाब में कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी में खरोष्ठी के साथ-साथ ब्राह्मी लोक-कार्यों में प्रयुक्त होती थी। रैप्सन ने ईरानी **सिग्लोई** के मान के सिक्कों की खोज की है जिनपर खरोष्ठी और ब्राह्मी दोनों अक्षरों में लेख हैं। इनसे इन दोनों लिपियों के और पहले प्रयोग होने के प्रमाण मिल जाते हैं।[68] संभवतः **सिग्लोई** मान के सिक्के उत्तरी पश्चिमी भारत में अखमनी शासन में या ई० पू० 331 से पूर्व प्रचलित थे।

दूसरे, खरोष्ठी की उत्पत्ति के संबंध में डा० टेलर का मत संभाव्य से संभाव्यंतर दीखने लगा हैं। अब यह बात माननी पड़ेगी कि यह लिपि दारा द्वारा

---

66. क०, क्वा. ऐ. इं. पृ. 38 तथा आगे 67. **वही** फल० 2, 3
68. वी. त्सा. कु. मो. 9, 65; ब्रु. इं. स्ट. III, 2, 113.

पंजाब की विजय के उपरांत अरमैक अक्षरों के परवर्त्ती रूप में विकसित हुई। पंजाब पर दारा की विजय ई० पू० लगभग 500 में हुई थी।[69] अब ए. वेवर, ई० थामस, और ए० कनिंघम के इस अनुमान पर विश्वास न करना कठिन हो रहा है कि खरोष्ठी के निर्माण में भी वही सिद्धांत अपनाये गये हैं जो ब्राह्मी के विकास में अपनाये गये थे।[70] ब्राह्मी उस काल तक काफी विकसित हो चुकी थी। हमारी आज की जानकारी के अनुसार ब्राह्मी के अतिरिक्त खरोष्ठी ही एकमात्र दूसरी लिपि थी जिसका उल्लेख बौद्ध कर सकते थे। किन्तु गांधार में भी यह एक गौण लिपि थी, और इसका विकास ई० पू० पांचवीं शताब्दी में हुआ। इसलिए ऊपर प्रकट की गई संभावना असंभव मालूम पड़ती है। सिंहली-आगमों के कर्त्ता ब्राह्मी से ही परिचित रहे होंगे।

4—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति[71]

ब्राह्मी की उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिए कई प्रस्थापनाएं की गयी हैं।[72] ये आपस में काफी भिन्न हैं। इनमें पाँच ऐसी भी हैं जिनमें पूरे निदर्शन भी दिये गये हैं। (1) ए. कनिंघम के मत से ब्राह्मी यहीं के भारतीय बीजाक्षरों से निकली है।[73] (2) ए. वेबर के मतानुसार ब्राह्मी लिपि प्राचीन फोनेशियन अक्षरों से निकली हैं।[74] (3) डबल्यू डीके इसे असीरियन कीलाक्षरों से विकसित दक्षिणी सेमेटिक लिपि से निकली मानते हैं। दक्षिणी सेमेटिक लिपि से ही सैबियन या हिम्याराइटिक लिपि भी उत्पन्न हुई।[75] (4) आई० टेलर इसे एक दक्षिणी अरबी लिपि से निकली बतलाते हैं जो अब लुप्त हो चुकी है। उनके मत से सैबियन लिपि इसीका परवर्त्ती रूप थी।[76] (5) जे० हेलेवी इसे ई० पू० चौथी शताब्दी के अन्त के अरामैक, खरोष्ठी और यूनानी लिपि के एक मिश्र रूप से उत्पन्न मानते हैं।[77]

---

69. दे० आगे 8

70. आगे दे० 9, आ 4

71. बु., इं. स्ट. III, 2, 53-82

72. आर. एन. **कस्ट, लिंग्वि. एंड ओरि. एसेज,** द्वितीय माला 27-52

73. कु. इं. अ. I, 52 तथा आगे

74. त्सा डे. मी. गे. 10, 389 तथा आगे; **इंडि. स्कि जेन,** 125 तथा आगे

75. वही, 31, 598 तथा आगे

76. **दि अल्फाबेट,** 2, 314 तथा आगे; कतिपय परिवर्तनो के साथ यही बात एफ. मूलर ने **मीलांजिस हार्लेज** में पृ. 212 तथा आगे कही है

77. ज. ए. 1885, 268 तथा आगे; **रिव्यूसेम** 1895, 223 तथा आगे

कनिंघम के मत से पहले कुछ अन्य विद्वान् भी सहमत थे । पर उनकी राय में दोष यह है कि वे एक ऐसे भारतीय बीजाक्षरी चित्रों के प्रयोग की पूर्व कल्पना कर लेते हैं जिनका अब तक कोई नामोनिशान नहीं मिला है । दूसरी ओर एरण के सिक्के का लेख किसी दूसरे मत के सही होने का इशारा करते है, जिसे अब लगभग सभी मान चुके हैं कि ब्राह्मी अक्षरों के आदि-रूप सेमेटिक अक्षर ही थे । एरण के सिक्के का लेख दायें से बायें चलता है और इसके अक्षरों का मुंह विपरीत दिशा में मुड़ा है । अशोक के आदेश-लेखों में भी यदा-कदा ऐसा हुआ है । भट्टिप्रोलु के अभिलेखों में ऐसा अपेक्षाकृत अधिक बार हुआ है ।

अन्य चार प्रस्थापनाओं में हेलेवी का सिद्धान्त असंभाव्य होने के कारण तत्काल त्याज्य है, क्योंकि इतः पूर्व हमने जिन साहित्यिक और पुरालिपिक प्रमाणों की चर्चा की है उनसे इसका मेल नहीं बैठता । ऊपर की चर्चा के अनुसार मौर्यकाल के प्रारम्भ से कई शताब्दी पहले से ही ब्राह्मी व्यवहार में आती थी । जिस काल के प्राचीनतम भारतीय अभिलेख प्राप्त हैं, उस समय भी ब्राह्मी लिपि का इतिहास काफी पुराना था । वेबर ब्राह्मी की उत्पत्ति प्राचीनतम उत्तरी-सेमेटिक लिपि से मानता है और डीके और टेलर एक प्राचीन दक्षिणी सेमेटिक लिपि से । इन दोनों मतों में चयन करना और भी कठिन है । इन दोनों में हम किसी भी मत को प्रागानुभव के तर्क से असंभव नहीं कह सकते । क्योंकि, आधुनिक काल में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे इस विश्वास की संभावना बढ़ गई है कि सैबियन लिपि भी काफी पुरानी है । इन अनुसंधानों से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यह लिपि भारत में जो पुराने-से-पुराने अभिलेख मिले हैं उनसे पुरानी ही नहीं है, बल्कि यह उस काल में भी वर्त्तमान थी जिस काल के लिए भारत में लेखन-कला के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता ।[78] इन परिणामों के फलस्वरूप डीके और टेलर से भिन्न प्रश्न को जरा दूसरे ढंग से रखना पड़ेगा । अब प्रश्न यह नहीं है कि ब्राह्मी के बीज सैबियन की किसी अज्ञात पूर्ववर्त्ती लिपि में ढूंढे जा सकते हैं या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि सैबियन लिपि का जो रूप आज ज्ञात है, ब्राह्मी सीधे उससे निकली है या नहीं ?

किसी भी लिपि की उत्पत्ति खोजने में तीन मौलिक सूत्रों का ध्यान रखना

78. मार्ड्त्मान और डी. एच. मूलर, *Sab, Denkmaeler* (in DWA. *Phil. Hist. Cl.* 31) में पृ. 108 तथा आगे

आवश्यक है, अन्यथा हम संतोषजनक परिणाम पर नहीं पहुंच सकते। ये सूत्र हैं :—

1. जिन अक्षरों की उत्पत्ति ढूंढ़नी हैं उनके प्राचीनतम और पूर्णतम रूपों का प्रयोग करना चाहिए और जिन मूल अक्षरों से उनकी उत्पत्ति बतलाई जाती है, वे भी उसी काल के प्रचलित रूपों में से होने चाहिए।

2. तुलना में केवल वे ही विषम समीकरण (irregular equations) शामिल हो सकते हैं जिन्हें ऐसे दूसरे उदाहरणों के सादृश्य से सिद्ध किया जा सके जहां किसी राष्ट्र ने दूसरों से लिपि उधार ली हो।

3. जहां संजात रूप कल्पित मूलरूप से काफी भिन्न दीखते हैं वहां यह दिखाना जरूरी है कि इसके निश्चित सिद्धांत हैं, जिनके आधार पर ये परिवर्त्तन हुए हैं।

ब्राह्मी की उत्पत्ति सेमेटिक चिह्नों से दिखलाने में यदि इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखें, तो न तो सैबियन लिपि न इसका किंचित् पुराना भेद, लिह्यानियन या थैम्यूडियन[79] ही हमारे किसी काम आयेगा, यद्यपि इनकी अक्षर-प्रणाली में सामान्य समता है और दो या तीन अक्षरों में विशेष रूपसाम्य भी है। डीके और टेलर ने जिस व्युत्पत्ति का प्रतिपादन किया है, उसमें से यदि हम उनके सभी असंभव समीकरणों को निकाल दें और तुलना के लिए प्राचीनतम भारतीय अक्षरों को ही चुनें, तो भी उनके सिद्धांत में व्युत्पत्ति के लिए आवश्यक शर्त्तों का पालन नहीं है। फिर हमें यह मानना पड़ेगा कि अनेक सैबियन अक्षर, जैसे **अलेफ, गिमेल, जैन, तेथ, फे, कॉफ, रेश,** जिनके उत्तरी सेमिटक रूपों में काफी अन्तर हो चुका था, जब **अ, ग, ज, थ, प, ख** और **र** के रूप में हिन्दुओं द्वारा अपनाये गये तो उनको उनके मूल रूपों के समान बना दिया गया। दूसरे अक्षरों के सम्बन्ध में सैबियन और भारतीय चिह्नों के बीच कोई सम्बन्ध दिखलाना असंभव है। यदि हम सीधे उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति दिखला दें तो ये कठिनाइयां सामने न आयेंगी। फोनेशिया से मेसोपोटामिया तक उतरी सेमेटिक का एक ही रूप दीखता है। वेबर के अनेक समीकरण स्वीकार्य न थे, किन्तु अभी हाल ही में सेमेटिक अक्षरों के कुछ ऐसे रूप भी सामने आये हैं जिनसे ये समीकरण स्वीकार्य हो जाते हैं। और, अब उन सिद्धान्तों को पहचानना

---

79. डी. एच. मूलर, **डेंकमालेर औस अराबियन,** (DWA. *Phil Hist,* Cl. 37 में; पृ. 15 तथा आगे

कठिन नहीं है जिनसे सेमेटिक चिह्नों को भारतीय चिह्नों में बदला गया था।

फलक II की प्राचीन भारतीय वर्णमाला की परीक्षा से उसकी ये विशेषताएं प्रकट होती हैं :—

1. जितना भी संभव था अक्षर खड़े लिखे गये हैं। **ट, ठ** और **ब** को छोड़कर अन्य अक्षरों की ऊंचाई भी समान है।

2. अधिकांश अक्षर खड़ी रेखाओं से बने हैं जिनमें ज्यादातर पैरों में जोड़ लगे हैं। ये जोड़ कभी-कभी पैर और सिर दोनों में, पर विरले ही कमर में लगते हैं। लेकिन ये जोड़ केवल सिरे पर नहीं लगते।

3. अक्षरों के सिरों पर ज्यादातर खड़ी रेखाओं के अंत, उससे कम नन्हीं पड़ी लकीरें, उससे भी कम नीचे की ओर खुलने वाले कोणों के सिरों पर भंग होता है। और, नितांत अपवादस्वरूप **म** में और **ज्ञ** के एक रूप में दो रेखाएं ऊपर की ओर उठती हैं। सिरों पर कई कोण, अगल-बगल में जिसमें खड़ी या तिरछी रेखा नीचे की ओर लटकती हो, नहीं मिलते। इसी प्रकार सिरों पर त्रिभुज या वृत्त भी जिसमें लटकन रेखा लगी हो, नहीं मिलते।

इन विशेषताओं के जो कारण हैं उनमें एक भारतीयों की पंडिताऊ नियम-निष्ठता है। यह प्रवृत्ति उनकी अन्य कृतियों में भी मिलती है। फिर वे ऐसे चिह्न बनाना चाहते थे जो नियमित रेखाओं के निर्माण के अनुकूल हों। वे भारी सिरों वाले अक्षरों को नापसन्द करते थे। इस आखिरी विशेषता का कुछ कारण यह भी है कि आदिकाल से भारतीयों ने अपने अक्षर ऐसे बनाये हैं जो किसी काल्पनिक या वास्तविक सिरो रेखा से लटकते हैं[80] और कुछ इस कारण भी क्योंकि उन्होंने स्वरचिह्नों का प्रयोग शुरू किया, जो अधिकतर व्यंजनों के सिरों पर पड़े रूप में जुड़ते हैं। ऐसे चिह्न जिनमें खड़ी रेखाओं के अन्त ऊपर को हों इस लिपि के सबसे अनुकूल पड़ते थे। हिन्दुओं की इन पसन्दों और नापसन्दों के कारण अनेक सेमेटिक अक्षरों के भारी सिरों को छोड़ देना पड़ा है। इसके लिए चिह्नों को सिर के बल उलट दिया गया है, या इन्हें बगल में डाल दिया गया है; कोण खोल दिये गये हैं या ऐसा ही कुछ कर दिया गया है। लिखने की दिशा में परिवर्त्तन करने से एक दूसरा परिवर्तन भी जरूरी हो गया, अब ग्रीक की तरह इसमें भी चिह्न दायें से बायें घुमा देने पड़े हैं।

80, मिला, बेरूनी की **इंडिया**, 1, 172 (सचाऊ)

नीचे एक तालिका दी है, जिसे वियना के श्री एस. पेप्पर ने बनाया है। इसमें दोनों लिपियों को आमने-सामने रखकर उत्पत्ति का व्योरा दिया है। सं. 1,

	I	II	III	IV	V	VI
1	[illegible]	[illegible]			[illegible]	[illegible]
2	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
3	[illegible]	[illegible]			[illegible]	[illegible]
4	[illegible]	[illegible]			[illegible]	[illegible]
5	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	
6		[illegible]			[illegible]	[illegible]
7	[illegible]	[illegible]			[illegible]	[illegible]
8	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	
9	[illegible]		[illegible]		[illegible]	[illegible]
10	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	
11	[illegible]	[illegible]			[illegible]	
12	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
13	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
14	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
15	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
16	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
17	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
18	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]
19	[illegible]	[illegible]			[illegible]	
20	[illegible]	[illegible]			[illegible]	
21	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	
22	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	

3-7, 9, 12, 16, 17, 19-22 स्पष्ट रूप में एक ही हैं। इनके अलावा अन्य अक्षरों के बारे में कमोबेशी मात्रा में संभावना का दावा किया जा सकता है। स्त. I, II में प्राचीनतम फोनेशियन अक्षर और मेसा वाले पत्थर के अक्षर दिखलाये गये हैं। ये वर्जर के *Histoire de l' Ecriture dans L Antiquite* पृ. 185

202 से लिये गये हैं। स्त. III यूटिंग के *Tabula Scripturae Aramaicae* 1892 से है । स्त० IV-VI, तारांकित चिह्नों को छोड़कर जो काल्पनिक हैं, वर्त्तमान पुस्तक के फलक II से लिये गये हैं । प्रत्येक अक्षर के संबंध में निम्नलिखित टिप्पणी दी जा रही है जो मेरे **इडियन स्टडीज**, III, 2 पृ. 58 तथा आगे का संक्षिप्त सार है।

(अ) ग्रहीत चिह्न

सं. 1, अ, स्त० V,=**अलेफ**, स्त० I, II, (वेबर संदिग्ध रूप में) दायें से बायें को घुमाया गया है; अपवाद, पटना की मुहर (देखि० ऊपर **3**, और फलक II, 1, I)। खड़ी रेखा कोण के अंत में स्थानान्तरित है।

सं. 2, ब, स्त० V, *a*, *b*, *c*,=**बेथ**, स्त० I, II (वेबर) । त्रिभुज-शीर्षकार सिर खोलने से पहले वैसा चिह्न बना जैसा स्त० IV में है, फिर सम-चतुर्भुज, स्त० V, *a*, और अंत में वर्ग और दीर्घायित स्त० V, *b*, *c*, बने।

सं. 3, **ग**, स्त० V,=**गिमेल**, स्त० I, II

सं. 4, **ध**, स्त० V, *a*, *b*=**दलेथ**, स्त० I II (वेबर)। अक्षर को सीधा कर दिया और पीठ गोली कर दी (मिला० अर्द्धकोणीय रूप, फल० II, 26, IX, XIX, XXIII, और त्रिभुज-रूप, फल III, 24, VII-XIII), दायें घुमायें या न घुमायें।

सं. 5, ह, स्त० V,= हे (वेबर संदिग्ध रूप में), शिद्दापुर का रूप, स्त० V, *a* संभवतः स्त० III, *a* (सलमानस्सार के मीना से, ई०पू० 725 के पूर्व) **हे** से निकला है। इसे ही सिर के बल उलटे रख दिया गया है और दिशा दायें से बायें कर दी है। ई० पू० छठी शताब्दी का हे (स्त० III *b*) इससे अधिक मिलता-जुलता है, पर यह उसका आदि रूप नहीं हो सकता क्योंकि यह उस काल का है जब ब्राह्मी विकसित हो चुकी थी। फिर, उस काल तक सेमेटिक **अलेफ, दलेथ, चेथ, थेथ, वाव,** और **कॉफ** घसीटकर लिखे जाने लगे थे और उनका रूप इतना बदल गया था कि उनसे भारतीय रूप नही निकल सकते हैं।

सं. 6, **ब**, स्त० V, *a*, *b*,= **वाव**, स्त० II (वेबर संदिग्ध रूप में)। अक्षर सिर के बल उलट कर रख दिया गया है, और नीचे का सिरा बंद कर दिया गया है।

सं. 7, ज, स्त० V,=**जैन**, स्त० I, II (वेबर)। दोनों डंडों के स्थाना-न्तरण से स्त० V, *a* का द्राविड़ी अक्षर बना, इसी से स्त० V, *b* का **ज** बना

जिसमें एक फंदा है। स्याही से लिखने में फंदे के बदले एक बिंदी बन गयी है जैसा कि स्त० V, c में है। गिरनार का सामान्य रूप स्त० V, d है। यह भी द्राविड़ रूप से ही निकला है। इसे दो बार में लिखा गया है।

सं. 8, **घ**, स्त० V, *a*, *b*,=**चेथ,** स्त० I,II, (टेलर),। सेमेटिक चिह्न को (यह प्रायः ढलुआं हो जाता था) बगल में डाल दिया गया है (स्तं. IV) ऊपर के पड़े बलवाले डंडे को खड़ी रेखा में बदल दिया गया हैं।

सं. 9, थ, स्त० V, **थेथ**, स्त० I (वेबर), बीच के क्रास के स्थान पर केन्द्र में एक बिंदी रह गई है, जैसा असीरियन अक्षर (स्त० III) में भी हुआ है।

सं. 10, **य**, स्त० V,=**योद** (वेबर), स्त० I, ,II के **योद** को बगल में रख दिया गया है, स्त० IV में बीच की रेखा लंबी कर दी गई है। दायें की लटकन और ऊपर मुड़ गई है। इस प्रकार स्त० V का *a* वाला रूप बना, फिर उससे स्त० V, के *b*, *c* वाले घसीट रूप बने।

सं. 11, **क**, स्त० V, *a*, *b*,=**काफ**, स्त० II जैसे रूप के बगल के डंडे को खड़ी रेखा के सिरे के रूप में बदल कर फिर चिह्न को सीधा कर दिया गया है।

सं. 12, **ल**, स्त० V,=**लमेद**, स्त० I, II, (वेबर)। कुछ भिन्न द्राविड़ी ळ (स्त० VI) (दे० नीचे आ, 4, ग) और एरण (स्त० IV) में अपनी मूलस्थिति में सुरक्षित है। एरण में भंग के सिरे पर शोशा है। अशोक के आदेश-लेखों में, (स्त० V *a*) अक्षर की दिशा सदा की तरह दायें से बायं हो गई है, द्राविड़ी ल; (स्त० V *b*) में दायीं ओर एक पूंछ लटक रही है, जिसमें कोई शोशा नहीं है।

सं. 13, **म**, स्त० V,=**मेम** (वेबर)। यह स्त० II जैसे रूप से निकला है। झुकी लटकन फंदे के रूप में बदल गई है जैसा कि स्त० IV के कल्पित रूप में दिखाया गया है (ऐसा ही विकास यूटिंग, टै.स्क्रि.अ. स्त० 58, *a* में है) और फंदे पर कोण का अध्यारोप हो गया है (स्त० V *a*); ऐसा ही विकास यूटिंग, टै. स्क्रि. अ. स्त० 59, *c* में है) जिससे स्त० V *b* का घसीट रूप निकला है जिसमें सिरे पर अर्द्ध वृत्त है।

सं. 14, **न**, स्त० V=**नून** (टेलर) स्त० I, II के **नून** को स्त० IV की भाँति सिर के बल उलट कर रख दिया है, पैर की हुक सीधी लकीर बन गई है, इसकी साक्षी स्त० VI,*a* का **ञ** अक्षर है, यह रूप उस कल्पित रूप से बना है जिसमें हुक को नियमित कर दिया गया है और अक्षर को अलग करने के लिए सिरे पर एक डंडा जोड़ दिया गया है। (दे० नीचे आ, 4, घ)

सं. 15, **स**, **ष**, स्त० V, IV=**समेख** (वेबर संदिग्ध रूप में); स्त० I *b* की भाँति के **समेख** को हिन्दुओं ने घसीट बना दिया जैसा कि स्त० IV में दिखाया गया है, इसे ही सिर के बल उलट कर रख दिया गया है; जिससे स्त० V का द्राविड़ **ष** बना। मूलतः यह **स** और **ष** दोनों का काम करता था। फिर बाद में यही चिह्न एक व्युत्पत्ति वाले **स** और **ष** अक्षरों में बाँट दिये गये। बीच की अर्गला को भंग के बाहर कर देने से दक्षिणी ब्राह्मी का स्त० VI *a* का और घुमाकर स्त० VI *b* का स अक्षर बन गया। डंडे को भंग के भीतर कर देने से उसी लिपि का स्त० VI *c* का **ष** अक्षर बन गया। द्राविड़ी ने पुराना चिह्न तो **ष** के लिए ही रखा, नया चिह्न उसने **स** के लिए ले लिया। उत्तरी ब्राह्मी ने दक्षिणी **स** से स्त० VI *d* का भंग वाला रूप विकसित किया। और इससे स्त० VI *c* का नया **ष** विकसित किया। ई.पू. छठी शताब्दी के स्त० III के **समेख** से सीधे द्राविड़ी **ष** की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसका कारण सं. 5 में दिया जा चुका है। इसमें अर्गला का भी अभाव है जो इसकी विशिष्टता थी।

सं. 16. ए, स्त० V=ऐन, स्त० I, II (वेबर)। कालसी के स्त० IV वाले और स्त० V, *b* के प्राचीन रूपों तथा सांची और हाथीगुंफा स्त० V में अक्षर का कोई रूप परिवर्तन नहीं हुआ है, या हुआ भी है तो अत्यल्प। किन्तु बाद में, स्त० V, *c*, *d*, *e* में इसे त्रिभुजाकार कर दिया गया है ताकि **ठ** और **ध** के रूपों से कोई झमेला न खड़ा हो।

सं. 17, **प**, स्त० V=**फे**, स्त० I, II (वेबर)। सिर के बल अक्षर को उलट दिया गया है। एरण, स्त० IV में अपने मूल रूप में है। स्त० V में इसे बगल की ओर घुमा दिया गया है।

सं. 18, **च**, स्त० V=**त्सादे**, स्त० I, II (वेबर) अक्षर सिर के बल उलटा रख दिया गया है। दायीं ओर का दूसरा हुक खड़ी रेखा की ओर भी झुका है, जैसा कि स्त० IV कें कल्पित रूप में है। इसी से स्त० V, *a*, *b* का ब्राह्मी का कोणीय या गोला **च**, और स्त० V, *c* वाला दुमदार द्राविड़ी **च** बना।

सं. 19. **ख**, स्त० V,=**कोफ**, स्त० I, II। अक्षर को सिर के बल उलटा कर दिया गया है। सिर पर एक भंग जोड़ दिया गया है, (स्त० V, *a*,) ताकि **व** से इसे पृथक् किया जा सके। स्याही के प्रयोग की वजह से पैरों का वृत्त एक बिंदी में परिवर्तित कर दिया गया, स्त० V, *b*।

सं. 20, **र**, स्त० V=**रेश**, स्त० I, II (वेबर)। अक्षर के सिरे के त्रिभुज को खोला गया है और खड़ी रेखा को पुराने त्रिभुज के आधार मे जोड़

दिया गया है इससे स्त० V के *a*, *b* वाले रूप तथा बाद में स्त० V के *c*, *d* वाले आलंकारिक रूप निकले जिनमें कोण दुहराये गये।

सं. 21, **श**, स्त० V=**शिन**, स्त० I, II (वेबर)। अगल-बगल रखे कोण एक के भीतर दूसरा करके रख दिये गये। फिर चिह्न को सिर के बल उलट दिया गया है। इस प्रकार स्त० V के *a*, *b*, *c* वाले रूप बने। स्त० III में ई. पू. छठीं शताब्दी का अरमैक **शिन** है। यह देखने में इसके अधिक नजदीक मालूम पड़ता है। किन्तु **श** का यह आदि रूप नहीं हो सकता। इसका भी वही कारण है जो सं. 5 में दिया जा चुका है। अरमैक, फोनेशियन और इथेपियन लोगों ने ऐसे समरूप चिह्न भिन्न-भिन्न समयों में बनाये होंगे। दो कोणो वाला पुराना रूप 100=**श** के पश्चिमी चिह्न मे सुरक्षित है। (दे० मेरी **इं. स्ट०** III, 2, 71, 117)।

सं. 22. **त**, स्त० V=**ताव**, स्त० I, II (वेबर)। सिंजिर्ली, स्त० III, *b* या सलमानस्सर, स्त० III, *a* की तरह के किसी रूप से स्त० V के *a* *b* रूप निकले। इन्हीं से स्त० V, *c* वाला नियमित रूप विकसित हुआ।

(आ) संजात व्यंजन और आद्य-स्वर

हिन्दुओं ने संजात-चिह्नों का स्वय् आविष्कार किया था। ये चिह्न निम्नलिखित उपायों से बनते हैं :

1. ध्वनि की दृष्टि से सजातीय अक्षर के किसी अवयव का स्थानांतरण हो जाता है : (क) **स** और **ष** में सबसे पुराने चिह्न के बीच की अर्गला स्थानांतरित हो गई है (दे० ऊपर (अ) में, सं. 15), (ख) **द** अक्षर **ध** से निकला है (वेबर)। **ध** की खड़ी लकीर को दो भागों में बांटकर उन्हें भंग के ऊपरी और निचले सिरों पर जोड़ दिया गया है, इससे पहले द्राविड़ी और पटना की मुहर का **द**, सं. 4, स्त० VI, *b* निकला, फिर सं. 4 स्त० VI, *f* का कोणीय **द**।

2. ग्रहीत या संजात अक्षर का अंग-भग कर देते हैं ताकि समान ध्वनि मूल्य का अक्षर बना लें : (क) **द**, सं. 4. स्तं० VI, *a* के नीचे की लकीर के हटा देने से कालसी और बाद के दक्षिणी अभिलेखों का आधे गोले वाला **ड**, स्त० VI, *c* वाला अक्षर बनता है, इसी प्रकार स्त० VI, *g* के कोणीय **द** से अशोक के आदेश लेखों का स्त० VI, *h* वाला सामान्य कोणीय **ड** बनता है (वेबर); (ख) सं०. 9, स्त० V के **थ** के केन्द्र बिन्दु के हटा देने से स्त० VI, *a* का **ठ** बना। इस **ठ** को दो भागों में काट देने से स्त० VI, *b* का **ट** अक्षर बनता है। गोले **ठ** को एक अल्प प्राण अक्षर और महाप्राणतावक्र का संयोग मानते

हैं। महाप्राणता वक्र अन्य कई अक्षरों में भी (दे० आगे 5) मिलता है। (वेबर); (ग) सं. 16, स्त०V *c*, *d*, *e*, के त्रिभुजाकार **ए** से तीन बिंदुओं वाला **इ** अक्षर बना है, दे० स्त० VI, *a*, *b*, *c* । यह पुराने चिह्न की रूपरेखा मात्र प्रकट करता है (प्रिंसेप) उत्पत्ति का अनुमान इस बात से होता है कि **ए** व्याकरण की दृष्टि से **इ** का **गुण** स्वर है । अतः इसके लिए **ए** का हल्का रूप उपयुक्त जान पड़ा; (घ)सं. 6,स्त० V, *b* के **व** के नीचे के हिस्से को बीच से काट कर बची हुई लटकन को सीधा कर देने से स्त० VI, *a* का **उ** अक्षर निकलता है (दे० मेरी इ. स्ट., III, 2, 74) इस उत्पत्ति का अनुमान इस बात से होता है कि उ संप्रसारण में व का प्रतिनिधित्व करता है; (ङ) यदि उत्तरकालीन लघु वृत्त (फल. IV, 38, VI) अनुस्वार (सं. 13, स्त० VI, *a*, *b*) का मूल रूप और बिंदी उसका घसीट प्रतिरूप है तो यह चिह्न खंडित लघु **म** ही है, जिसका सिर का कोण गायब हो जाता है। इस प्रकार इसे उन लघु स्वरविहीन व्यंजनों की भाँति माना गया है जो ईसा की पहली शताब्दी के अभिलेखों में मिलते हैं (दे० उदा० फल. III, 41, VIII) । **म** से खरोष्ठी अनुस्वार की उत्पत्ति भी तुलनीय है (देखि० नीचे **9**, **आ**, 4) ।

3. लेखन की दिशा में परिवर्तन होने से पूर्व मूल अक्षरों में बायीं ओर को जो छोटी-सी खड़ी लकीर लगती थी नव्य प्रणाली में वह ह्रस्व **अ** और **उ** से दीर्घ **आ** (सं. 1, स्त० VI) और **ऊ** की मात्रा (सं. 6, स्त० VI, *d*) बनाने के काम आने लगी। **इ** अक्षर के रूप में विशिष्टता होने की वजह से ई का रूप दिखाने के लिए रेखा का प्रयोग न करके एक बिंदी से ही काम चला लिया गया, सं. 16, स्त० VI, B *g* ।

4. नन्हीं आड़ी लकीरें जो मूलतः अक्षर के दायें लगती थीं, स्वर के गुण में परिवर्तन की सूचना देती हैं। (क) सं. 6, स्त० VI, *f*, *g* के ओ में जो **उ**, स्त० VI, *a* से निकला है (डंडा मूल रूप में भी है और उत्तरकालीन रूप में भी), क्यों कि **ओ** व्याकरण की दृष्टि से **उ** का गुण-स्वर है; (ख) सं. 16, स्त० VI, *a*, *b* के ऐ में जो **ए** से निकला है क्योंकि **ऐ** व्याकरण की दृष्टि से ए का वृद्धि स्वर है; (ग) सं. 12, स्त० VI के द्राविड़ी ळ में जो **ल** (लमेद), स्त० I, II से निकला है। इसमें डंडा अभी तक दायीं ओर को है, क्योंकि अक्षर को घुमाया नहीं गया है; (घ) सं. 14, स्त० VI, a के **ञ** में जो स्त० VI के मूल औंधे मुंह **नून**, स्त० VI से निकला है । इसे ऊपर (अ) की सं. 14 से मिलाइये; (च) **ङ** में (दे० मेरी इं. स्ट. III, 2,

पृ० 31, 76; तथा पृष्ठ 35 और, आगे **16**, **इ**. 12) जो **न**, सं. 14, स्त० V से निकला है, नीचे की आड़ी रेखा दायें को खिसक गई है, अक्षर अपनी मूल स्थिति में ही है; (छ) सं. 14, स्त० VI, *b* के **ण** में जो **न** से निकला है डंडा खड़ी रेखा के दोनों सिरों पर बाहर निकला है ताकि **ना**, **ने** और **ओ** से अक्षर को अलग रखा जा सके।

5. महाप्राणता दिखाने के लिये अक्षरों में एक भंग जोड़ देते हैं। सं. 3 स्त० VI का द्राविड़ी **घ** **ग** से, सं. 4 स्त० VI, d, का सामान्य ब्राह्मी **ढ़** स्त० VI *c*, के **ड** से, तथा 17, स्त० VI का फ, स्त० V के प से निकले। इनमें महाप्राणता दिखलाने के लिए भंग जोड़े गये हैं। सं. 18, स्त० V *a* के **छ** में भंग खड़ी लकीर के दोनों सिरों पर जोड़ा गया है। इसी से आगे चलकर स्त० VI, *b* वाला घसीट **छ** अक्षर विकसित हुआ। इससे विरले कभी-कभी भंग के बदले एक हुक लग जाता है। तब मूल चिह्न का अंग-भंग कर देते हैं। इस प्रकार ब से सं. 2, स्त० VI का **भ** और सं. 7, स्त० V *a*, के **ज** से स्त० VI के **झ** बने। **भ** में आधार की लकीर हटा दी गई है और खड़ी लकीर के दोनों सिरों के डंडों का लोप हो गया है। खसीट लेखन में हुक और भंग दोनों **ह** के बदले आते हैं। तिब्बती लिपि में[81] **घ**, **भ** आदि अक्षरों के निर्माण में इनका पुनः प्रयोग हुआ है।

6. सं. 4, स्त० VI, *e*, का **ब्राह्मी** ळ अक्षर स्त० VI, *c* के आधे गोले **ड** से निकला है। इसमें एक छोटा-सा अर्द्ध-वृत्त जोड़ दिया गया है। साँची में इसके बदले एक खुला कोण मिलता है (फल० II, 41, XVIII)। व्युत्पत्ति की संभाव्यता का अनुमान ळ और **ड** की उच्चारणगत समानता से होता है। वैदिक और लौकिक संस्कृतों और प्राकृतों में प्रायः इन दोनों अक्षरों का परस्पर व्यतिहार भी हो जाता है।

(इ) स्वरमात्राएं और संयुक्ताक्षरों में स्वराभाव

(I) ब्राह्मी की प्रणाली

संस्कृत के स्वर-शास्त्रियों और वैयाकरणों ने उच्चरित भाषा का ही विचार किया है।[82] वे **क्** ध्वनि को '**क**'**कार** और **ग्** ध्वनि को '**ग**'कार आदि-आदि कहते

81. आ. रि. 2, फलक पृ. 400 पर

82. मै. मू., हि. ऐ. सं. लि. पृ. 505 तथा आगे

हैं। उनके मत से सभी व्यंजनों में 'अ' अंतर्निहित है। इसलिए '**आ**' की मात्रा के लिए एक लकीर का इस्तेमाल करते हैं। यही लकीर '**आ**' को **अ** से पृथक करती है।

दूसरी स्वर मात्राओं के लिए या तो वे पूरे आद्य स्वर चिह्नों का इस्तेमाल करते हैं या उनके घसीट रूपों का। ये मात्राएं ज्यादातर व्यंजनों के सिरों पर जुड़ती हैं, पर यदा-कदा पैरों में भी लगती हैं। **ओ** की मात्रा और '**ओ**'कार की अनन्यता उन सभी व्यंजनों में देखी जा सकती है जिनमें सिरों पर खड़ी रेखाए हैं; जैसे **को**, सं. 6, स्त० VI *h*, *i*, में जहाँ दूसरी अर्गला के नीचे छुरे की आकृति वाले क् के हटा देने पर स्त० VI, *f*, *g* वाले चिह्न फिर आ जाते हैं। गिरनार आदेश लेख I, पंक्ति 11 में **मगो** के **गो** से भी तुलना कीजिए जहाँ ग् के ऊपर एक '**ओ**'**कार** आ गया है। जौगढ़ के आदेश लेखों में जहाँ स्त० VI, *f* का '**ओ**'**कार** ही मिलता है **ओ** की मात्रा **का** भी हमेशा वही रूप होता है। किंतु गिरनार में यद्यपि स्त० VI, *g* का '**ओ**'कार ही मिलता है, तथापि हमें ओ की मात्रा के दोनों रूप मिलते हैं। इसी प्रकार हमें उन सभी व्यंजनों में जिनमें आखीर में खड़ी लकीर होती है, पूरे '**उ**'कार के दर्शन होते हैं, जैसे **कु**, फल० II, 9, V; डु, 20, VII; **दु**, 25, V; **भु**, 31 III, V (मिला० आगे 16, ई, 4) : और कालसी के **धु**, सं. 6, स्त० VI, *b* में **उ** की मात्रा के लिए घसीट में प्रायः '**उ**'कार की आड़ी लकीर लगाते हैं जैसे **धु**, सं. 6, VI, *c* में या इसकी खड़ी लकीर जैसे **चु**, फल० II, 13, III, और 26, II, आदि। यदि व्यंजन के आखीर में खड़ी लकीर हो तो **ऊ** की मात्रा और 'ऊ'कार में कोई अंतर न होगा। अन्यत्र घसीट में इसके लिए दो आड़ी लकीरें बनाते हैं, जैसे **धू**, सं. 6, स्त० VI, e : किंतु बाद के अभिलेखों में मात्रा के लिए उस समय के '**ऊ**' कार का प्रयोग करते हैं।[83] **इ** की मात्रा के लिए शुरू में शायद '**इ**' कार की तीन विंदियों का इस्तेमाल करते थे (कि, सं. 16, स्त० VI, B, *d*) जो बाद में घसीट लिखने में लकीरों से जुड़ गये और फिर अशोक के अधिकांश आदेश लेखों में कोणों में बदल गये (**कि**, स्त० VI, B, *e*) 'ई' की मात्रा इसी दूसरे रूप से निकलती है। इसमें स्वर की दीर्घता को दिखलाने के लिए एक लकीर और जोड़ दी गयी है। (की, स्त० VI, B, *f* देखि० ऊपर (आ) 3 के अंतर्गत)। ए की मात्रा के लिए 'ए'कार को त्रिभुज पहले घसीट लेखन में एक कोण रह गया जो बाईं ओर को खुलता था, जैसे **गे**,

---

83. देखि. आगे 24, **आ**, 3. फल. IV, 30, XII, XIV; फल. VII, 30, XII, XX, XXI

फल० II, 11, III, में इसका और अधिक प्रचलित ढंग एक सरल रेखा बना देता था (के, सं. 16, स्त० VI, A, *a*) 'ऐ'कार में एकार के साथ एक आड़ी लकीर लगती है। इस रूप के आधार पर 'ऐ' की मात्रा में दो समानांतर आड़ी लकीरें बनाते हैं (थै, सं. 16, स्त० VI, A, *c*)

(ii) **द्राविणी की प्रणाली**

भट्टिप्रोलु के अभिलेखों में माया चिह्नों का संकेत सामान्य रूपों से इस बात में कुछ भिन्न है कि इसमें स्वर मात्राओं के लिए ब्राह्मी के **आ** का प्रयोग होता है। और माध्य **आ** की मात्रा के लिए एक पड़ी लकीर बनाते हैं जिसके किनारे से एक छोटी-सी खड़ी लकीर लटकती है (देखि० **क**, फल० II, 9. XIII, **का**, 9, XIV) इसलिए व्यंजनों में स्वतः स्थित अ नहीं होता। इसमें कोई शक नहीं कि यह युक्ति बाद की है और इसका आविष्कार संयुक्ताक्षरों की आवश्यकता से बचने के लिए हुआ है।

5. सेमिटिक वर्णमाला के ग्रहण का समय और उसकी विधि

ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है कि ब्राह्मी के अधिकांश अक्षरों का रूपउत्तरी-सेमिटिक के प्राचीनतम चिह्नों से मिलता-जुलता है। उत्तरी सेमिटिक के ये चिह्न पुराने फोनेशियन अभिलेखों, और मेस्सा के पत्थर के लेख में मिलते हैं, जो ई. पू. 890 के आसपास खोदा गया था। दो अक्षर **ह** और **त** मेसोपोटामिया के **हे** और **ताव** से निकले हैं। ये ई. पू. 8 वीं शती के मध्य के हैं। और दो अक्षर **स-ष** और **श** ई. पू. 6ठी शती के अरमैक चिह्नों से मिलते-जुलते हैं, साहित्यिक और पुरालिपिक प्रमाणों से निर्विवाद है कि ई. पू. 600-500 में हिन्दुओं को अक्षर ज्ञान था। तथा तत्कालीन अरमैक के अन्य चिह्न जैसे **बेथ**, **डालेथ**, **वाव** आदि इतने विकसित हैं कि वे तदनुरूप ब्राह्मी अक्षरों के आदि रूप नहीं हो सकते। अतः यह मानना पड़ता है कि **स**, **ष**, **श** के चिह्न, जो अपेक्षाकृत आधुनिक प्रतीत होते हैं, भारत में विकसित हैं। इनके संगत अरमैक अक्षरों का विकास भी इसी प्रकार हुआ। जब ये दोनों अरमैक अक्षर नई पुरालिपिक खोजों से और प्राचीन सिद्ध हो जायेंगे तो यह धारणा भी बदल जायेगी। सिंजर्ली में प्राप्त सामग्री को देखने से यह एकदम असंभव भी नहीं मालूम पड़ता है। किन्तु वर्त्तमान परिस्थिति में हम भारत में सेमेरिक वर्णमाला के आयात की सीमा यहाँ से नहीं मान सकते। यह सीमा लगभग ई. पू. 890 से ई. पू. 750 के बीच

---

84. बु. इं. स्ट. III, 2, 83-91

पड़ती है जब क्रमशः मेसा अभिलेख और असीरियन बटखरों वाले अभिलेख खोदे गये थे। अधिक संभावना यही है कि यह सीमा ऊपर की ओर उतनी नहीं जितनी नीचे की ओर या मोटे तौर पर 800 ई. पू. के आस-पास पड़ेगी। अन्य अनेक परिस्थितियों से भी यही संभावना प्रबल मालूम पड़ती है कि इसी समय में हिन्दू लोग सेमेटिक अक्षरों से परिचित हुए।

ब्राह्मी के **ह** और **त** अक्षर **हे** और **ताव** के जिन रूपों से निकले हैं वे फोनेशियन अभिलेखों में नहीं मिलते, बल्कि मेसोपोटामिया में ही मिलते हैं। इसलिये इस बात की संभावना अधिक मालूम पड़ती है कि मेसोपोटामिया ही वह सेमेटिक देश था जहाँ से ये अक्षर भारत में आये।[85] इसका मेल इस अनुमान से भी बैठ जाता है कि भारत के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथों में इस बात के उल्लेख हैं कि हिन्दू व्यापारी अत्यन्त प्राचीन काल में हिंद महासागर में यात्राएं करते थे। बाद के ग्रंथों में भी––ये ग्रंथ भी काफी प्राचीन हैं––हिन्दू व्यापारियों के समुद्र-मार्ग से विदेशों से व्यापार करने का वर्णन मिलता है। **बावेरु जातक**[86] में बैविलोन को भारतीय सामान के निर्यात का उल्लेख है। यह उल्लेख काफी पुराना है। बाविलु शब्द का अंतिम अंश इलु परिर्वातित होकर एरु हो गया है। यह रूप पश्चिम भारत में बदला होगा जहाँ **ल** के स्थान पर प्रायः **र** हो जाता है; जैसे, गिरनार और शाहबाजगढ़ी के लेखों में **टोलेमियस** का **तुरमाय** हो गया है। कई अन्य जातक-कथाओं में, जैसे जातक सं. 463 में; जहाँ समुद्री यात्राओं का वर्णन है भरुकच्छ (आधुनिक भड़ोच) सूर्पारक (आधु० सोपारा) के नाम आये हैं जहाँ से फारस की खाड़ी के देशों के साथ ईसा की पहली शती और उसके काफी बाद तक व्यापार होता था। ये पश्चिमी भारत के प्राचीन बंदरगाह थे। जातकों से पता चलता है कि व्यापारी यहीं से यात्रा प्रारंभ करते थे। इसलिए इस बात की संभावना अधिक मालूम पड़ती है कि ये व्यापार-पथ उससे भी काफी प्राचीन समय से चालू थे। इसी प्रकार दो प्राचीन धर्मसूत्रों में भी इस बात के प्रमाण हैं कि भारत (विशेषकर पश्चिम भारत) प्राचीन काल में समुद्री रास्ते से विदेशों से व्यापार करता था।

---

85. बेनफे, **इंडियन** 254 के अनुसार सेमेटिक वर्णमाला भारत में फोनेशिया से आयी; ए. वेवर, **इंडि. स्किजेन** 137 के अनुसार यह फोनेशिया या वैलोनिया से आयी।

86. सं. 339, फासवोल, 3, 126; मिला. फिक, **डाइ सोसियले ग्लाइडेरुंग इन नोर्डिस्ट्ल. इंडियन**, 173 तथा आगे।

बौधायन II, 2, 2 में ब्राह्मणों को समुद्री यात्रा करने का निषेध है। इस निषेध का उल्लंघन करने वाले ब्राह्मणों को घोर प्रायश्चित का विधान है। किन्तु **बौधायन** (I, 2, 4) से पता चलता है कि 'औदीच्य' इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं करते थे। औदीच्यों के अन्य अपराधों में ऊन का व्यापार और ऐसे जानवरों के विक्रय का उल्लेख है जिनके दोनों जबड़ों में दाँत होते हैं; जैसे, घोड़े और खच्चर। इससे पता चलता है कि औदीच्यों से तात्पर्य पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासियों से था। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि समुद्री यात्रा से उनका तात्पर्य पश्चिमी एशिया की यात्रा से था। **बौधायन** (I. 18. 14) तथा उससे भी प्राचीन **गौतम धर्मसूत्र** X. 33 में समुद्री मार्ग से आयात की गई वस्तुओं पर राज-देय शुल्क का उल्लेख है।[87] मैंने धर्मसूत्रों और जातकों में उल्लिखित सामग्री के काल का जो अनुमान किया है, उससे ये उल्लेख ई. पू. 8वीं-6ठीं शती के होने चाहिए।[88] भुज्यु के जहाज टूटने की वैदिक कथा उससे भी प्राचीन समय की है। यह जहाज "एक ऐसे समुद्र में टूटा था जहाँ कोई सहायता न मिल सकती थी, पैरों या हाथों को भी कोई सहारा न मिल सकता था।" अश्विन कुमारों की "एक सौ पतवारों वाली नौका" पर टूटे जहाज के यात्रियों की रक्षा हुई थी।[89] निश्चय ही यह घटना-स्थल हिंद महासागर में रहा होगा। इस कथा से अनुमान है कि प्राचीनतम वैदिक युग में भारतीय इन समुद्रों में जहाज चलाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य कथाओं में भी; जैसे, सेमेटिक प्रलय और ब्राह्मण-ग्रंथों की महामत्स्य के द्वारा मनु की रक्षा की कथाओं में[90] इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं कि हिंदू व्यापारियों ने पहले मेसोपोटामिया की भाषा सीखी होगी, जैसे आधुनिक काल में उनके वंशज अरबी और सुआहिली और अन्य अफ्रीकी भाषाएं सीखते हैं। फिर वे वहाँ से लिपि ही नहीं बल्कि शायद दूसरी तकनीकी युक्तियाँ भी, जैसे वेदी-निर्माण के लिए ईंटें बनाना, साथ ले आये। यदि यह अनुमान सही है, जो एकदम निराधार नहीं प्रतीत होता, तो यह मानना पड़ेगा कि भारत के वणिकों ने अपने देश की वही सेवा की जो

---

87. **से. बु. ई.** II, 228; XIV, 146, 200, 217; मिला. **मनु** III, 158; VIII, 157, 406 और डाहलमान, **डैस महाभारत,** पृ. 176 तथा आगे।

88. **बु, इं. स्ट.** III, 2, 16 तथा आगे।

89. **ऋ. वे.** I, 116, 5; मिला. ओल्डेनबर्ग, **वेडिशे रेलिजन,** 214

90. ओल्डेनबर्ग, **वही** 276.

संभोट या थोन्मी ने 630-660 ई. के बीच मगध से भारतीय लिपि के तत्व तिब्बत ले जाकर तिब्बत की सेवा की ।[91]

चाहे जो भी हो, इससे यही संभावना प्रतीत होती है कि वणिकों ने ही सबसे पहले सेमेटिक लिपि अपनायी,[92] क्योंकि निश्चय ही विदेशियों से उनका ही सबसे अधिक वास्ता पड़ता था, और उन्हें ही अपने कारोबार में सौदों का लिखित प्रमाण रखने की सबसे अधिक जरूरत पड़ी होगी । ब्राह्मणों को लेखन-कला की उनसे कम आवश्यकता थी; क्योंकि जैसा कि **ऋग्वेद**[93] से ज्ञात होता है कि उनमें अत्यंत प्राचीन काल से अपने साहित्य को मौखिक रूप से सुरक्षित रखने की परंपरा चली आ रही थी ।

फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्राह्मी का जो प्राचीनतम रूप मिलता है उसका निर्माण विद्वान ब्राह्मणों ने संस्कृत को लिपिबद्ध करने के लिए किया था । इस अनुमान की पुष्टि अशोक के संगतराशों द्वारा गया में खोदी गई वर्णमाला के अवशिष्ट अक्षरों से होती है । इस वर्णमाला में संस्कृत **ऐ** और **औ** के चिह्न भी रहे होंगे । यह वर्णमाला ध्वनि-शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार बनाई गई है । साथ ही हिंदुओं द्वारा संजात चिह्नों के निर्माण में ध्वनि-विज्ञान और व्याकरण के सिद्धांतों के प्रभाव से भी ऊपर के अनुमान की पुष्टि होती है । ध्वनि-विज्ञान और व्याकरण के विशेषज्ञों का हाथ नीचे लिखे प्रकरणों में देखा जा सकता है । (1) पाँचों अनुनासिक वर्णों तथा अनुनासिक के लिए एक सामान्य चिह्न का दो सेमेटिक चिह्नों से विकास तथा दीर्घ स्वरों के लिये चिह्नों के एक पूरे समुच्चय (Set) का विकास ।[94] यह समुच्चय ध्वनि-वैज्ञानिकों और वैयाकरणों के लिए तो बहुत जरूरी है, पर व्यापारियों के लिए उतना जरूरी नहीं है । इसीलिए अन्य प्राचीन लिपियों में यह अज्ञात है । (2) एक ही सेमेटिक चिह्न (**समेख**) से ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से काफी अलग, पर व्याकरण की दृष्टि से सगोत्री **स** और **ष** के दो वर्णों का विकास; (3) **उ** को आधे **व** के चिह्न से दिखलाना जिससे संप्रसारण से स्वर निसृत होता है; (4) **उ** से **ओ** की उत्पत्ति (**ओ उ** का गुण-स्वर है), इसके लिए **उ** के चिह्न में एक रेखा और

91. **ज. ए. सो. बं.** LVII, 41 तथा आगे

92. मिला. वेस्टरगार्ड, **ज्वेई ऐमेंड्लुंगेन**, 37 तथा आगे

93. **ऋ. वे.** VII, 103, 5; मिला. मै. मू. हि. ऐ. सं. लि. 506

94. मिला. वैकरनैगेल, **ऐल्टिड. ग्रामाटिक्** 1, Lvii.

जोड़ देते हैं, इ की उत्पत्ति; जिसके लिए इसके गुणस्वर ए के चिह्न को और सरल कर देते हैं; इ के गुण-स्वर ए से वृद्धिस्वर ऐ की उत्पत्ति और ड से ळ की उत्पत्ति, ड के स्थान पर प्रायः ळ का ही प्रयोग करते हैं, जैसे ईडे के स्थान पर ईळे; (5) अ की अभिव्यक्ति न करना क्योंकि वैयाकरणों के मतानुसार यह प्रत्येक व्यञ्जन में स्वतः स्थित है; आ की मात्रा को अ और आ के अंतर से व्यक्त करना, दूसरी स्वर-मात्राओं को आद्य स्वरों या उनके घसीट सरल रूपों को व्यंजनों में जोड़कर व्यक्त करना; साथ ही स्वरों की अनुपस्थिति के लिए संयुक्ताक्षरों का प्रयोग। ये सभी प्रकरण पांडित्यपूर्ण हैं, और इतने कृत्रिम हैं कि इनका आविष्कार पंडितों ने ही किया होगा, न कि व्यापारियों या मुनीमों ने। व्यापारी और मुनीम अभी हाल तक अपने पत्र-व्यापार और बहीखातों में स्वर-मात्राओं का प्रयोग नहीं करते थे। इससे यही अनुमान होता है कि इनके द्वारा परिष्कृत लिपि में कोई स्वर चिह्न न रहे होंगे। यह त्रुटिपूर्ण लेखन अत्यन्त प्राचीन काल का अवशेष है या मध्यकाल में अरबी वर्णमाला के प्रचार के कारण है, इसका इस अनुमान के सही या गलत होने में कोई महत्व नहीं है।

व्यापारी जब पहली बार इस देश में सेमेटिक लिपि ले आये होंगे, तब से ब्राह्मणों द्वारा इसके अपनाये जाने (यह तत्काल नहीं हुआ होगा) और ब्राह्मी के 46 मूल चिह्नों, स्वर-मात्राओं और संयुक्ताक्षरों के विकास में निश्चय ही काफी समय लगा होगा।

ऊपर वर्णित अनुसंधान से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मी का विकास ई. पू. 500 के लगभग या इससे पूर्व भी पूरा हो चुका था। इसलिए भारत में सेमेटिक लिपि के आगमन की वास्तविक निधि हम ई. पू. 800 के लगभग रख सकते हैं। यह अनुमान अभी अनन्तिम ही है। भविष्य में भारत या सेमेटिक देशों में पुरालिपिक नये प्रमाणों की खोज होने पर इस तिथि में कुछ रद्दोबदल भी हो सकती है। यदि इस अनुमान में परिवर्तन आवश्यक ही हुआ तो हाल की खोजों के आधार पर मेरा विश्वास है कि भारत में सेमेटिक लिपि के आगमन की तिथि ई. पू. 800 से पूर्व सिद्ध होगी। इसे संभवतः ई. पू. 1000 या इससे भी पहले रखना होगा।

II. खरोष्ठी लिपि

6. उसके पढ़ने का इतिहास

दायें से बायें की ओर लिखी जाने वाली **खरोष्टी लिपि**[95] को पढ़ने का एकमात्र श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है। इनमें मैसन, जेम्स प्रिंसप, लैसेन, ई. नोरिस और अले० कनिंघम का उल्लेख विशेष रूप में करना होगा।[96] इंडोग्रीक और शक राजाओं के सिक्कों पर यूनानी और प्राकृत में अभिलेख मिलते हैं। इन सिक्कों से ही सर्वप्रथम इस बात का सुराग हाथ लगा कि इन अक्षरों का क्या मूल्य है। इन सिक्कों पर आये राजाओं के नामों और उनकी उपाधियों की पहचान से जो नतीजे निकले, अशोक के आदेश-लेखों के शाहबाजगढ़ी की वाचना और ई. सी. बेली के कांगड़ा के ब्राह्मी और खरोष्ठी अभिलेखों की खोज से उनकी आंशिक पुष्टि ही नहीं हुई, अपितु कुछ नये तथ्य भी हाथ लगे। अशोक के आदेश-लेखों के अक्षर ठीक-ठीक पढ़े जा सकते हैं। कुछ संयुक्ताक्षर ही इसके अपवाद हैं (दे० आगे **11**, इ. 3. 4)। इसी प्रकार शकों के अभिलेखों के पढ़ने में भी कोई कठिनाई नहीं है। खोतान से **धम्मपद**[97] की जो हस्तलिखित प्रति मिली है, सामान्यतया उसे पढ़ना भी कठिन नहीं है। किन्तु पह्लव गुदुफर और कुषान राजा कनिष्क और हुविष्क के अभिलेखों के बहुत-से भागों को पढ़ना और उनका सही अर्थ लगाना अब भी मुश्किल है।

7. खरोष्ठी का उपयोग और इसकी विशेषताएं

खरोष्ठी के जिस रूप का आज हमें पता है वह अल्पायु, मुख्य रूप से पुरालेखों में प्रयुक्त उत्तरी-पश्चिमी भारत की लिपि है। खरोष्टी के जितने भी अभिलेख अभी तक मिले हैं उनमें अधिकांश 69° से 73°.30′ पूरब, देशांतर और 33°-

---

95. नाम के संबंध में यहीं पृष्ठ 4 तथा बु., इं. स्ट. III, 2, 113 तथा आगे के पृष्ठ देखिए।

96. प्रि., इं. ऐ. i, 178-185; ii, 128-143; वि., ए. ऐ. 242 तथा आगे; ज. ए. सो. बं. xxiii 714; क., आ. स. रि. 1, viii; **सेंटेनरी रिव्यू** ii, 69-81; क., क्वा. इं. सी., 3 तथा आगे; सेनार, इं. पि. i, 22 तथा आगे; त्सा. डे. मी. गे. xliii, 129 तथा आगे।

97. अगला पैराग्राफ देखिए।

35° उत्तर, अक्षांश के बीच के हैं। ये प्रायः पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तरी पंजाब के उस प्रदेश में मिले हैं जिसका प्राचीन नाम गांधार था। खरोष्ठी के प्राचीनतम अभिलेख उन जिलों में मिले हैं जिनकी राजधानियाँ सिंध के पूरब तक्षशिला (शाहडेरी) और उसके पश्चिम पुष्कलावती या चरसादा (हश्त-नगर) थीं। इनके दक्षिण-पश्चिम वहावलपुर में मुल्तान के निकट और दक्षिण में मथुरा से भी अभिलेख मिले हैं। खरोष्ठी का कोई अकेला शब्द या अक्षर भरहुत, उज्जैन और मैसूर (अशोक के शिद्दापुर के आदेशलेख में)[98] में भी मिला है। खरोष्ठी अक्षरों वाले सिक्के, उत्कीर्णित पत्थर और हस्तलिखित पुस्तकें तो और उत्तर और उत्तर-पूर्व तक चली गई हैं। इस समय जो प्रलेख-प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे यही प्रतीत होता है कि खरोष्ठी लिपि ई. पू. चौथी शती से ईसा की लगभग तीसरी शती तक प्रचलित थी। इसके सबसे पुराने अक्षर ईरानी **सिग्लोई** पर मिलते हैं (देखि० पृष्ठ ३९) और सबसे बाद के संभवतः गांधार-मूर्तियों और कुषान अभिलेखों पर।[99] 668 ई. के फवाङशुलिङ के उल्लेख से विदित होता है कि खरोष्ठी लिपि का ज्ञान बौद्धों ने इसके काफी बाद तक सुरक्षित रखा। ऊपर (दे० पृष्ठ ३)

अभी तक खरोष्ठी लिपि (1) अभिलेखों में, (2) धातु-पट्टों और वर्त्तनों पर, (3) सिक्कों पर, (4) उत्कीर्णित पत्थरों पर और (5) अफगानिस्तान

---

98. बु., इं. स्ट III, 2, 47-53; क., आ., स. रि. ii, 82 तथा आगे, फल. 59, 63; V, 1 तथा आगे, फल. 16, 28; वि., ए. ऐ. 55 तथा आगे; क., क्वा. ऐ. इं. 31 तथा आगे।

99. बु., इ. स्ट. III, 2, **वही**; खरोष्ठी के प्रयोग की अंतिम सीमा का निर्धारण कठिन है, क्योंकि कनिष्क और उसके दो उत्तराधिकारियों की तिथि निश्चित रूप से तै नहीं हो पायी है। इन्हें सिल्वां लेवी ईसा की प्रथम शताब्दियों में रखते हैं (ज. ए. 1897, i, 1 तथा आगे)। ऊपर जो तिथि-सीमा दी गयी है उसका एक आधार यह अनुमान है कि कनिष्क की तिथियाँ शक संवत में है या सेल्यूकस के संवत की चौथी शती में। मैं अभी तक यही मानता हूँ। इसका कारण यह नहीं है कि मैं इसे अकाट्य मानता हूँ। बल्कि इसका आधार वह है जो वी. त्सा. कु. मो., 169 में दिया गया है। संवत् 200 और 276 या 286 के (हश्तनगर की मूर्त्ति) के अभिलेख के अक्षर कुषाण अभिलेखों के अक्षरों से अधिक पुराने मालूम पड़ते हैं। डॉ. ब्लाख की एक चिट्ठी के अनुसार प्रो. हार्नली ने गांधार की एक मूर्त्ति पर इसी अज्ञात संवत् की चौथी शती की एक तिथि पढ़ी है।

के एक स्तूप से निकले भोजपत्र के एक छोटे-से टुकड़े पर[100] और खोतन से प्राप्त **धम्मपद** की भोजपत्र पर लिखी पुस्तक पर मिली है। **धम्मपद** की यह प्रति संभवतः कुषान-काल में गांधार में लिखी गई थी। इस पुस्तक में जिस उपभाषा (dialect) का प्रयोग हुआ है वह अशोक के शाहबाजगढ़ी के आदेश-लेखों की उपभाषा से काफी मिलती-जुलती है। वारडक कलश के अक्षरों से इसके अक्षरों का निकट का साम्य है।[101] धातुपट्टों और वर्तनों पर अक्षर कतारों में विंदुओं से बनाये गये हैं या पहले इस रूप में आहत करके (punched) फिर स्टाइलस से खरोंच दिये गये हैं।[102] प्रस्तर कलशों पर अक्षर कभी-कभी रोशनाई से भी लिखे गये हैं।[103]

यद्यपि उत्कीर्ण प्रलेखों में भी खरोष्ठी का उपयोग हुआ है पर यह लोकप्रिय लिपि थी, विशेषकर लिपिकों और व्यापारियों के इस्तेमाल की। इस कथन के प्रमाण हैं इसके अक्षर जो हमेशा अत्यंत घसीट कर लिखे मिलते हैं, इसमें दीर्घ स्वर नहीं हैं; जिनकी रोजमर्रा के इस्तेमाल में कोई जरूरत नहीं, इसमें अल्पप्राण व्यंजन-द्वित्वों के स्थान पर अकेले व्यंजन का प्रयोग होता है (**क्क** के स्थान पर **क**), अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजनों के संयोग में केवल पिछले का प्रयोग होता है (**क्ख** के लिए **ख**) और स्वरहीन माध्य अनुनासिकों के लिए सर्वदा अनुस्वार का प्रयोग मिलता है।[104] खोतन की हस्तलिखित प्रति का पता लग जाने पर अब इस अनुमान की संभावना बहुत कम रह गई है कि पूर्णता में ब्राह्मी से मिलता-जुलता ब्राह्मण शास्त्रों के लिए अधिक उपयोगी खरोष्ठी लिपि का कोई दूसरा रूप भी रहा होगा।

---

100. वि., ए. ऐ. फल. 3 पृष्ठ 54 पर सं. 11; ऐसे ही उपादान अन्य स्तूपों में भी मिले हैं, देखि. **वही**, 60, 84, 94, 106; किंतु ब्रिटिश म्युजियम में इसके जो टुकड़े बतलाये जाते हैं उन पर कोई अक्षर नहीं है।

101. देखि. Oldenberg, *Predvaritelnae zamjetkao Budhiiskoi rukopisī, napisannoi pismenami Kharosthi*, St. Petersburg, 1897 और Senart, *Acad. des Inscrs, rendus*, 1897, 251 तथा आगे।

102. इं. ऐ. X, 325

103. वि. ए. ऐ. 111

104. बु., इं. स्ट. III, 2, 97 तथा आगे।

8. खरोष्ठी की उत्पत्ति[105]

खरोष्ठी दायें से बायें को लिखी जाती है। लेखन की इस शैली से इस बात की अधिक संभावना प्रकट होती है कि इसके तत्व सेमेटिक लिपि से उधार लिये गये हैं। इसके **न, ब, र** और **व** अक्षरों के रूप अरमैक के संक्रांतिकालीन रूपों के एकदम समान हैं। इससे ई. थामस ने यह माना है कि खरोष्ठी का अरमैक लिपि से घनिष्ठ संबंध है।[106] इनके इस मत को अभी तक किसी ने चुनौती नहीं दी है। हाल ही में आई. टेलर और अले. कनिंघम ने इस मत को और भी निश्चित रूप दे दिया है। य अरमैक अक्षरों को भारत में प्रचारित करने का श्रेय प्रथम अखमनियों को देते हैं।[107] इस राय के लिये ये कारण दिये जा सकते हैं: (1) पश्चिमी पंजाब में प्राप्त अशोक के आदेश-लेखों में 'लेख' (writing, edict) के लिए 'दिपि' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्पष्टतया यह शब्द पुरानी ईरानी भाषा से उधार लिया गया है। इसीसे **दिपति** 'लिखता है', **दिपपति**; 'लिखाता है' भी बना लेते हैं, दे० पृ. १२। (2) जिन जिलों में खरोष्ठी के अभिलेख मिलते हैं--विशेषकर प्राचीन--वे भारत के वे भाग हैं, जो संभवतः ईरानी शासन में, ई. पू. 500 से ई. पू. 331 तक लगातार या अंतरालों के साथ रह चुके हैं। ईरानी **सिग्लोई** में कुछ पर खरोष्ठी और ब्राह्मी के एक-एक अक्षर अंकित हैं।[108] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सिक्के भारत में ईरानी शासन-काल में ढाले गये थे। खरोष्ठी ई. पू. की चौथी शती के अधिकांश में--निश्चय ही ई. पू. 331 में ईरानी साम्राज्य के पतन के समय --भारत में प्रचलित थी। अशोक के आदेश-लेखों में कुछ अक्षरों के कई-कई रूपों का होना और इसी प्रकार कई संयुक्ताक्षरों का एकदम घसीटकर लिखा जाना; जैसे **स्त, स्प** आदि (दे० 11, इ, 2, 3.) यह बतलाता है कि ई. पू. तीसरी शती के मध्य में इस लिपि का इतिहास काफी पुराना हो चुका था। (4) सेमेटिक पुरालिपि के क्षेत्र में इधर हाल में जो खोजें हुई हैं उनसे पता चलता है कि अरमैक लिपि, जो असीरिया और बैबिलोन में पहले से ही सरकारी और

---

105. वही, 2, 92 तथा आगे।

106. प्रि., ए. ऐ. 2, 144 तथा आगे; बाद के सिक्कों पर बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाने वाली खरोष्ठी के संबंध में ज. ए. सो. बं. 1895, पृ. 83 तथा आगे देखिए।

107. टेलर, **दि अल्फाबेट** ii, 261 तथा आगे; क:, क्वा. ऐ. इं. 33

108. ज. रा. ए. सो. 1895, पृ. 865 तथा आगे।

व्यापारी कामों में कीलाक्षर लिपि के साथ-साथ इस्तेमाल में आती थी, अखमनियों के शासनकाल में काफी दूर-दूर तक फैल चुकी थी। मिस्र अरब और लघु एशिया में इस काल के बहुत-से अरमैक अभिलेख मिले हैं। एक अभिलेख तो ईरान में भी मिला है। मिस्र से कई सरकारी **पेपाइरी** (श्रीपत्र के डंठलों से बने कागज पर लिखी पुस्तकें या दस्तावेज) लघु एशिया में ईरानी क्षत्रपों द्वारा ढाले अनेक सिक्के[109] मिले हैं जिसपर अरमैक में लेख हैं। इसके अतिरिक्त बुक आफ एजरा IV. 7 का वह कौतूहलपूर्ण बयान भी है जिसमें **आरामी** लिपि और भाषा में अर्टोजेक्सीयों के उस पत्र का उल्लेख है जो उन्होंने समारिटनों को भेजा था। इन सब बातों पर सामूहिक रूप में विचार करने से स्पष्ट है कि इस मान्यता के लिए पर्याप्त कारण है कि अरमैक लिपि का सामान्य इस्तेमाल क्षत्रपों के कार्यालयों में ही नहीं, बल्कि सूसा के शाही सचिवालय में भी होता था। इसकी असली वजह यह थी कि ईरानी सिविल सेवा में लिपिक, लेखाकार, मुद्राध्यक्ष या ऐसे ही बहुत-से पदों पर बहुत-से आरामी काम करते थे। पुराने राजवंशों के खंडहरों पर जब तेजी से ईरानी साम्राज्य का निर्माण हुआ तो ईरानी शासकों को छोटे-मोटे पदों पर पुराने सरकारी कर्मचारी अवश्य मिले होंगे। इनमें आरामी प्रमुख थे। इनके पदों पर इनकी बहाली इन नये शासकों के लिए सुविधाजनक ही नहीं, अपरिहार्य भी लगी होगी। ऐसी स्थिति में यह कल्पना स्वाभाविक है कि दारा ने जब ईरानी प्रशासन का संघटन पूर्ण कर लिया होगा तो ईरानी क्षत्रपों ने भारतीय सूबों में भी आरामी अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति की होगी। इस प्रकार भारतीय प्रजा को विशेषकर स्थानीय राजाओं के लिपिकों और नगरों के अध्यक्षों को अरमैक लिपि सीखने के लिए अवश्य ही बाध्य किया गया होगा। ईरानी और भारतीय दफ्तरों के आपसी पत्र-व्यवहार से संभवतः पहले उत्तरी-पश्चिमी प्राकृत में अरमैक अक्षरों का व्यवहार शुरू हुआ। बाद में इससे पुरानी भारतीय ब्राह्मी के सिद्धांतों के अनुसार इस लिपि में भी फेर बदल हुई[110] और इससे अंत में खरोष्ठी निकली। मध्य और आधुनिक युग में इसी क्रम से कई भारतीय उपभाषाओं के लिए अरबी लिपि का भी ग्रहण हुआ। यह भी विदेशी दबाव की वजह से ही हुआ। इसके अक्षर भी या तो कुछ

---

109. क्लेरमांट-गेन्न, रेव्यू आर्केलाजिके, 1878-79; बर्गर, **हिस्ट. डे एल एक्रिट डेंस एल ऐंटिक्विटे**, 214, 218 तथा आगे।

110. वेबर, **इंड. स्किजेन**, 144 तथा आगे; थामस, प्रि., इं. ऐ. ii, 146; क., क्वा. ऐ. इं. 33; और आगे **9, आ. 4.**

फेरबदल से या बिना फेर-बदल के इस्तेमाल किये गये या किये जा रहे हैं। (5) इन अंतिम अनुमानों का मेल खरोष्ठी के अक्षरों के स्वरूप से भी बैठता है। यह लिपि भी लिपिकों और व्यापारियों के इस्तेमाल के लिए है; दे० ऊपर पृ. 38 (6) अंत में, इनकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि खरोष्ठी के अधिकांश चिह्न ई. पू. पांचवी शती के सक्कारा और तेइमा के (ई. पू. 482 और लगभग ई. पू. 500) अभिलेखों में मिलने वाले अरमैक चिह्नों से अत्यंत आसानी से व्युत्पन्न सिद्ध किये जा सकते हैं और कुछ अक्षर उत्तरकालीन असीरियाई बाटों और बैबिलोनी मुद्राओं और जवाहरातों पर मिलने वाले इससे पूर्व के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। दो-तीन अक्षर लघुतर तेइमा अभिलेख (Lesser Temia Inscription) स्टेले बैटिराना और सेरापियम के तर्पण-पटल के अक्षरों से बहुत ही निकट दीखते हैं। खरोष्ठी के अक्षरों की लेखनशैली——लंबे-लंबे और बड़ी दुमों वाले अक्षर—— मेसोपोटामिस्राई बाटों, मुहरों और उत्कीर्ण पत्थरों के अक्षरों की है। ऐसे ही अक्षर सक्कारा, तेइमा और सेरापियम में भी आते हैं। अन्य लेखकों ने[111] इनकी तुलना मिस्र के पेपाइरी पर मिले अरमैक अक्षरों से की है। इनमें कम-से-कम कुछ जैसे तारिनेंसिस, अखमनी काल के हैं। किन्तु ये लिखावटें उतनी अच्छी तरह नहीं मेल खाती। इनमें कुछ चिह्न तो इतने घसीट हैं कि ये खरोष्ठी अक्षरों के आदि रूप हो ही नहीं सकते। इनकी लेखन-शैली महीन प्रचलित हाथ की लिखावट की है। यदि और सूक्ष्म दृष्टि से खोज करें तो कुछ साम्य जरूर दिखाई देता है, पर यह साम्य किसी अन्य कारण से न होकर समान रूप से विकास होने की वजह से है। इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि खरोष्ठी का विकास ई. पू. पाँचवीं शती में हुआ।

9. व्युत्पत्ति के व्योरे

साथ की तालिका में व्युत्पत्ति के व्योरे दिखाये गये हैं। स्त० I के चिह्न (सं. 10, स्त० I, *a* को छोड़कर) यूटिंग के *Tabula Scripturae Aramaicae*, 1892, स्त० 6, 8, 9, 11 और 12 से लिये गये हैं। स्त० II के चिह्न भी

---

111. हलेवी, ज. ए. 1885, ii, 243-267, का विश्वास है कि खरोष्ठी ई. पू. 330 में पैपाइरी और सिसली के एक सिक्के के 16 अक्षरों से निकली। देखि. **रिव्यू सेमिटिके**, 1895, 372 तथा आगे। जहां इसे पैपाइरी की लिपि और मिस्र के **ओस्त्रक** से निकला बताया जाता है।

इसी पुस्तक के स्त० 13, 14, 15, 17 और 19 से लिये गये हैं। तथा स्त० III, IV के चिह्न प्रस्तुत पुस्तक के फलक I से लिये गये हैं। सभी चित्र यहाँ फोटो लिथोग्राफी पद्धति से छापे गये हैं।

	I	II	III	IV
1	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
2	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
3	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
4	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
5	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
6	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
7	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
8	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
9	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
10	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
11	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
12	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
13	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
14	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
15	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
18	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
17	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
18	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
19	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
20	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

(अ) गृहीत चिह्न[112]

प्राथमिक टिप्पणी---अरमैक चिह्नों में परिवर्तन मुख्य रूप से इन सिद्धान्तों के अनुसार हुए हैं : (1) लोगों का झुकाव लंबी दुमों वाले अक्षर लिखने, अक्षरों के सिरों पर जोड़ लगाने, अक्षरों के निचले भागों में **उ**, की मात्रा **र** और अनुस्वार जोड़ने के लिए जगह खाली छोड़ देने की ओर था। केवल निचले भाग में जोड़ लगाने के प्रति उनकी अरुचि थी (2) ऐसे चिह्नों के प्रति अरुचि थी जिनके सिरों में दो से अधिक रेखाएं ऊपर की ओर उठी हों; या सिरों में तिरछी लकीरें हों या नीचे कोई लटकन हो---इन सभी विशिष्टताओं की वजह से **इ**, **ए** और **ओ** की मात्राएं लगाने में भोंडापन आ जाता। (3) ऐसे चिह्नों में फर्क करने की भी इच्छा थी जिनको इन सिद्धांतों के अनुसार बदलने से **ये** एक से दीखने लगते।

सं. 1, **क**, स्त॰ III, =**अलेफ**, स्त॰ I *a*, (सक्कारा) इसमें सिरे में घसीटकर लिखने से फर्क आ जाने के कारण मोड़ बन गया है; अक्षर की स्थिति और उसका आकार ऐसा है कि स्त॰ I, *b* या स्त॰ II के आकारों से कोई संबंध जुड़ना असंभव हो जाता है।

सं. 2, **ब**, स्त॰ III, =**बेथ**, स्त॰ I *a*, *b* (तइस्मा, सक्कारा) दायें के कोण के लिए घसीट भंग बन गया है। पेपाइरी के **बेथ**, स्त॰ II, *b*, *c* के घसीट रूप खरोष्ठी चिह्नों से भी आगे के विकसित रूप हैं।

सं. 3. **ग**, स्त॰ III=**गिमेल**, यह स्त॰ I से निकला है या वैसे ही किसी रूप से (मिला॰ स्त॰ II, और यूटिंग, TSA 1, *a*)। इसमें दायें एक घसीट फंदा है और बायें एक भंग, पश्चात्कालीन संयुक्ताक्षरों में ऐसे फंदे बहुत मिलते हैं, देखि॰ फल॰ I, 33, 35, 36, XII; 34, XIII; यहां तक कि **ज** में भी मिलते हैं, फल॰ I, 12, XII।

सं. 4. **द**, स्त॰ III---**दलेथ**, यह स्त॰ II, *b* जैसे किसी रूप से निकला है, जो स्त॰ 1, *a* के अनुसार ई. पू. 600 के असीरियाई बाटों पर मिलता है।

सं. 5, **ह**, स्त॰ III=**हे**, यह स्त॰ I, *a* (तइस्मा) जैसे किसी रूप से निकला है। भंग के मध्य की लटकन को पैर के दायें सिरे पर रख दिया गया है ताकि **इ**, **ए** और **ओ** की मात्राएं लगाने में सुविधा हो। (दे॰ प्रारंभिक टिप्पणी 2, और सं. 17)।

सं. 6 **व** स्त॰ III=**वाव**, स्त॰ I (तइस्मा, सिक्कारा), स्त॰ II की पेपाइरी में इस के और आगे का विकसित रूप है।

---

112. बु. इं. स्ट. III, 2, 99 तथा आगे : मिला. प्रि: इ. ऐ. ii, 147, 1 में थामस के लगभग भिन्न मत से, टेलर, **दि अल्फाबेट** ii, पृ. 236 का फल.; हलेवी, ज. ए. 1885, ii, 252 तथा आगे, **रिव्यू सेमिटिके**, 1895, 372 तथा आगे।

सं. 7. **ज**, स्त० III, *a*—ज़ैन, यह स्त० I, *a*, *b* (तइस्मा) जैसे किसी रूप से निकला है। बायें किनारे को और ऊपर मोड़ दिया गया है। जिससे स्त० III का खरोष्ठी अक्षर पैर की लकीर काट देने पर बना है। पेपाइरी स्त० II और विकसित रूप है, जो तुलना करने के योग्य नहीं।

सं. 8. **श**, स्त० III = **चेथ**, स्त० I (तइस्मा)। भारतीय **श** की ध्वनि तालव्य *Xa* से बहुत मिलती जर्मन *ich* जैसी है।

सं. 9, **य**, स्त० III = **योद**, यह अक्षर या तो स्त० I, *b* से या सीधे स्त०I, *a* (असीरियाई बाट) जैसे किसी रूप से निकला है। इसमें दायें का डंडा हटा दिया गया है, (दे० प्रारंभिक टिप्पणी 1); इसके उत्तरकालीन पामीरी और पहलवी समानरूप (यूटि० TSA, स्त० 21-25, 30-32, 35-39, 58) में मिलते हैं।

सं. 10, **क**, स्त० III,= **काफ**। स्त० I, *b* (असीरियाई बाट, वैबिलोनियाई मुहरों आदि में) को दायें से बायें को पलट दिया गया है और ऊपर एक लकीर जोड़ दी गई है, ताकि इसे नये चिह्न **ल** (सं. 11, स्त० III और **प** (सं. 15, स्त० III) से अलग पहचाना जा सके। पेपाइरी स्त० II इससे एक दम भिन्न चिह्न है।

सं. 11, **ल**, स्त० III= **लमेद**, स्त० 1, *a*, *c* (तइस्मा) जैसा रूप है। इसे सिर के बल उलटा खड़ा कर दिया गया है, क्योंकि केवल पैरों में जोड़ लगाने से अरुचि थी (दे० प्रारंभिक टिप्पणी, 1) भंगदार रेखा को तोड़ कर नीचे की ओर जोड़ दिया गया है ताकि इसे नये अक्षर **अ** से अलग किया जा सके।

सं. 12. **म**, स्त० III, *a*, *b*,= **मेम**, यह अक्षर स्त० I, *a*, *b*, (सक्कारा) जैसे किसी रूप से निकला है जिसके सिर पर भंग है। इसकी रचना में तिरछी रेखा और दायें तरफ की खड़ी लकीर को छोड़ दिया गया है। इसी से आधा गोलेवाला अशोक के आदेश-लेखों का **म** अक्षर (स्त० III, *c*) बना। स्वर-चिह्नों की वजह से यह और भी खंडित हो गया है। स्त० II, पेपाइरी का रूप खरोष्ठी के **म** का पूर्व रूप होने के काबिल नहीं है।

सं. 13 **न**, स्त० III, *a* = **नून**, स्त० I *a*, *b*, (सक्कारा)। इससे बाद में **न** का स्त० III, *b* वाला रूप निकला। स्त० II, पेपाइरी का **न** भी इस का पूर्व रूप नहीं हो सकता।

सं. 14, **स**, स्त० III,= **समेख**, स्त० I (तइस्मा)। ढलुवा डंडे को सिर की रेखा के बायें रख दिया गया है जहाँ से यह लटक रही है। उससे नीचे के सिरे को चिह्न की दुम से मिला दिया गया है। जिसे और बायें ढकेल दिया गया है। (दे० बु; इं. स्ट III, 2, 105) ऐसा ही विकास नबतियाई

(यूटिंग, TSA, स्त० 46, 47) और हेब्रू में भी हुआ है।

सं. 15, **प**, स्त० III, *a*=**फे**, स्त० I (तइस्मा)। इसे दायें से बायें उलट दिया गया है, ताकि इसे **अ** से अलग पहचाना जा सके। स्त० III, *b* वाला **प** का रूप अधिक प्रयोग में आता है। इसमें भंग को और नीचे ढकेल दिया गया है।

सं. 16. **च**, स्त० III,=**त्सादे**, स्त० I, *a*, *b* (तइस्मा) जैसे किसी रूप के न्यून कोण से निकला है। दायीं ओर के दूसरे हुक को छोड़ दिया गया है। (दे० प्रारंभिक टिप्पणी, 2) सिर के नीचे एक हुक लगा दिया गया है, क्योंकि खड़ी लकीर का निर्माण अलग से हुआ है। स्त० II, *b* का **त्सादे** का समान रूप इसलिए बना क्योंकि सिरे की दाईं लकीर का निर्माण अलग से हुआ है और इसे खड़ी लकीर तक खींच दिया गया है।

सं. 17, **ख**, स्त० III,=**कोफ**, यह स्त० I, *a*, *b* (तइस्मा) जैसे किसी रूप से निकला है। बीच की लटकन के स्थान पर बायीं ओर की कमर की लकीर को और बढ़ा दिया गया है। इसी प्रकार तइस्मा वाले रूप (यूटि० TSA स्त० 10) में लटकन को अक्षर के दायें सिरे पर रख दिया गया है।

सं. 18, **र**, स्त० III=**रेश**, स्त० I, *a*, *b*(सक्कारा)। इस अक्षर के निर्माण में मूल अक्षर की दायीं ओर का उभार एकदम गायब कर दिया गया है।

सं. 19, **ष**, स्त० III=**शिन**, स्त० I (तइस्मा) इस अक्षर को सिर के बल उलट दिया गया है, क्योंकि ऐसे चिह्नों के प्रति अरुचि थी जिनके सिरों में ऊपर की ओर उठी हुई दो से अधिक लकीरें हों (देखि० प्रारंभिक टिप्पणी, 2) और बीच की पाई को लंबी कर दिया गया है क्योंकि लंबी दुमों वाले अक्षरों के प्रति झुकाव था।

सं. 20. **त**, स्त० III=**ताव**, यह अक्षर स्त० I, *a* (असीरियाई बाटों से) या स्त० I, *b* (सक्कारा) जैसे किसी अक्षर से बना है। इसमें बीच के डंडे को सिर पर लगा दिया गया है; जैसे स्त० II, *a* में। साथ ही नए चिह्न को **प** (स. 15) से अलग करने के लिए दायें से बायें को पलट दिया गया है, इसी प्रकार **व** और **र** से (सं. 6, 18) से अलग करने के लिए और चौड़ा कर दिया गया है। पुराना रूप और बीच के चरण **थ** (सं. 20, स्त० IV, *a*) और **र** (सं. 20 IV, *b*) में देखे जा सकते हैं। इनमें मूल ताव सुरक्षित है। **ट** (सं. 20, स्त० IV *c*) में भी डंडा ऊपर को लगा है; मिला० नीचे **आ**, 1, इ और **आ**, 2

(आ) संजात चिह्न

1. **महाप्राण ध्वनियाँ**—महाप्राणता के लिए एक भंग या हुक लगा देते

हैं। जो संभवतः घसीट **ह** को प्रकट करता है (टेलर)। घसीट में इसके लिए मामूली-सी रेखा बना देते हैं। साथ ही मूल **मात्रिका** को कभी-कभी और आसान कर देते हैं—(अ) **घ** में (सं. 3 स्त० IV) **ग** की खड़ी लकीर के दायें, **ध** में (सं. 4, स्त० IV, *a*) **द** के सिरे पर, और **ठ**, में (सं. 20, स्त० IV, *d*) **ट** (सं. 20, स्त IV, *c*) के दूसरे डंडे के किनारे पर एक भंग या हुक जोड़ दिया गया है। **ठ**, सं. 20, IV, *d* (ठीक कहें तो **ठो**) में ठंडे **के** किनारे से वह ऊपर की ओर उठता है। (आ) **भ**, सं. 2, स्त० *a*, *b*, में एक हुक या भंग या घसीट में एक तिरछी रेखा **ब** के दायें मिलती है, साथ-साथ **ब** के सिर को एक सीधी रेखा में बदल देते हैं और **क**, सं. 10 स्त० III, से अलग पहचान के लिए इसे और बायें खिसका देते हैं। (इ) निम्नलिखित महाप्राणों में केवल घसीट सीधी लकीर मिलती है; **झ** सं. 7, स्त० IV और **फ**, सं. 15 स्त० IV में बायीं ओर, और **छ**, सं. 16, स्त० IV, **ढ**, सं. 4, स्त० IV, *c* और **थ**, सं. 20, स्त० IV, *a* में दायीं ओर को जुड़ी है। इन सभी अक्षरों की और विशेषताएं भी हैं। **छ** में **च** के बायीं तरफ की छोटी-सी लटकन को आड़ा कर दिया गया है और अर्गला से महाप्राणता की रेखा के साथ जोड़ दिया गया है। **ढ** में **ड** के सिर को चपटा कर एक सरल रेखा बना दिया गया है। **थ** प्राचीन अरमैक **ताव**, सं. 20, स्त० I, *a* को दायें से बायें पलटकर बना है। महाप्राणता की लकीर ताव के डंडे को दायीं ओर बढ़ा देती है।

2. **मूर्धन्य ध्वनियां**—पुराने **ताव** से **ट** बना। इसमें अक्षर को दायें से बायें पलटकर एक नन्हा-सा डंडा लगा दिया गया है। अशोक के आदेश-लेखों में यह डंडा प्रायः दायें को और बायीं ओर के डंडे से जरा नीचे लगता है, जैसे; सं. 20, स्त० IV, *b* में। स्त० IV, *c* में मूर्धन्य का चिह्न बायें और **ट** के नीचे है और इसमें डंडा भी सिर पर है। अशोक के आदेश-लेखों में **ट** का यह रूप बिरले ही मिलता है किन्तु इसके पहले यह बहुत प्रचलित रहा होगा क्योंकि **ठ** का रूप इसी से निकला है। (दे० **आ**, 1, **अ**)। सं. 4, स्त० IV, *b* का **ड** बहु-प्रचलित अरमेक **डलेथ**, स्त० 1, *b* (तइस्मा) से हुबहू मिलता है। शायद दोनों एक ही हों। भारत में लाये गये **ड** अक्षर के यदि दो रूप (स्त० 1, *a*, *b*) रहे होंगे तो दोनों गृहीत चिह्न हो सकते हैं, और इसमें जो अधिक बोझिल चिह्न है, संभवतः वही इस अक्षर की ध्वनि को अधिक पूर्णता से व्यक्त करता है। यह भी संभव है कि **ड** का रूप सं. 4, स्त० 3, *a* के **ड** से ही मूर्धन्य को दायीं ओर खड़े वल लगाकर बना हो सं. 13, स्त० IV, *a* का रूप भी इसी प्रकार स्त० III, *a*, *b* के न से निकला है जिसमें नीचे की ओर जाती एक सीधी लकीर जोड़ दो

गई है। ऊपर 4, आ, 4 में ब्राह्मी **ऐ**, **ओ**, **न**, **ञ**, और **ण** के निर्माण में गृहीत या संजात चिह्न के गुण परिवर्तन के लिए छोटी लकीर के इस्तेमाल बारे जो कुछ कहा गया है उससे इसकी तुलना कीजिए।

3. **तालव्य ध्वनियां**—सं 13, स्त० IV, *b*, *c* का तालव्य ञ दो न (स्त० III, *a*) को जोड़ देने से बना है। (एड. टामस) यह आधुनिक भारतीय ञ और ण को दिखाता है। इन्हें पडित प्रायः बड़े नकार कहते हैं। इस चिह्न की लिपिकों को कोई जरूरत न थी। पंडितों की लिपि ब्राह्मी में यह चि ह्न था। शायद इसीलिए इसका निर्माण हुआ।

4. **स्वर-तात्राएं, संयुक्ताक्षरों में स्वराभाव और अनुस्वार**—दीर्घ स्वरों के लिए निशान नहीं हैं। ब्राह्मी की भाँति इसमें भी प्रत्येक व्यंजन में **अ** की ध्वनि अंतर्हित है। दूसरे स्वरों के लिए सीधी लकीरें लगाते हैं। **इ** की मात्रा की लकीर व्यंजन के सिरे वाली रेखा या रेखाओं के बायें से गुजरती है। **उ** की मात्रा में यह पैर के बायें होती है। **ए** की मात्रा के लिए लकीर सिर की रेखा के बायें उतर आती है। **ओ** की मात्रा में यह इस रेखा में लटकती रहती है। (दे० **ठो** सं. 20 स्त० IV, *d*)। इसके और ब्योरों के लिए देखिये 11, **आ** **अ** में यही चिह्न लगाकर **इ**, **उ**, और **ओ** बनते हैं (सं. 1, स्त० IV, *a-d*)। अनुस्वारों को छोड़कर दो असमान व्यंजनों में स्वर का अभाव ब्राह्मी की भाँति दो चिह्नों को मिलाकर संयुक्ताक्षर के द्वारा दिखलाते हैं। इसमें दूसरा अक्षर प्रायः पहले अक्षर के नीचे जोड़ा जाता है। किन्तु **र** अक्षर, चाहे इसका उच्चारण दूसरे व्यंजन के आगे हो या पीछे हमेशा दूसरे व्यंजन के पैरों में लगता है। अनुस्वारों को छोड़कर व्यंजन द्वित्व के लिए अकेले व्यंजन का और अल्प-प्राणों और महा-प्राणों के लिए केवल महाप्राणों का प्रयोग होता है। व्यंजन से ठीक पहले यदि अनुनासिक आता है तो उसे अनुस्वार से व्यक्त करते हैं। अशोक के आदेश-लेखों में इसे पूर्व की मात्रा में जोड़ देते हैं।

व्यंजनों में **अ** की अंतर्हित ध्वनि के लिए अलग चिह्न न लगाना और संयु-क्ताक्षरों के बनाने के नियम निःसंदेह ब्राह्मी से लिये गये हैं। इसमें थोड़ी रद्दो-बदल जरूर हुई है। यह भी संभव है कि **इ**, **उ**, **ए**, और **ओ** के लिए सीधी लकीरों का प्रयोग भी ब्राह्मी से ही लिया गया हो, क्योंकि अशोक के सभी आदेश-लेखों की ब्राह्मी में **उ**, **ए** और **ओ** के लिए सदा या बहुधा मामूली लकीरें लगाते हैं। गिरनार में **इ** के लिए उथला भंग बना देते हैं जो सीधी लकीर-सा ही दीखता है। दोनों में अंतर करना प्रायः कठिन होता है। ब्राह्मी में खरोष्ठी की तरह ही **इ**, **ए** और **ओ** की मात्राएं व्यंजनों के सिरों पर और **उ** की मात्रा पैरों में लगती है।

इसलिए दोनों के स्वरमात्राओं में परस्पर संबंध है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसमें मूल चिह्न ब्राह्मी का ही है क्योंकि जैसा कि 4, **इ**, 1 में दिखलाया गया है ब्राह्मी स्वर की मात्राओं के चिह्न के आद्य स्वरों से ही निकले हैं।

अ में स्वर मात्राएं लगाकर **इ**, **उ**, **ए** लिखने की विधि खरोष्ठी की अपनी विशेषता है। इसका कारण वर्णमाला को सरल बनाने की इच्छा हो सकती है। उत्तरकालीन भारतीय वर्णमालाओं में देवनागरी लिपि में **ओ** और **औ** में इसके उदाहरण मिलते हैं। गुजराती में **ए**, **ऐ**, **ओ**, **औ** भी इसी तरह लिखे जाते हैं। ब्राह्मी से निकली अनेक विदेशी लिपियों में, जैसे; तिब्बती में खरोष्ठी का सिद्धांत पूरी तरह विकसित हुआ है।

खरोष्ठी में सभी स्वरहीन अनुनासिकों के लिए ब्राह्मी की भाँति अनुस्वार का प्रयोग होता है। यह **म** से निकला है (टामस)। **मं**, सं. 12, स्त० IV, में **म** का पूरा रूप सुरक्षित है। किन्तु प्रायः घसीट में उसका रूप-परिवर्तन होता है, दे० आगे 11, **आ**. 5।

10. फलक 1 की खरोष्ठी के विभेद[113]

फलक 1 के अनुसार खरोष्ठी के 4 मुख्य विभेद हैं:—

1. **ई. पू. चौथी-तीसरी शती की पुरानी खरोष्ठी**—शाहबाजगढ़ी (आदेश-

---

113. फलक I निम्नलिखित रूप में तैयार किया गया है

1-37, स्त. I-V और 38, 39, स्त. I-XIII का अनुरेखण डा. बर्गेस के द्वारा अशोक के शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के आदेश लेखों की ली गयी छाप के सहारे डा. डेडेकाइंड ने तैयार किया है, जिसकी फोटो ली गई है।

1-37, स्त. VI, VII और 38-39 स्त. XIV के अनुरेखण को डा. कार्टेलियरी ने गार्डनर के द्वारा तैयार किये गये इंडो-ग्रीक सिक्कों के तद्-रूपों के सहारे बनाया है।

1-37, स्त. VIII, IX और 22-25, स्त. XIII को डा. बर्गेस द्वारा मथुरा के सिंहशीर्ष और तक्षशिला के ताम्रपट्ट की ली गयी छाप के सहारे बनाया गया है। तक्षशिला की ताम्रपट्ट के एक कोलोटाइप तो ए.इं. IV, 56, (10 और 14, स्त. VIII, और 25, स्त. XIII) में अब छप भी चुकी है।

1-37, स्त. X- XII, और 31-37, स्त. XIII, को डा. हार्नली की सुइ बिहार अभिलेख की प्रतिकृति के अनुरेखण से या उसे सामने रखकर

लेख VII का फोटो लिथोग्राफ त्सा.डे.मी.गे. 43, 151 और आदेश-लेख XII का ए. इं. i, 16 में) और मनसेहरा (आदेशलेख I-VIII के फोटो लिथोग्राफ ज० ए० 1888, II, 230,=से० नो. ए. इं. 1), अशोक के आदेश-लेखों में मिलती है, जिससे शिद्दापुर के अशोक आदेश-लेखों का हस्ताक्षर (फोटोलिथोग्राफ ए. इं. iii, 138-140), प्राचीनतम सिक्कों के लेख (प्रतिकृति क० क्वा. ऐ. इं. फल० 3, सं. 9, 12, 13) और ईरानी **सिग्लोई** (प्रतिकृति ज० ए. सो. 1895, 865 में) के अक्षर (syllables) एकदम मिलते हैं।

2. **ई. पू. द्वितीय-तृतीय शती की खरोष्ठी**—इन्डोग्रीक राजाओं के सिक्कों पर मिलती है, जिसकी नकल बाद के कुछ विदेशी राजाओं ने भी की है (प्रतिकृति गार्ड० **ब्रि० म्यू. कै.** फल० 4-21)।

3. **शक-काल की खरोष्ठी,** ई. पू. प्रथम शती से ईस्वी प्रथम शती (१) पटिक के तक्षशिला के ताम्रपट्ट (लिथोग्राफ, ज. रा. ए. सो. 1863, 222 फल० 3. कोलोटाइप, ए. इं. IV, 56) और क्षत्रय शोडास या शुडस के मथुरा के सिंह-शीर्ष तथा गांधार की कुछ मूर्त्तियों पर (प्रतिकृति ज. ए. सो. बं. LVIII, 144, फलक 10, Anzeig phil. hist. (Cl. WA 1896) कल्दवा पत्थर (त्सा.डे.कुं.मो. X 55, 327) और अनेक शक और कुषान राजाओं के सिक्कों पर खुदे अभिलेखों (अनुकृति गार्ड० वही, फल० 22-25) में मिलती है।

4. **पहली-दूसरी शती ई. (?) की अति घसीट खरोष्ठी**—इसका प्रारंभ गोंडोफरस के तख्त-ए-बाही के अभिलेख से (प्रतिकृति ज. ए. 1890, I,=से० नो. इं. 3 फल० 1, सं. 1) से होती है यही बाद के कुषान राजा कनिष्क और हुविष्क के अभिलेखों (अभिलेख की अनुकृति ज. ए. 1890, I=से० नो. ए. इं. 3, फल० से. 3, मानिक्याला पत्थर, ज० ऐ. 1896, I=से० नो. ए. इं. 6, फल० 1, 2, सुइ विहार अभिलेख, इ, ऐ. X 324, वर्डक कलश

[पूर्व पृष्ठ से]
तैयार किया गया है। कुछ चिह्न माणिक्यालाना प्रस्तर और ओल्डेनवर्ग द्वारा तैयार की गई वर्डक और बिमारन के कलशों की जिलेटिन प्रतियों से भी लिये गये हैं। 26-30, स्त. XIII गार्डनर के प्राचीन कुशान सिक्कों के तद्रूपों के सहारे हाथ से बनाया गया है।

1-20 स्त. XIII, XIV अंक अशोक के आदेश-लेखों और बाद के अभिलेखों के अनुरेखण या छाप के सहारे बनाये गये हैं।

खरोष्ठी वर्णमाला के इससे पहले के फलक प्रि., इं. स्ट. II, 166, फल. 11; वि., ए. ऐ., 262 क., इ. अ. (का. इं. इ. I) फल. 27; गार्डनर, **कै. इ. क्वा. ब्रि. म्यु.** पृष्ठ LXX; वान सैले,

का लिथोग्राफ, ज.रा.ए.सो. 1863, 256 फल० 10)[114] और खोतन की धम्मपद की प्रति में पूर्ण विकसित रूप में मिलती है दे० ऊपर 7 ।

11. पुरागत खरोष्ठी[115]

अ. मात्रिकाएं

1. जिन अक्षरों के आखीर में सीधी या तिरछी रेखा होती है उनका अंत दिखाने के लिए न्यून कोण बनाती ऊपर को उठती एक छोटी-सी लकीर बना देते हैं। (फल० I, 1. II ; 6, II, V; 7, II; 8, II; आदि) । यदि किसी अक्षर के अंत में दो तिरछी रेखाएं हों, जैसे **य** और **श** (34, II), तो यह उठती लकीर बायीं ओर को जोड़ते हैं। अशोक के मनसेहरा के आदेशलेखों में **ढ** में इसके बदले आधार बनाती एक सीधी लकीर बना दी गई है । (18,V)

2. **च** के तीन भेद हैं, (अ) जिसके सिर पर अधिक कोण है (10, I, II, IV) (आ) जिसके सिर पर भंग है (10, V); और (इ) जिसके सिर पर भंग है जो एक खड़ी लकीर के द्वारा धड़ से जुड़ा है (10, III) ।

3. इसी प्रकार **छ** का सिर भी कभी कोणीय होता है (11,I,IV) और कभी गोला (11, II) । परवर्ती **छ** की भांति इसमें कभी-कभी सिर के नीचे अर्गला नहीं होती ।

4. **ज** का पूरा रूप कम-से-कम एक बार शाहबाजगढ़ी में (12, I, V) और उससे अधिक बार मन्सेहरा में मिलता है, जहाँ एक बार (आदेशलेख V, 1, 24) डंडा पैर के बायें लगा है । **ज** के बायें की लकीर प्रायः घुमावदार होती है (12, III) ।

नैश्फोलगर अलेक्ज. डी. ग्री. (अंत); गौ. ही. ओझा **भा. लि.** फल. 26 पर है ।

114. खरोष्ठी अभिलेखों की दूसरी प्रतिकृतियाँ यहाँ मिलेंगी : (1) अशोक के आदेश लेख, ज. रा. ए. सो. 1850, 153; क, इं. अ. (का. इ. इं. 1) फल. 1, 2; क; आ. स. रि. V, फल. 5; से. इं. पि. 1 (अंत)); इ. ऐ. X, 107; (2) उत्तरकालीन अभिलेख, प्रि., इं. ऐ. 1, 96 (फल. 6), 144 (फल. 9, 162 (फल. 13); वि., ए. ऐ. 54 (फल. 2), 262; क., आ. स. रि. ii, 124, (फल. 59), 160 (फल. 63); V (फल. 16); 28; ज. रा. ए. सो. 1863, 222 (फल. 3), 238 (फल. 4), 250 (फल. 9), 256 (फल. 10) और 1877,1 44; ज. ए. सो. बं. XXIII, 57; XXXI 173, 532; XXXIX; 65; इ. ऐ. XVIII, 257; से., नो. ए. इ. सं. 3 (ज. ए., 1890, I, फल. 1, सं. 2) और 5 (ज. ए. 1894, II, फल. 5 सं. 34, 36) इनमें पिछले तीन को छोड़कर शेष सभी बेकार हैं ।

115. मिला.त्सा., डे. मी. गे. XLIII, 128 तथा आगे; 274 तथा आगे ।

5. ञ्ञ में दूसरा संक्षिप्त न (दे० ऊपर **9**, **आ**, 3) कभी दायें जुड़ता है (14, I, V) और कभी बायें (14, III, IV)। अक्षर का दायां भाग घसीट कर लिखने की वजह से खड़ी पाई में बदल जाता है, जैसा कि बाद के अभिलेखों में मिलता है (14, IX)।

6. **ट** का सामान्य रूप तो 15, I, II वाला ही है, किन्तु बाईं ओर का डंडा कभी-कभी दाईं ओर की अपेक्षा जरा नीचे लगता है (15, V, 38, II), या दोनों डंडे बाईं ओर ही लगते हैं (38, VI) या दाईं ओर का डंडा लगाते ही नहीं (मन्सेहरा में ऐसा सामान्यतः हुआ है), देखि. 15, III।

7. **त** (20) अधिकांशतया (31) **र** की अपेक्षा छोटा और चौड़ा होता है। इसकी दोनों रेखाएँ या तो लंबाई में बराबर होती हैं या खड़ी रेखा दूसरी की अपेक्षा छोटी होती है। 20, V जैसा रूप बिरले ही मिलता है।

8. **दि** (22, II) दो बार मिलता है, शाहबाजगढ़ी आदेशलेख IV, 1, 8, और मन्सेहरा आदेशलेख VII, 1, 33 में (त्सा.डे.मी.गे. में गलती से इसे **द्रि** पढ़ लिया है)। इसमें अक्षर के पैर **के** दाईं ओर भंग है। संभवतः इसका उद्देश्य **द** को **न** से अलग पहचानने के लिए है।

9. **ध** का वह रूप जिसमें अंत में बाईं तरफ ऊपर को जाती एक लकीर बनाई गई है, बिरले ही मिलता है। यह एक अनुषंगी विकास है (दे० ऊपर **9**, **आ**, 1)। 38, VIII (**ध्र**) में **ध** का जो रूप है वह मन्सेहरा से लिया गया है। यह रूप असामान्य है। इसमें जो दूसरा डंडा दीखता है वह बाईं ओर के अति तेज झुकाव के बदले लगा है (23, V)।

10. नतशिर **न** (24, III) **ने** में बिरला नहीं।

11. **म** (29, I) का अति खंडित रूप पुराने लटकन के अवशेष वाले रूप से अधिक प्रचलित है (मिला० ऊपर **9**, अ, सं. **12**)। स्वर-चिह्नों के साथ तो यही रूप मिलता है। यह रूप ऐसे ही संयोगों के कारण हैं भी।

12. अशोक के आदेशलेखों में उत्तरकालीन अभिलेखों वाला **ल** जिसमें बाईं ओर एक भंग है (32, VIII) बिरले ही मिलता है। मन्सेहरा के आदेशलेख VI, 1, 29 में यह रूप मिलता है।

13. 34, III का घसीट गोलाई वाला **श**, बहुत कम मिलता है। शाहबाजगढ़ी में एक बार आदेशलेख XIII, 1, 1 में **श** का ऐसा रूप मिलता है जिसे **य** से मुश्किल से अलग किया जा सकता है।

14. **स** के तिकोने सिर (36, II) और गोलाईदार सिर (36, I, III, IV) वाले रूप इसके पुराने बहुकोणीय रूप (36, V) को ही घसीटकर

लिखने से बने हैं। कभी-कभी **स** में लगने वाली खड़ी लकीर नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, मन्सेहरा आदेशलेख VI, 1, 27 में।

15. **ह** के सबसे प्रचलित रूप वे हैं जिनमें नीचे एक भंग (37, I, IV) या छोटा-सा हुक (37, III, V) रहता है। ये रूप **ह** के 37, II वाले रूप को ही घसीट कर लिखने की वजह से निकले हैं। दे० ऊपर **9**, अ, सं. 5.।

आ. स्वर-मात्राएँ और अनुस्वार

1. **इ** की मात्रा की लकीर हमेशा व्यंजन की आड़ी लकीरों के बायें भाग में उसे काटती हुई जाती है (6, III; 7, III; 15, II, III, आदि)। जिन अक्षरों में सिर पर दो आड़ी या तिरछी लकीरें होती हैं उनमें यह दोनों लकीरों को काटती हुई जाती है (14, III; 16, III; 38, III, VI, आदि)। इसी प्रकार **ण** में (19, X) यह सिरे की दोनों लकीरों को काटती हुई जा रही है। 'इ' कार (2, I), **दि** (22, II) और **नि** में यह सिरे के ठीक नीचे लगी है। **यि** (30, II) में यह बायें भाग में लटक रही है।

2. **ए** की मात्रा की लकीर **इ** की लकीर का प्रायः ऊपरी आधा होती है। इसका रूप और लगने का स्थान भी वही है (4, I; 6, IV; 12 II; 19, III आदि)। 'ए' कार में (4, II) यह **अ** के सिर के ठीक ऊपर भी हो सकती है।

3. **ओ** की मात्रा की लकीर की स्थिति **इ** की मात्रा की लकीर के निचले आधे की तरह है। पर यह **गो, घो** (9. II) और **सो** (36, IV) में ऊपरी भाग से बने कोण के और दायें जुड़ती है।

4. **उ** की मात्रा की लकीर हमेशा व्यंजनों में अक्षर के नीचे के अंत में बाईं तरफ जुड़ती है। लेकिन यदि नीचे के हिस्से में कोई भंग हो जो बाईं ओर को मुड़ता हो (**उ**, 3, II) या दाईं तरफ को मुड़ता हो (**दु**, 22, IV) या दाईं तरफ में हुक हो (**प्रु**, 25, V; **हु**, 37, IV) तो यह लकीर इससे जराऊपर हटकर लगती है। **सु** में यह **म** के सिरे की बाईं तरफ लगी है (दे० **स्रु**, 29, V)।

5. अनुस्वार के लिए कभी-कभी केवल मं में (29, IV) **म** का पूरा रूप मिलता है (दे० **9**, **आ**, 4)। अनुस्वार के लिए इससे अधिक प्रचलित तरीका घसीटकर एक छोटी-सी सीधी लकीर जैसे, **मं** (38, XI) में या **म** के दोनों बाजुओं में दो हुक बना देना है, जैसे **मं** (38, X) में। जिन व्यंजनों के अंत में एक तिरछी या खड़ी रेखा होती है उनमें अनुस्वार के लिए एक कोण बना देते हैं जो ऊपर को खुलता है, इसे अक्षर का पैर बीचों-बीच काटता है (8,

IV; 11, IV; 17, V; 19, V आदि) शाहबाजगढ़ी में तो बिरले ही, पर मन्सेहरा में उससे अधिक बार अनुस्वार के लिए एक सीधी रेखा मिलती है जैसे थं (21, V) में जो म के भंग के बदले आती है। यदि अक्षर के नीचे पहले से ही कोई दूसरा अनुलग्नक हो तो अनुस्वार खड़ी लकीर में उससे और ऊपर जाकर जुड़ता है; जैसे नं (14, V); डं (18, V), वं (33, V); हं (37, V) में। यं (30, V) और शं में कोणीय अनुस्वार दो भागों में बँट जाता है। पहला अद्धा मात्रिका के दायें किनारे और दूसरा बायें किनारे जुड़ता है। हं और भं (28, IV) में भी ऐसा हो सकता है।

इ. संयुक्ताक्षर

1. ष्ये (38, IX), ष्म (38, XII), और ष्य (38, XII, *b*) अक्षरों में कोई परिवर्तन नहीं दीखता या है भी तो अत्यल्प। किन्तु दूसरे संयुक्ताक्षरों में प्रायः किसी न किसी अक्षर का अंग-भंग हो जाता है।

2. र का उच्चारण कभी मात्रिका के पूर्व और कभी उसके पश्चात् होता है (मन्सेहरा आदेशलेख V, 1, 24 के र्ट को छोड़कर) इसके लिए इसके कुछ टूटे-फूटे रूपों (र्टि, 38, IV; र्ब, 39, I में) के अलावा (अ) एक तिरछी रेखा, जिसमें झुकाव हो भी सकता है और नहीं भी, संयुक्त व्यंजन की खड़ी लकीर के मध्य से उसे काटती हुई जाती है (जैसे ग्र, 38, I; र्ट, 38, II; र्टि, 38, III में); (आ) संयुक्त चिह्न के नीचे भंग या सीधी लकीर (र्टि, 38, V; क्र, 6, V; ग्र, 8, V; त्र, 20, V; ध्र, 23, V; 38, VIII; प्रू, 25, V; ब्र, 27, V; व्रं, 33, V, श्रू, 34, V; स्त्र, 39, VIII. IX) लगती है। म में रेफ हमेशा दायें सिरे पर लगता है, जैसे (29,V) में, क्रू और क्र और भ्र (28. V) में यह बहुधा अक्षरों के हुक के दायें किनारे पर लगता है। कभी-कभी खासकर मन्सेहरा में, सीधी लकीर की जगह ऊपर को खुला भंग भी मिलता है; जैसे थ्र में (21, IV)। निश्चय ही यह भंग या सीधी लकीर संयुक्त व्यंजनों के पैरों में जुड़ने वाले र का ही प्रतिरूप है।

3. व्रू (39, II) में दोनों व्यंजन एक-दूसरे में घुस गये हैं। इसमें खड़ी पाई व और र दोनों का काम दे रही है। संयुक्ताक्षर स्त के निर्माण में भी यही सिद्धांत काम कर रहा है। यह संयुक्ताक्षर शाहबाजगढ़ी आदेशलेख I, 1, 2, सेस्तमति में एक बार आया है इसमें स की खड़ी लकीर में त हुक की तरह जुड़ गया है। इसमें स का अंग-भंग भी हो गया है। इसके सिरे का मध्य भाग खुला ही है, पर बायें तरफ का हुक कट गया है। स्ति (39,V) और स्त्र, (39, IX)

में यह साफ-साफ दीखता है, पर **स्त** (39, III), **स्ति** (39, VI), **स्तु** (39, VII) और **स्त्रि** (39, VIII) का निर्माण लापरवाही से हुआ है। **स** और **प** का संयुक्ताक्षर भी इसी सिद्धांत से बनाया गया है, पर इसमें **स** का और अधिक अंग-भंग हो गया है। **स्प** (39, X) और **स्पि** (39, XII) में **प** की खड़ी लकीर के सिरे पर छोटा-सा हुक लगाकर ही **स** को इशारे से दिखला दिया गया है।[116] 39, XI के **स्प** में यह हुक **प** के पार्श्वांग में है।

4. 38, VII के संयुक्ताक्षर के दो अर्थ मालूम पड़ते हैं। शाहबाजगढ़ी आदेशलेख X, 1. 21, में यह चिह्न संस्कृत **तदात्वाय** का अर्थ प्रकट करने के लिए आया है। अशोक के आदेशलेखों की पालि में यह **तदत्वये** या **तदत्तये** होगा। मन्सेहरा में यह बार-बार संस्कृत **आत्मन्** के प्रसंग में आता है। कुषान अभिलेखों में संस्कृत **सत्वानां** के प्रसंग में वैसा ही चिह्न (31, XIII) आता है, इसलिए शाहबाजगढ़ी आदेशलेख X, 1, 21, में **त्व** के पाठ की संभावना प्रतीत होती है। इस प्रकार हमें यह मानना पड़ता है कि त के नीचे का भंग **व** के लिए है, जैसे कि (21, IV) में यह उसी प्रकार के **र** के लिए है। इस खुलासे की पुष्टि 30, XIII और 37, XIII के संयुक्ताक्षरों से हो जाती है। संभवतः ये **श्व** (**ईश्वर**) और **स्व** (**विसहरस्वामिनि**) हैं। मन्सेहरा में (खासकर आदेशलेख XII) में 38, VII के चिह्न को **त्म** ही पढ़ना पड़ेगा।[117]

12. बाद की खरोष्ठियों में परिवर्तन[118]

अ. मात्रिकाएं

1. खड़ी लकीर के नीचे जुड़ने वाली ऊपर को जाती हुई लकीर जो

---

116. O. Franke, *Nachr Gott, Ges. d. Wiss*, 1895, 540 और त्सा. डे. मी. गे. 1, 603, जिन चिह्नों को मैं **स्प** और **स्पि** पढ़ता हूँ उन्हें **फ** और **फि** पढ़ने का प्रस्ताव करते हैं।

117. **धम्मपद** की पांडुलिपि में यही चिह्न **त्व**, (**त्वा**) और **अत्म** (**आत्मन्**) के अमिश्रों के अंत में मिलते हैं। इससे हमारे खुलासे की पुष्टि होती है।

118. इंडो-ग्रीक सिक्कों के अक्षरों के लिए देखिए त्सा. डे. मी. गे. VIII, 193 तथा आगे; शक और कुशान लिपि के बारे में देखिए ज. रा. ए. सो. 1863, 238, फल. 4 (जहाँ प्रथम पंक्ति में **छ** को काट दीजिए। द्वितीय पंक्ति में **स** के स्थान पर **सि**, और **ठ** के स्थान पर **ट्ट** और तृतीय पंक्ति में **र्य** के स्थान पर **र्स** हो गया है तथा पंक्ति 4 में स्य का चिह्न संदेहास्पद है) तथा ओ. फैंके, त्सा. डे. मी. गे. 1, 602 तथा आगे।

व्यर्थ ही जुड़ती थी इंडो-ग्रीक सिक्कों पर यदाकदा ही मिलती है (7. VI; 20, VI; 36, VI), इससे अधिक बार यह चिह्न के बाएँ अलग से लगी मिलती है, जैसे अ (1, VI) और यहाँ तक कि ह (37, VI) में भी। घसीट में इसके लिए सामान्यतया एक बिंदी लगा देते हैं, जैसे ह में (37, VII); तुल० म (29, VII)। अंत में, इंडो-ग्रीक राजाओं के सिक्कों पर मिलने वाले अनेक अक्षरों; जैसे त (20, VII) और न (24, VII) में एक आड़ी आधार रेखा बनायी जाती है, (दे० ऊपर **11**, अ, 1) शक-काल की खरोष्ठी में अक्षरों की खड़ी लकीरों के नीचे कभी-कभी निरर्थक ही एक हुक, जैसे च (10, VIII) और स (36, IX) में लगाते हैं या दायें को एक लकीर बना देते हैं, जैसे षि (35, VIII) में। कुषान-काल की घसीट लिपि में भी वैसा ही एक हुक (ष, 35, या बायें एक आड़ी लकीर, जैसे अ (1, XI), क (6, X), ध (23, XI), न (24, XII), बि (27, XI), य (30,X) में और दायें-बायें दोनों तरफ भंग मिलता है जैसे, ख (7, X), च (10, XII), धि (16, XI), घि (9, X), ब (27, X), मि (29, XI) में जहाँ भंग स्वर की लकीर में जुड़ी है।

2. शक और कुषान-खरोष्ठियों में क के सिर में सामान्यतया भंग बनता है (6, VIII) और कुषान-खरोष्ठी में यह भंग क के पार्श्वांग से जुड़ा है, (देखि० 6, X)।

3. बाद की सभी खरोष्ठियों में ख के ऊपर का भाग जरा लंबा कर देते हैं और इसे दाईं ओर को झुका देते हैं (7, VI-XI; 39, XIV)।

4. शक-खरोष्ठी में 10, III से निकला च का एक घसीट रूप भी है। इसमें चिह्न के निचले भाग के बायें किनारे को ऊपरी भाग से एक छोटी-सी खड़ी लकीर के द्वारा जोड़ दिया गया है। इससे भी घसीट वाले ऐसे ही रूप कुषान-खरोष्ठी में भी खूब मिलते हैं, देखि० 10, X, और XII।

5. बाद की सभी खरोष्ठियों में छ में अर्गला नहीं मिलती। खड़ी लकीर थोड़ी तिरछी बनती है, इससे चिह्न मो की तरह दीखने लगता है।

6. बाद की खरोष्ठियों में ज का बायाँ पहलू करीब-करीब हमेशा गोलाईदार होता है। कुषान-खरोष्ठी में चिह्न के सिर को एक उथले भंग से दिखाते हैं, जिसके बाएं किनारे से अक्षर की खड़ी लकीर लटकती है (12, XI)। इसीसे विमारन कलश का फंदेदार ज (12, XII) निकला है। पूरा ज जिसमें पैर में एक डंडा आरपार या बाएं को जाता है, इंडो-ग्रीक सिक्कों पर मिलता है (12, VII)।

7. बाद की सभी खरोष्ठियों में ञ के एक बगल में खड़ी लकीर जरूर होती है (14, VIII, IX)।

8. शक-कालीन **ट** केवल एक जगह मिला है, संयुक्ताक्षर **स्टे** (22, XIII) में। इसमें **ट** का पुराना रूप ही सुरक्षित है जिसमें बाईं ओर एक डंडा लगता है; (मिलाइए 15, III । कुषान कालीन खरोष्ठी में दायें-बायें के दो डंडों 15, I) की जगह एक सीधी रेखा बनाते हैं जिससे **ट थ** बन जाता है, (15, X-XII)। **टु** (15, XI) में ऊपर की तरफ की छोटी लकीरें जैसा कि फ्लीट के सुइ बिहार अभिलेख की छाप से प्रकट होता है, ताँबे में जंग लगने की वजह से बन गई हैं। जिस शब्द में यह अक्षर आता है उसका ठीक पाठ **कुटुबिनि** है न कि **किछुबिनि** (हार्नली)।

9. बाद की सभी खरोष्ठियों में **ठ** (16, VIII, X, XI) के दूसरे डंडे के आखिर में लगने वाला हुक नहीं है।

10. इंडो-ग्रीक सिक्कों पर मिलने वाले **त** (20) का रूप **र** से बहुत मिलता-जुलता है। शक-अभिलेखों में यह **र** के आकार का तिहाई होता है। फिर, कुषान खरोष्ठी में भी दोनों अक्षर मिलते-जुलते हैं।

11. शक **दो** (22, IX) का **द** निश्चय ही 22, II के रूप से निकला है । 22, VIII और X के रूप अशोक के आदेशलेखों के सामान्य **द** से निकले हैं। इसके कुषान कालीन रूप (22, XI) में सिर पर नीचे की ओर एक अंतर्मुखी भंग है।

12. गोंडोफरस के अभिलेख और उसके और एजिलिसस के सिक्कों पर (गार्ड० ब्रि. म्यू. कै०. पृ. 94 सं. 22) एक विचित्र चिह्न मिलता है (26, X) जिसे **फ** पढ़ा गया है किन्तु संभवतः यह है **फ़** जैसा कि ओ. फैंके ने त्सा.डे.मी.गु. 1, 603 में कहा है।

13. कुषान-कालीन खरोष्ठी में **भ** के सिर की आड़ी रेखा के दायें किनारे एक खड़ी रेखा मिलती है। कभी-कभी सिर की लकीर पार्श्वांग से जुड़ी रहती है जैसे **कु** (6, XI) में।

14. इंडो-ग्रीक सिक्कों पर सामान्यतया **म** का पूरा रूप (29, VI) ही मिलता है। इसकी तिरछी लकीर के स्थान पर बाद के सिक्कों पर एक बिंदी मिलती है (29, VII)। शक और कुषान खरोष्ठियों के **मु** (29, IX, XII) में **म** बगल में है। अर्ध वृत्त का दायाँ भाग काफी ऊपर को उठ गया है और बायाँ नीचे को झुक गया है; तुलना कीजिए बाद के **मुं** (33, XIII) से।

15. कुषान-अभिलेखों में **य** की शक्ल प्रायः एक भंग या समचतुर्भुज की-सी रहती है, जिसके नीचे का हिस्सा खुला है (30, XI-XII)।

16. बाद की खरोष्ठियों में **ल** (32, VIII, X) का बायां भाग हमेशा गोलाईदार रहता है। कुषान-खरोष्ठी में यह हिस्सा प्रायः खड़ी लकीर के ऊपरी हिस्से से जुड़ा रहता है (32, XI, XII)।

17. उत्तर-काल में **व** (33, VIII, X) का सिर हमेशा गोलाईदार रहता है।

18. इसी प्रकार **श** (34, VIII, X) भी प्रायः गोला, **य** से मिलता-जुलता बनाते हैं।

19. उत्तर काल में **स** के सिर की बाईं रेखा जो उसे दुम से जोड़ती है, नहीं रहती। यह नया रूप कुषान-खरोष्ठी में बड़ा घसीट बन जाता है। दे० 36, XII।

आ. स्वर-मात्राएं और अनुस्वार

1. **इ** की मात्रा की लकीर प्रायः खड़ी लकीर को नीचे से काटती हुई चली जाती है; देखि० **इ** (2, VII, VIII, X), **दि** (22, XI), **नि** (24, XI), आदि। कुषान-खरोष्ठी में **मि** (29, XI) में इसमें एक हुक लग जाता है। इसी तरह **ओ** की मात्रा भी कभी-कभी खड़ी लकीर में नीचे की ओर जुड़ती है। दे० **रो** (31, XI), **हो** (37, XII)।

2. '**ए**'कार में **ए** की मात्रा की लकीर हमेशा **अ** के दायें लगती है (4, VI-VIII)। यह लकीर खिसकते-खिसकते एकदम नीचे तक भी पहुँच जा सकती है। बाद में नन्हीं लकीर एक बड़ी-सी झुकी रेखा भी बन जाती है (4, X, XII) या इसमें अंत में एक हुक लग जाता है (4, XI)। कभी-कभी **ए** की मात्रा व्यंजन चिह्नों के नीचे भी लगती है, जैसे; **शे** (31, IX, मथुरा सिंहशीर्ष से) में।

3. इंडो-ग्रीक सिक्कों पर **उ** की मात्रा-चिह्न अपने पुराने रूप में ही मिलता है। **जु** (12, VII) में आधार रेखा रहने की वजह से लकीर ऊपर की तरफ उठ गई है। इसी तरह **पु** (25, VII) में **प** में झुकाव होने के कारण भी रेखा ऊपर को उठ गई है। बाद में **उ** के लिए एक भंग या फंदा लगने लगता है, जैसे उ कार (3, VIII), **कु** (6, XI), **खु** (7, XI) आदि-आदि। **मु** (29, IX, XII) में भंग दायें को खुलता है।

4. अनुस्वार के लिए बगल में **म** का चिह्न लगाते हैं। यह चिह्न या तो मात्रिका से जुड़ता है, जैसे; **अं** (1, VII), **इं** (2, VII), **ठिं** (16, XI) में या बायें तरफ अलग ही रख दिया जाता है, जैसे, **यं** (30, VIII)

में, या नीचे भी रखा मिल सकता है (देखि० **महंतस**, तक्षशिला ताम्र-पट्ट की प्रथम पंक्ति)।

इ. संयुक्ताक्षर

१. इंडोग्रीक सिक्कों पर मिलने वाले संयुक्ताक्षरों में जैसे; **क्र** (6, VII), **ख्र** (39, XIV), **स्त्र** (38, XIV) में या शकों के अभिलेखों के संयुक्ताक्षरों में, जैसे; **ष्टे** (22, XIII), **ख्स** (25, XIII), **स्त** (23, XIII) में अक्षरों के रूप में बहुत कम परिवर्तन मिलता है। शकों और पुराने कुषानों के सिक्कों पर भी यही बात लागू होती है। पर इन पर कुछ नये योग मिलते हैं, जैसे; **प्स** (26, XIII), **र्म** (28, XIII); गार्डनर के कैटलाग के फल० 25, 1, 2 के **म** से इसकी तुलना कीजिए, **श्प** (29, XIII) जिसे ज्यादातर लोगों ने ग्रीक स्पलाइरिसेस की वजह से **स्प** पढ़ा है, **श्व** (30, XIII) जिसमें **व** एक भंग बन गया है (दे० ऊपर **11, इ**, 4) और कद्फिसेस में (27, XIII); पाठ संदेहास्पद है, इसका ऊपरी हिस्सा तो सीधा-सादा **पि** है पर नीचे का हिस्सा किसी भी ज्ञात चिह्न से नहीं मिलता।

2. घसीट कुषान-खरोष्ठी के अभिलेखों में संयुक्ताक्षरों में कुछ, जैसे; **ग्र** (8, XI), **भ्र** (28, XII) खरोष्ठी के पुरागत रूपों से हूबहू मिलते हैं। कुषान काल में **सर्व** में **व्र** (**र्व**) (39, I) का पुराना रूप ही मिलता है। संयुक्ताक्षर **त्व** (31, XIII) **त्श्** (32, XIII); गलत पाठ **त्स** और ष्क (35, XIII) और ष्टु (36, XIII) में अक्षरों के नये कुषान रूप मिलते हैं। किन्तु **स्व** (37, XIII) के **स** का बुरी तरह से अंग-भंग हो गया है। **र्य** (34, XIII), **र्व** (33, XII), **ष्य** (35, XII) और **स्य** (36, XII)[119] में फंदों का एक नया घसीट रूप बन गया है। ऐसे सभी शब्दों में जहां **स्त** आता है कुषान-अभिलेखों में **ठ** मिलता है (16, X, XI)। संभवतः दायें तरफ में डंडे का हटना घसीट लेखन की वजह से है (मिला० 23, XIII), जरूरत के मुताबिक इसे **स्त** और **ठ** दोनों पढ़ना होगा। धम्मपद की हस्तलिखित प्रति में ये दोनों चिह्न हैं।

---

119. ओ. फैंके. त्सा. डे. मी. गे. I, 604 में इसे **स्स** पढ़ने का प्रस्ताव करते हैं, किंतु मिला. 35, XIII, जो **ष्य** के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

III. प्राचीन ब्राह्मी और द्राविड़ी

[ई० पू० 350 से लगभग 350 ई० तक]

13. इसके पढ़ने की कहानी

लैसेन पहले विद्वान थे, जिन्होंने सन् 1836 ई. में इंडो-ग्रीक राजा अगाथोक्लिस के सिक्कों का लेख पढ़ा जो पुरानी ब्राह्मी के अक्षरों में था।[120] किन्तु 1837-38 में पूरी वर्णमाला को ही निश्चित करने का श्रेय जेम्स प्रिंसेप को है।[121] **उ** कार और **ओ** कार को छोड़कर उनकी तालिका एकदम सही है। प्रिंसेप के बाद ब्राह्मी के 6 लुप्त चिह्न भी मिल गये हैं। इनमें **ई, ऊ, श,** और ळ इस पुस्तक के फलक II पर दिये गये हैं। छठां चिह्न ङ है जिसे गया में ग्रियर्सन ने खोजा था। यह मेरी पुस्तक **इंडियन स्टडीज़** III, 2, पृ. 31, 76 और आगे **16, इ** पर मिलेगा। अशोक के संगतराशों ने गया में जो वर्णमाला खोदी है उससे ई. पू. तृतीय शती में **औ** के अस्तित्व का विश्वास होता है।[123] **ऊ** और **श** की पहचान सबसे पहले कनिंघम ने की थी।[124] **ष** के एक रूप की ओर सबसे पहले सेनार ने ध्यान आकर्षित किया था [125] और दूसरे रूप की ओर हार्नले ने।[126] ळ को मैंने सांची के दान-अभिलेखों में पाया था।[127] ई के लिए नीचे **16, इ,** 4 से तुलना कीजिए।

14. प्राचीन अभिलेखों की सामान्य विशेषताएं

ब्राह्मी और खरोष्ठी के प्रथम 600 वर्षों के रूपों का ज्ञान हमें पत्थरों, ताम्रपत्रों, सिक्कों, मुहरों, और अंगूठियों[128] पर खुदे लेखों से ही होता है। इसमें

---

120. क., आ. स. रि. I, XII

121. क. आ. स. रि. I, VIII-XI; ज. ए. सो. बं. VI, 460 तथा आगे।

122. ज. ए. सो. बं., VI, 223; प्रि., इ. ऐ. II, 40 फल. 39

123. बु., इं. स्ट. III, 2, 31.

124. क., इं. अ. (का. इं. इं. I) फल. 27.

125. से., इं. पि. I, 36.

126. ज. ए. सो. बं. LVI, 74.

127. ए. इं., II, 363.

128. ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. 10, XXIII.

स्याही के इस्तेमाल का केवल एक उदाहरण मिला है जो ई. पू. तीसरी या दूसरी शती का होगा।[129] इसलिए इस अवधि में अक्षरों का विकास पूरा-पूरा दृष्टिगोचर नहीं होता। पुरालिपि के क्षेत्र में जो भी गवेषणाएं हुई हैं उनसे यही पता चलता है कि अभिलेखों की लिपि रोजमर्रा के इस्तेमाल में आनेवाली लिपि से अधिकांश में पुरागत होती है क्योंकि अभिलेखों में चिरस्थायी सुगठित रूप रखने की ही इच्छा होती है। इसलिए आधुनिक अक्षरों के इस्तेमाल से बचा जाता है। सिक्कों में तो पुरानी चाल के सिक्कों की नकल की प्रवृत्ति और भी अधिक होती है। इसलिए स्वाभाविक ही इन पर अक्षर भी पुराने ढंग के ही मिलेंगे। अशोक के आदेशलेखों (दे०ऊपर पृ० १३) और बाद के अभिलेखों में भी अक्षरों के घसीट-रूपों के साथ-साथ पुराने रूपों का मिलना यह सिद्ध करता है[130] कि भारतीय लेखन-कला भी उपर्युक्त सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। पुस्तक-लेखन और व्यापार आदि के लिए इस्तेमाल में आने वाली अपेक्षाकृत अधिक विकसित लिपि के पुर्ननिर्माण के लिए अनेक घसीट अक्षरों का उपयोग संभव होगा।

भारतीय लेखन की वास्तविक अवस्था का पूर्ण अभिज्ञान इस वजह से भी नहीं हो पाता, क्योंकि दो अपवादों को छोड़कर शेष सभी अभिलेख या तो प्राकृत में है या एक मिश्र भाषा (गाथा उपभाषा) में और जिन मूलप्रतियों को देखकर ये पत्थर या तांबे पर खोदे गये थे, उनके लेखक मामूली क्लर्क या भिक्षु थे, जिनकी कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं हुई थी या अगर हुई भी थी तो नगण्य। प्राकृत में लिखने में इन लोगों ने प्रायः हमेशा (मिश्र भाषा में अपेक्षाकृत कम) सुविधाजनक चालू वर्त्तनी रखी है जिसमें दीघ स्वरों के संकेत, विशेषकर ई और ऊ की मात्राओं के अनुस्वार अमहत्त्वपूर्ण समझकर छोड़ दिये गये हैं। चालू वर्त्तनी में व्यंजन द्वित्व भी प्रायः एक ही व्यंजन से प्रकट किया जाता है, और महाप्राण से पूर्व का अल्प-प्राण लुप्त हो जाता है और स्वरहीन अनुनासिकों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाता है[131]। प्राकृत अभिलेखों में वर्त्तनी का यह तरीका ईसा की दूसरी शती तक चला आता है। पालि अभिलेखों में सतत व्यंजन-द्वित्व का प्रथम उदा-हरण बनवासी के राजा **हारितीपुत्त सातकण्णि** के अभिलेख में मिलता है। यह लेख हाल ही में एल. राइस को मिला है।[132] इसी राजा के एक अन्य अभिलेख

129. देखि. ऊपर **2, आ** (अंत).
130. बु., इ. स्ट. III, 2, 40-43.
131. देखि. ऊपर **7**.
132. श्री राइस की एक छाप और फोटोग्राफ के अनुसार। इन्हें भेजने के लिए मैं श्री राइस का आभारी हूँ ।

का पता और पहले से था। (इ.ऐ. XIV, 331) इसमें इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। इसके अतिरिक्त दूसरे प्राकृत-लेखों में, जिनमें कुछ अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन भी हैं, पंडितों की ध्वनिशास्त्र और व्याकरण-सम्मत हिज्जै का धुंधला आभास हमें मिलता है। अशोक के शाहबाजगढ़ी के आदेशलेखों में कभी-कभी **म्म**, (देखिए ऊपर **9**, **आ**, 4), नासिक अभिलेख सं. 14, 15 और कुड़ा सं. 5 में **सिद्ध** तथा कण्हेरी सं. 14 में **आध्यकेन** शब्द मिलते हैं।[133] नियमों में ऐसे अपवाद यह बतलाते हैं कि लेखकों ने अब थोड़ी बहुत संस्कृत सीख ली थी। इसका प्रमाण यह भी है कि जिस व्यक्ति ने कालसी के आदेशलेखों का मसौदा बनाया था वह **बम्भने** के स्थान पर पालि में बेतुके **बह्मने** शब्द का प्रयोग करता है (कालसी आदेश-लेख XIII, पंक्ति 39)।

घसुंडी (नागरी) के अभिलेख को छोड़कर मिश्र भाषा के सभी लेखों में व्यंजन द्वित्व के उदाहरण मिलते हैं। कभी-कभी तो वहाँ भी जहाँ इसकी जरूरत ही नहीं। पभोस सं. 1 में **बहसतिमित्त्रस** और **कश्शपीयानं** है। सं. 2 में **तेवणीपुत्त्रस्य** है। नासिक सं. ५ में **सिद्धम्** और कार्ले सं० 21 में **सेतफरण-पुत्रस्य** मिलते हैं।[134] मथुरा के जैन अभिलेखों में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं।[135] इस काल के केवल दो संस्कृत अभिलेखों का पता है। इनमें एक है रुद्रदामन की गिरनार-प्रशस्ति और दूसरा कण्हेरी सं. 11[136]। इनमें भी ध्वनि और व्याकरण सम्मत वर्त्तनी मिलती है। अनुस्वारों के प्रयोग में कुछ विशृंखलता जरूर है। उदाहरणार्थ; **प्रतानां** (गिरनार प्रशस्ति 1, 2), **संबंधा** (1, 12)। यह विशृंखलता चालू वर्त्तनी के प्रभाव का परिणाम है। किन्तु ऐसे प्रयोग पंडितों की लिखी अच्छी से अच्छी पुस्तकों में भी हैं। इसलिए वर्त्तनी की जिन विशिष्टताओं की अभी-अभी चर्चा की गई है, उनका लिपि के विकास से कोई संबंध नहीं है। इनसे तो यही पता चलता है कि आधुनिक काल की भाँति प्राचीन भारत में भी पंडितों की वर्त्तनी और क्लर्कों की वर्त्तनी में अंतर था और आज की भाँति ये दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती थीं।

एक दूसरी विशिष्टता[137] जो अनेक प्राकृत और मिश्र-भाषा में अभिलेखों

---

133. ब., आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 45 और 52; V फल. 51.

134. ए. इं. II, 242; ब., आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 52 और 54.

135. ए. इ. I, 371 तथा आगे; II, 195 तथा आगे

136. ब., आ. स. रि. वे. इं. II, फल. 14; V, फल. 51

137. बु. इ. स्ट. III, 2, 43, टिप्पणी 3.

में मिलती है वह है ऊष्म ध्वनियों के लिए प्रायः भ्रांतिमूलक चिह्नों का प्रयोग अशोक के कालसी, शिद्दापुर और बैराट सं० II के आदेशलेखों,[138] भट्टिप्रोलु कलशों, नागार्जुनी और रामनाथ के गुफा अभिलेखों[139] में और मथुरा के कुषान कालीन अभिलेखों में, यहाँ तक कि सिंहल के दो प्राचीनतम अभिलेखों में प्रायः **स** के लिए **ष** या **श** का, **ष** के लिए **श** और **श** और **ष** के लिए **स** का प्रयोग मिलता है। ऐसी विश्रृंखलता के कई कारण हो सकते हैं। एक तो यही कि क्लर्क आदि स्कूलों में जो वर्णमाला सीखते थे वह मूलतः संस्कृत के लिए बनी थी। संस्कृत में पुरानी प्राकृतों से अधिक ऊष्म ध्वनियाँ थीं। दूसरे जनता के एक बहुत बड़े वर्ग को व्याकरण की कोई शिक्षा नहीं मिलती थी। अतः इनके उच्चारण प्रमादपूर्ण होते थे।

पश्चिमी और दक्षिणी प्राकृतों में संभवतः आज की भाँति तब भी दोनों तालव्य और दन्त्य ऊष्म ध्वनियाँ थीं। संभवतः आज की तरह उस समय भी एक ही शब्द में इन दोनों ध्वनियों के परस्पर विनिमय होने की परंपरा थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि प्राकृतभाषी जनता में **श** और **स** के वास्तविक मूल्य का ज्ञान लुप्त हो गया। स्कूल की वर्णमाला में उन्होंने ष तो पढ़ा जरूर था, पर उनकी बोलचाल की भाषा में इसके अनुरूप कोई ध्वनि न थी। यह चिह्न उन्हें ऊष्म ध्वनि का लगा होगा। पुराने अभिलेखों में पाई जाने वाली इन भूलों का क्या कारण है इसका खुलासा संस्कृत के सर्वकालिक अभिलेखों—विशेषकर भूमि के दान-पत्रों से जिनके लेखक प्रायः क्लर्क ही हुआ करते थे, आधुनिक प्राकृतों की हस्तलिखित पोथियों, आधुनिक भारत के दफ्तरों के कागज-पत्रों में मिलता है, जहां ऊष्म ध्वनियों के प्रयोग में असंख्य भूलों के दर्शन होते हैं। इस स्पष्टीकरण की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यद्यपि इन विभाषाओं में **न** का प्रयोग ही संमत है पर **न** के लिए कभी-कभी **ण**[140] का प्रयोग भी मिलता है—एक बार धौली के आदेशलेख में और एक बार जौगड़ में। इन उदाहरणों में भी भूल का कारण यही है कि स्कूल में सभी **न** और **ण** दोनों अक्षर पढ़ते थे। जिन क्लर्कों ने इन लेखों का मसौदा बनाया था उन्होंन भी ये दोनों वर्ण पढ़े थे। इनमें प्रत्येक ने एक-एक बार भूल से अनावश्यक चिह्नों का प्रयोग किया। इस संबंध में दूसरा मत[141] यह है कि अशोक के आदेश-लेखों में ऊष्म ध्वनियों की

---

138. क., इं. अ. (का. इं. इं. I) फल. 14.
139. **वही**, फल. 15.
140. ब., आ. स. रि. वे. इं. I. 128, टिप्पणी 49; 129, टिप्पणी 33.
141. से., इं. पि. I, 33 तथा आगे; बा, ए. सा. इं. पै. 2, टिप्पणी 1

उलट-पलट से यह प्रतीत होता है कि ई. पू. तीसरी शती में ब्राह्मी के सभी चिह्नों का मूल्य पूरी तरह स्थिर नहीं हुआ था। इस मत का आधार यह अनुमान है कि ब्राह्मी का विकास संस्कृत के लिए नहीं बल्कि प्राकृत विभाषाओं के लिए हुआ था। पर अब यह अनुमान गलत सिद्ध हो चुका है।

15. फलक II और III की ब्राह्मी और द्राविड़ी के भेद[142]

फलक II और III में प्रथम काल की निम्नलिखित पन्द्रह लिपियाँ मिलती हैं :—

---

142. **फलक निम्नलिखित रूप में तैयार हुए हैं :**

फलक II

स्त. I : एरण के सिक्के की एक प्रतिकृति के सहारे बनाया गया है। मिला. क, क्वा. ऐ. इं. फल. II, सं. 18; अ पटना की मुहर (क., आ. स. रि. XV, फल. 2) से बनाया गया है।

स्त. II, III : कालसी की प्रतिकृति (ए. इं. II, 447 तथा आगे) से अक्षर काट लिए गये हैं।

स्त. IV, V, दिल्ली-शिवालिक की प्रतिकृति (इं. ऐ. XIII, 306 तथा आगे) से अक्षर काट लिए गये हैं।

स्त. VI, VII : जौगढ़ की प्रतिकृति (ब. आ. स. रि. सा. इं. I, फल. 67, 68, 69) से अक्षर काटकर; XX, VI, रधिया (ए इं. II, 245 तथा आगे) से; और XLIV, VII, ससराम की छाप के अनुसार बनाया गया है।

स्त. VIII-X: गिरनार की प्रतिकृति (ए. इं. II, 447) के अक्षर काटकर; 34, **र**, स्त. VII-VIII के बीच में, रूपनाथ (इ. ऐ., VI, 156) की प्रतिकृति से।

स्त. XI–XII : शिद्दापुर की प्रतिकृति (ए. इं. III, 134) से अक्षर काटकर; 44, XII बैराट सं. 1 की छाप के अनुसार; 45,XI, भरहुत की प्रतिकृतियों (त्सा. डे. मी. गे XL, 58 तथा आगे) के अनुसार।

स्त. XIII-XV : ए. इं. II, 323 तथा आगे की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर।

स्त. XVI : ज. ए. सो बं. LVI, 77, फल. 5 *a* की प्रतिकृतियों के अनुरेखण से।

1. दायें से बायें को लिखी जानेवाली एरण के सिक्के की ब्राह्मी (फलक II, स्त० I) । की संभावितः तिथि ई. पू. चौथी शती है ।

स्त. XVII : इ. ऐ. XX, 361 तथा आगे की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर ।

स्त. XVIII : इ. ऐ. XIV, 139 की प्रतिकृतियों के अनुरेखण से; 6 भरहुत सं. 98 की प्रतिकृति से त्सा. डे. मी. गे. XL, 58 से और 41 सांची स्तूप I, सं. 199 की प्रतिकृति से ।

स्त. XIX : ए. इं. II, 240 तथा आगे की प्रतिकृति के अक्षरों को लेकर ।

स्त. XXI, XXII : खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख की कनिंघम द्वारा तैयार किये गेग फोटोग्राफ के अनुसार बनाया गया है ।

स्त. XXIII-XXIV : ब. आ. स. रि. वे. इ. V, फल. 51, सं. 1, 2 की प्रतिकृतियों के अक्षरों को लेकर ।

फलक III.

स्त. I-II : ए. इं. II, 199, सं. 2 और 5 की प्रतिकृतियों से और ओरा कूप अभिलेख के कनिंघम के फोटोग्राफ से अक्षर काटकर । मिला. क., आ. स. रि. XX, फल. 5 से 4.

स्त. III-V : कुशानों के तिथिक अभिलेखों के अक्षर काटकर । ये अभिलेख ए. इ. I, 371 तथा आगे और II, 195 तथा आगे, पर प्रकाशित हैं ।

स्त. VI : ब., आ. स. रि. वे. इं., II, 128 फल. 14 की प्रतिकृति के सहारे ।

स्त. VII- XVI: ब., आ. स. रि. वे. इ. IV, फल. 51, सं. 19; फल. 52, सं. 5, 9 10, 18, 19; फल. 53, सं. 13, 14; फल. 55 सं. 22, फल. 48, सं. 3 की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर और स्त. XV का अनुरेखण फल. 45, सं. 5, 6, 11 से किया गया है ।

स्त. XVII, XVIII : ब., आ. स. रि. वे. इ., फल. 62, 63 की प्रतिकृतियों के अक्षर काटकर ।

स्त. XIX, XX: ए. इ. I, 1 तथा आगे की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर। काटे गये सभी अक्षरों की पृष्ठभूमि और अस्पष्ट लकीरें ठीक कर दी गई हैं।

2. अशोक के आदेशलेखों की पुरानी मौर्य-लिपि[143] (फलक II, स्त० II-XII) जो ईरानी सिग्लोई[144] और तक्षशिला आदि के पुराने सिक्कों पर[145] स्थानीय भेदों के साथ, और भरहुत स्तूप के बहुतांश अभिलेखों में (फलक. II, 6, XVIII; 45, XI), गया,[146] सांची,[147] और पारखम[148] में, पटना की मुहरों पर, सोहगौरा ताम्रपट्ट में[149] और घसुंडी या नागरी के पत्थरों पर (फलक. II, स्त० XVI) मिलती है। संभवतः यह ई. पू. की चौथी शती के कम-से-कम द्वितीयार्द्ध और ई. पू. तीसरी शती में प्रचलित थी।

3. भट्टिप्रोलु की द्राविड़ी (फलक II, स्त० XIII-XV), जो मौर्य ब्राह्मी के दक्षिणी विभेद से संबद्ध है पर जिसमें बहुत-से पुरागत रूप भी हैं। काल लगभग ई. पू. 200 ।

4. दशरथ के अभिलेखों की उत्तरकालीन मौर्य-लिपि (फलक. II, स्त० XVII)। इंडो-ग्रीक राजाओं अगाथोक्लीज और पन्टालियन के सिक्कों के अक्षरों से इसका घनिष्ठ संबंध है।[150] काल ई. पू. लग० 200-180।

5. भरहुत के तोरण की शुंग लिपि (फलक. II, स्त०XVIII) यह पभोस के अभिलेखों (फलक. II, XIX), भरहुत और सांची के स्तूपों की वेदिकाओं

---

143. मिला. अशोक के अभिलेखों की निम्नलिखित प्रतिकृतियाँ जिनका पा. टि. 142 में उल्लेख नहीं हुआ है पर वे पर्याप्त विश्वसनीय हैं : ब. आ. स. रि. वे. इ. II, 98 तथा आगे, गिरनार; इ. ऐ. XIII, 306 तथा आगे, प्रयाग; इ. ऐ. XIX,122 तथा आगे दिल्ली-मेरठ, प्रयाग का रानी का आदेश-लेख, प्रयाग-कोसांबी अभिलेख; इ. ऐ. XX, 364, बराबर की गुफाओं के अभिलेख; इ. ऐ. XXII, 299, सहसराम और रूपनाथ; ए. इ. II, 245 तथा आगे, मठिया और रामपुरवा; ए. इं. II, 366, सांची; ज. ए. 1887, I, 498, बैराट सं. 1; और ब. आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 5.

144. ज. रा. ए. सो. 1895, 865 (फल.).

145. क., क्वा. ऐ. इं. फल. 2, 3; फल. 8, सं. 1; फल. 10, सं. 20.

146. क., म. ग. फल. 10, सं. 2, 3

147. ए. इं. II, 366 तथा आगे की प्रतिकृतियाँ।

148. क., आ. स. रि. XX, फल. 6

149. ए. सो. बं. मई-जून 1894 का कार्यवृत्त फल. I.

150. गार्डनर, कै. इ. क्वा. ब्रि. म्यू. फल. 3-4.

के उत्तरकालीन दान-लेखों[151], मथुरा के प्राचीनतम अभिलेखों[152] (फलक II, स्त० XX) रीवा अभिलेख[153] आदि[154] से मिलती-जुलती है। काल ई. पू. दूसरी से पहली शती।

6. कटक (हाथीगुंफा) की गुफाओं की प्राचीनतर कलिंग लिपि (फलक II, स्त० XXI, XXII) ई. पू. लग० 150।

7. नानाघाट के अभिलेख की पश्चिमी डेक्कन की पुरागत लिपि (फलक II, स्त० XXIII, XXIV)। नासिक सं. 1, पितलखोरा और अजंटा सं. 1, 2[155] में भी यही लिपि है। काल--ई. पू. लग० 150 से प्रथम शती ई. तक।

8, 9. उत्तरकालीन उत्तरी लिपियों की पुरोगामी लिपियों, उत्तरी क्षत्रप शोडास के अभिलेखों और मथुरा के पुरागत चढ़ावे वाले अभिलेखों की लिपि (फलक III, स्त०I, II); काल--ई. पू. प्रथम शती से ईसा की प्रथम शती (?) तक और कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के समय की कुषान लिपि काल--ईसा की प्रथम और दूसरी (?) शती।

10-15. उत्तरकालीन दक्षिणी लिपियों की पुरोगामी लिपियाँ--पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामन के समय की काठियावाड़ की लिपि (फलक III, स्त. VI); समय 150 ई.; क्षत्रप नहपान के समय की पश्चिमी डेक्कन की पुराने प्रकार की लिपि, (फलक. III स्त. VII), समय द्वितीय शती ई. का प्रारंभ (?); उसी जिले की अपेक्षाकृत और आधुनिक-सी दीखने वाली (बहुधा दक्षिणी विष्टिताओं का धुंधला-सा आभास ही मिलता है) नहपान (फलक. III, स्त. VIII, IX), आन्ध्रराजा गोतमीपुत सातकणि (स्त. X), आंध्र राजा पुलुमावि (स्त. XI), आंध्रराजा गोतमीपुत सिरियञ्ञ सातकणि (स्त. XII),

---

151. फल. त्सा. डे. मी. गे. XL, 58 तथा आगे; ए. इं. II, 366 (स्तूप I सं. 288, 377, 378 की प्रतिकृतियाँ)

152. मिला. **सिक्स्थ ओरियंटल कांग्रेस**, 3, 2, 142 का फलक

153. इ. ए. IX, 121

154. मिला. क., क्वा. ऐ. इं. फल. 4, सं. 8-15; फल. 5; फल. 8 सं. 2 तथा आगे; फल. 9 सं. 1-5; क., म ग. फल. 10, सं. 4; ब., आ. स. रि. वे. इं. IV फल. 44, भाजा सं. 1-6, कोंडाणे।

155. ब, आ स. रि. वे. इं. IV, फल 44, पितलखोरा, सं 1-7; फल 51, नासिक सं 1

नासिक सं. 20 (स्त. XIII) और आभीर राजा ईश्वरसेन (स्त. XIV) के समय की लिपि, समय ईसा की दूसरी शती; कुड़ा और जुन्नार के अभिलेखों (स्त. XV, XVI) की उसी जिले की आलंकारिक ब्राह्मी जिसमें दक्षिणी ब्राह्मी की विशेषताएँ और उभर कर आई हैं, काल—ईसा की दूसरी शती; जग्गयपेठ से प्राप्त पूर्वी डेक्कन की अति आलंकारिक ब्राह्मी (स्त. XVII, XVIII), काल—तीसरी शताब्दी ई. (?); और पल्लव राजा शिव-स्कंदवर्मन के प्राकृत के दानपत्र की प्राचीन घसीट लिपि (स्त. XIX-XX), काल—चौथी शताब्दी ई. (?)।

16. पुरानी मौर्य-लिपि : फलक II

अ. भौगोलिक विस्तार और उसके प्रयोग की अवधि[156]

पुरानी मौर्य-लिपि का इस्तेमाल सारे भारत में था। सिंहल में भी कम-से-कम ई. पू. 250 के लगभग इसकी पहुंच हो गई थी, क्योंकि राजा अबय गामिनि के समय के दो सिंहली अभिलेखों[157] में, जो संभवतः ई. पू. दूसरी शती के अंत या पहली शती के शुरू के हैं, जो अक्षर मिलते हैं उनका विकास अशोक के अभिलेखों के अक्षरों से हुआ मालूम पड़ता है। दक्षिणी बौद्ध परंपराओं से पता चलता है कि अशोक और सिंहल के तिस्स में घनिष्ठ संबंध था। इससे यही संभव प्रतीत होता है कि सिंहल में ब्राह्मी लिपि मगध से गई होगी। लेकिन यह भी संभव है कि अशोक से पहले के उन भारतीयों ने सिंहल में ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया हो जो वहीं जाकर बस गये थे।[158]

निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि मौर्य-लिपि का प्रारंभ कब से होता है। किंतु ईरानी **सिग्लोई** पर मिलने वाले कुछ अक्षरों की शक्ल से (दे. ऊपर **15**, 1) यही संभव प्रतीत होता है कि इसके कुछ अपेक्षाकृत विकसित रूप भी भारत में अखमनी शासन के अंत (ई. पू. 331) से पहले विद्यमान थे। इसके प्राचीनतम प्राथमिक रूप तो निस्संदेह इससे भी काफी पुराने हैं जैसा कि उपरि-चर्चित परंपराओं से भी संभाव्य प्रतीत होता है। मौर्य-लिपि की निचली सीमा अशोक के शासन काल के अंत (ई.पू. 221) से बहुत दूर नहीं रही होगी। यह

156. मिला बु इं स्ट. III, 2, 49 तथा आगे।

157. ई. मूलर **ऐंसि. इन्स. फ्राम सिलोन** फल. I.

158. मिला. एम. डी. जिल्वा विक्रमसिंघे, ज. रा. ए. सो. 1895, 895 तथा आगे।

सीमा ई. पू. 200 के लगभग ही होगी। अशोक के पोते दशरथ के अभिलेखों और इंडो-ग्रीक राजा पैंटालियन और अगाथोक्लीज के सिक्कों के लेखों से इस अंदाज की पुष्टि होती है।[159] दशरथ के लेख उसके अभिषेक के अनन्तर (**आनंतलियं अभिषितेन**) संभवतः ई. पू. तीसरी शती के अंत के ठीक आस-पास खोदे गये थे और पटालियन और अगाथोक्लीज का शासन-काल ई. पू. दूसरी शती का प्रारंभ है।[160] नागार्जुनी गुफालेख (फलक. II, स्त० XVII) के अक्षरों को अशोक के आदेशलेखों के अक्षरों से तत्काल अलग किया जा सकता है। नागार्जुनीकोंडा के लेखों में **ज, त, द, ल** अक्षर काफी विकसित हैं और इनमें खड़ी लकीरें काफी छोटी हो चुकी हैं। यह विशिष्टता दोनों इंडो-ग्रीक राजाओं के सिक्कों के लेखों में भी मिलती है। इनमें उत्तरी ज (फलक II, 15, III) का और विकास हो चुका है। यद्यपि छोटे अक्षर अशोक के आदेश-लेखों में भी मिल जाते हैं (दे. पृ. १५ की तालिका) किंतु अभिलेखों में निरंतर छोटे अक्षर मिलना तो अबतक के ज्ञात प्रमाणों से दूसरी और बाद की शताब्दियों के अभिलेखों की ही विशषता है। मेरा विश्वास है कि लंबी खड़ी लकीरों वाले सभी अभिलेख ई. पू. तीसरी शती के हैं और छोटी खड़ी लकीरों वाले सभी लेख उसके बाद के हैं।

आ. स्थानीय विभेद

अशोक के आदेशलेख जिन परिस्थितियों में खोदे गये थे उनमें उस काल के सभी स्थानीय विभदों का मिलना संभव नहीं। सभी लेख पहले पाटलिपुत्र में लिखे जाते थे और फिर प्रांतों के राज्यपालों के पास भेजे जाते थे। इससे काफी अड़चनें आई होंगी। इनके व्याकरणिक रूपों में अंतर मिलते हैं और मूल पाठ में भी थोड़ी बहुत रद्दोबदल है। इससे पता चलता है कि पत्थरों पर इन्हें खोदने से पहले इन आदेशों की नकल प्रांतीय क्लर्क तैयार करते थे। स्वाभाविक बात यह थी कि राजुक जिन कारीगरों को इन्हें खोदने के लिए देते थे, वे मूल प्रति को ही आधार बनाकर चलते थे और उसी के अक्षरों की नकल अनिच्छा से या प्रधान कार्यालय के प्रति आदर के भाव से कर देते थे। यह भी जरूरी नहीं कि ये क्लर्क सदा स्थानीय निवासी ही रहे हों। इससे स्थानीय

159. ला., इं. आ. II, 2, 257 तथा आगे।

160. वान सैले **नैशफोलगर अलेक्जा.** **दि. ग्रेट**, 31; गार्डनर, **कैट. इंडि. क्वा. ब्रि. म्यू.** XXVI.

विभेदों के इस्तेमाल का लोप या रूप परिवर्तन हो गया होगा। इसमें कोई शक नहीं कि अशोक के द्वारा नियुक्त अधिकांश राज्यपाल मागध ही रहे होंगे, क्योंकि मगध ही मौर्यों का गढ़ था। इनका एक-से-दूसरे प्रांतों में स्थानांतरण भी होता था। भारतीय रियासतों की सिविल सेवा से परिचित लोग यह जानते हैं कि बड़े अधिकारी जब किसी नये पद का भार लेते हैं तो वे अपने पुराने कर्मचारियों को, कम-से-कम उनमें से कुछ को तो अवश्य ही अपने साथ ले जाते हैं। एशिया के देशों की यह प्राचीन परंपरा देशी रियासतों में अभी तक सुरक्षित है। इस प्रकार, निश्चय ही अशोक के द्वारा नियुक्त राज्यपाल भी अवश्य ही अपने साथ अपने पुराने कर्मचारियों को ले जाते रहे होंगे। शिद्दापुर के आदेशलेखों के लेखक पड का उदाहरण इस अनुमान की पुष्टि करता है। वह खरोष्ठी जानता था। इससे प्रकट होता है कि मैसूर में वह उत्तर भारत से गया होगा।

ये बातें स्थानीय विभेदों के पूर्ण विकास के अनुकूल नहीं। फिर भी अशोक के आदेशलेखों से कम-से-कम दो, शायद तीन विभेदों का पता चलता है। एक उत्तरी ब्राह्मी है और दूसरी दक्षिणी। बाद में भी इसी आधार पर लिपि के दो विभेद मिलते हैं। बिन्ध्य या हिंदुओं के अनुसार नर्मदा इनके बीच विभाजन-रेखा का कार्य करती है। दक्षिणी ब्राह्मी गिरनार और शिद्दापुर के आदेशलेखों में सबसे अधिक उभर कर आई है, धौली और जौगड़ के आदेशलेखों में यह कम स्पष्ट है। इनमें **अ, आ, ख, ज, म, र, स, इ** की मात्रा और **र** के संयुक्ताक्षरों में अंतर है (दे. नीचे **इ, ई,** के अंतर्गत)। ऐसे कुछ उत्तरी और दक्षिणी अभिलेख लीजिए जिनमें निकट का संबंध हो और इनके अक्षरों की तुलना कीजिए। इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि फर्क आकस्मिक नहीं है। यदि शिद्दापुर और गिरनार के अभिलेखों के सभी अक्षर सदा आपस में नहीं मिलते तो इसका कारण यह है कि शिद्दापुर के अभिलेख का लिपिकार पड औदीच्य था या वह उत्तर के किसी दफ्तर में रह चुका था।

उत्तरी ब्राह्मी में भी लेखन एक रूप सदा नहीं मिलता। प्रयाग, मथिया, निग्लीव, पडेरिया, रधिया, और रामपूरवा के स्तंभ-लेखों का एक वर्ग है, जिनकी लेखन-प्रक्रिया में परस्पर घना संबंध है। इनमें यदा-कदा ही कुछ छोटे-मोटे अंतर दिखायी पड़ते हैं। बैराट सं. 1, सहसराम, बराबर, और साँची के आदेश-लेखों में भी अधिक अंतर नहीं है। धौली के पृथक आदेशलेख (इनमें आदेशलेख VII का लिखने वाला वह व्यक्ति नहीं है जिसने अन्य आदेश-लेख लिखे हैं), दिल्ली-मेरठ आदेश-लेख, और प्रयाग के रानी के आदेशलेख इनसे थोड़े अलग दीखते हैं, क्योंकि—इनमें **द** का कोणीय रूप मिलता है।

कालसी के चट्टान आदेशलेखों की एकदम विशिष्ट और इनसे एकदम भिन्न लेखन शैली है। इनके कुछ अक्षर अगाथोक्लीज और पैंटालियन के सिक्कों के कुछ अक्षरों से मिलते-जुलते हैं (किंतु जौगड़ के आदेशलेखों के अक्षर भी इनसे मिलते हैं)। इस प्रकार कह सकते हैं कि पुरानी मौर्य लिपि का एक उत्तरी-पश्चिमी विभेद भी था।[161]

इ. मात्रिकाएं

अशोक के आदेशलेखों में ही खड़ी लकीर वाले अक्षरों में यदा-कदा लकीर मोटी होने लगती है या ऊपरी हिस्से में शोशे लगने लगते हैं, जैसे **छ** (फलक. II, 14,II), **प** (28, VII) में। **ए** इं. II, 448 और ब., आ. स. रि. सा. इं. 1, 115 में दिये गये उदाहरणों से तुलना कीजिए।

(1, 2.)[162] ऊपर पृ. १३ पर **अ आ** के जो 8 रूप दिये गये हैं, उनके अलावा एक नवाँ रूप भी फलक के स्तंभ XI में हैं। इसके ऊपरी हिस्से में एक खुला समचतुर्भुज है (मिला० म, 32, XI, XII)। दसवाँ रूप शिद्दापुर आदेश-लेखों में मिलता है। यहां के आदेश-लेख 1, पंक्ति 2, 3 के **अ** में कोण खड़ी लकीर से अलग है। स्त. VII, XI के **अ** के रूपों में खड़ी लकीर झुकी हुई है। ऊपर और नीचे के हिस्से अलग-अलग लिखने की वजह से ऐसा हुआ है। खड़ी लकीर में ऊपर दाईं ओर स्वर की लंबाई जताने के लिए एक नन्हीं-सी लकीर बना देना गिरनार (स्त. VIII, IX) की विशिष्टता है।

(3.) **इ** के स्त. III, IV वाले रूप ही सामान्य रूप हैं। स्त. X का रूप जो गुप्तकालीन और बाद के रूपों से मिलता है, दुर्लभ रूप है।

(4.) **ई** अक्षर विरले ही मिलता है। गया में कारीगरों ने जो वर्णमाला खोदी है उससे अनुमान होता है कि ई. पू. तीसरी शती में यह अक्षर वर्तमान था। यह महाबोधि गया के अभिलेखों (फलक. 10. सं. 9, 10) में भी मिलता है। इसे कनिंघम ने इं पढ़ा है क्योंकि यह अक्षर संस्कृत के **इन्द्र** की अभिव्यक्ति के प्रसंग में आया है। यद्यपि यह पाठ भी हो सकता है पर मैं इसे असंभव मानता हूं क्योंकि तब हमें **इ** के एक ऐसे रूप की जिसमें एक सीध में दो बिंदु और बायें के ऊपर तीसरा बिंदु, (∴ हो) कल्पना करनी पड़ती है जो अभी तक कहीं मिला नहीं।

---

161. मिला. बु., इ. स्ट. III, 2, 36 तथा आगे।

162. खंड, **इ** में कोष्ठकों में दिये गये अंक फल. II की क्रमसंख्या हैं, मिला. 16, **इ. ई. उ.** के लिए मिला. बु. इं. स्ट. III, 2, 58 तथा आगे।

बाद में (दे० फलक. VI, 4, V, VII) चतुर्भुज के कोण ऊपर और नीचे की रेखा की ओर हो जाते हैं।

(5, 6) हुल्श (त्सा. डे. मो. गे. XL, 71) स्वीकार करते हैं कि सं. 6, XVIII का चिह्न ऊ की भाँति लगता है पर वे इसे **ओ** पढ़ना ही पसंद करते हैं। इसका जो भाषाशास्त्रीय कारण वे देते हैं। ई. मूलर (*Simplified Pali Grammer* पृ. 12 तथा आगे) उसे अनावश्यक मानते हैं। ई. पू. तीसरी शती में ऊ के होने का अनुमान कारीगरों की गया की वर्णमाला से होता है।

(7) ऊपर पृ. २३ पर एक तुलनात्मक तालिका दी है। इसमें संख्या 16, V, *b* **ए** है। इसके अलावा भी घोड़े की नाल की शक्ल का एक **ए** होता है (कालसी आदेशलेख V, 16 आदि)। स्त. XXII का **ए** आधा गोल है। यह रूप साँची स्तूप 1, सं. 173 में भी मिलता है। स्त. XXI पर **ऐ** है कारीगरों की गया वर्णमाला से अनुमान होता है कि ई. पू. तीसरी शती में यह वर्ण था। धौली और जौगड़ के स्तं. VI के **ओ** के लिए ऊपर **4**, **आ**, 4, *a* (क) देखिए।

(9) छुरे के आकार वाला **क** अशोक के आदेशलेखों के सभी पाठों में बहुधा, पर गिरनार में बिरले ही मिलता है।

(10) **ख** के सात रूप मिलते हैं। इनमें स्त. II (कालसी) और स्त. VI (जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों और भरहुत स्तूप के अभिलेखों) का रूप सबसे पुराना है। इससे सबसे पहले स्त. III (कालसी और भरहुत) का उत्तरी **ख** निकला जिसमें दाईं ओर एक फंदा है। साथ ही एक रूप और भी निकला जो स्त. XVIII के समान ही है। यह जौगड़ पृथक् आदेशलेख I, 1, 4 में मिलता है। इसके बाद **ख** का स्त. IV, V का वह रूप निकला जिसमें एक झुकी खड़ी लकीर और उसके नीचे एक बिंदी मिलती है। **ख्य** सं. 43, V के **ख** में नीचे एक त्रिभुज है। इसकी उत्पत्ति भी उत्तरी है। इसे महाबोधि-गया फलक 10 सं. 3 से और भरहुत से मिलाइए। स्त. III के प्राथमिक रूप से ही **ख** का एक और रूप निकला जो स्त. VII, IX–XII में मिलता है। इसमें खड़ी लकीर एकदम सीधी है और उसके नीचे एक बिंदी लगी है। यह गिरनार, शिद्दापुर, धौली और जौगड़ की दक्षिणी तथा प्रयाग, दिल्ली, मेरठ, मथिया, रधिया, रामपूरवा और बैराट सं 1 की उत्तरी, दोनों शैलियों में मिलता है। स्त. VIII के **ख** में एक सादा हुक लगा है। बिंदी नहीं है। यह रूप दक्षिणी शैली में ही मिलता है, खासकर गिरनार में बहुत मिलता है।

(11) **ग** के मूल रूप में सिरा नोकदार था, पर कभी-कभी यह अक्षर गोलाईदार भी मिलता है, स्त. IV, VI, X-XII।

(12) **घ** का भी मूल रूप कोणीय था। यह कभी-कभी कालसी (स्त. III) और जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों में मिलता है।—यहीं मैं कारीगरों की गया की वर्णमाला से ङ का भी उल्लेख करना चाहता हूँ। यह खोज तब हुई जबकि इस पुस्तक के फलक बन चुके थे। **इंडियन स्टडीज** III, 2, पृष्ठ 31, 76 से तुलना कीजिए।

(13) दुमदार प्राथमिक (दे. ऊपर 4, अ, 18) साँची स्तूप I, सं. 269 और 284 (ए. इ. II, 368) में भी मिलता है।

(14) दो असमान अर्द्धों वाला स्त. VI, VII का **छ** का इसका प्राथमिक रूप है। यह पहले एक वृत्त बन जाता है जिसे खड़ी रेखा बीच से काटती है, स्त. III, IV। इसीसे बाद का स्त. II और गया की वर्णमाला का रूप बनता है, जिसमें दो फंदे लगते हैं। यही इसका सामान्य रूप है।

(15) **ज** के जितने भी रूप हैं वे द्राविड़ी **ज** (स्त. XIII--XVI) से निकले हैं। इन्हें दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं; (अ) मूलतः **उत्तरी रूप**; जिसमें एक फंदा लगा है, यह रूप स्त. III (कालसी और मथिया) में है; या जिसमें एक बिंदी लगी है, स्त. IV, V (प्रयाग, दिल्ली-शिवालिक, दिल्ली-मेरठ, बैराट सं. 1, निग्लीव, पड़ेरिया, धौली, जौगड़ और शिद्दापुर); या जिसमें मध्य में एक लकीर है, स्त. II (कालसी, जौगड़ पृथक् आदेशलेख, सहसराम और रूपनाथ), और (आ) **दक्षिणी रूप**, स्त. VIII, X, XI, XVI (गिरनार, धौली, जौगड़, और घसुंडी) और स्त. IX (गिरनार में)।

(18) अधवृत्ताकार **ट** के अलावा अक्सर ही ऐसे रूप मिलते हैं जिनमें ऊपरी या निचला या दोनों भाग चिपटे हो गये हैं, जैसे स्त. II, XI, XVI में।

(20) स्त. III की गोली पीठ वाले **ड** की तुलना प्रयाग के रानी के आदेशलेख की पंक्ति 3 के **डि** के रूप से भी कीजिए।

(23) स्त. III और 43, III (तु) के प्रारंभिक **त** से जिसे अक्सर बगल से घुमा देते हैं (पृ० २३, V, b की तुलनात्मक तालिका देखिए) दो रूप निकलते हैं: (क) स्त. IV, V, XVI और स्त. VI और 43, स्त. II (ति) वाला रूप जिसमें पार्श्वांग गोला है; (ख) स्त. XI का **त** का रूप जिसमें खड़ी रेखा के ठीक नीचे कोण होता है। इसी से स्त. XII का वह तृतीयक रूप भी निकला प्रतीत होता है, जिसमें कोण के बदले अर्धवृत्त है। यह रूप बाद म बहुत प्रचलित हुआ।

(25) गोलाईदार स्त. II, III के प्राथमिक रूप से द के दो रूप निकले हैं : (क) स्त. IV, V (दिल्ली-मेरठ, दिल्ली-शिवालिक, प्रयाग, कोसांबी आदेशलेख, और प्रयाग का रानी का आदेशलेख) का कोणीय रूप और (ख) स्त. VII, IX (गिरनार, जौगड़ आदि, दुर्लभ ही) का घसीट रूप।

(26) स्त. V-VII का ध का रूप ही मूल रूप है। यह दिल्ली-शिवालिक (दुर्लभ ही) और जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों में (निरंतर) मिलता है।

(28, 29) प और फ स्त. XII और VI के कोणीय रूप अनेक पाठों में यत्र-तत्र मिल जाता है।

(30) पृ. २३ की तुलनात्मक तालिका के सं. 2, V, *a* वाला ब का रूप कालसी और अन्य पाठों में दुर्लभ नहीं है।

(31) भ के स्त. XVI का दाईं ओर सीधी लकीर वाला और स्त. VI (जौगड़ के पृथक आदेशलेख) के गोली पीठ वाला माध्यमिक रूप भरहुत (निरंतर), साँची (प्राय:) बराबर और कालसी में भी मिलते हैं।

(32) म का वह रूप जिसमें सिर पर एक अर्ध-वृत्त बनता है माध्यमिक है। यह सोहगौरा ताम्र-पट्ट के अलावा उत्तरी अभिलेखों में सर्वत्र मिलता है। सोहगौरा के म में खुला सम चतुर्भुज है। यह शिद्दापुर स्त. XI, XII के म की तरह है। म के जिस प्राचीनता रूप में वृत्त के ऊपर कोण बनता था, स्त. VIII-X, वह दक्षिणी रूप है। यह रूप गिरनार (केवल यहीं) और धौली और जौगड़ (बिरले ही) तक सीमित है।

(33) स्त. IV, V, VII, XI का खाँचेदार य या तो निरंतर या मुख्य रूप में दिल्ली-शिवालिक, दिल्ली-मेरठ, मथिया, रधिया, रामपूरवा निग्लीव, पड़ेरिया, और कालसी में मिलता है। किंतु गिरनार में य का वही रूप सामान्य है जिसमें नीचे एक भंग है, स्त०. VIII, X, XI, इस के अलावा स्त. IX का कोणीय रूप भी कभी-कभी मिलता है। खाँचेदार य लिखने के लिए पहले बाईं ओर का आधा बनाते हैं फिर दाईं ओर का आधा जोड़ते हैं। नीचे भंग वाला य लिखने में खड़ी रेखा और भंग अलग-अलग बनाते हैं। यह बात शिद्दापुर के आदेशलेख सं. 1 की पंक्ति 4 के इयं में देखी जा सकती है।

(34) पृ. २३ की तुलनात्मक तालिका के सं. 20, V, *a* और *c* के र के रूप भी देखिए। घसुंडी स्त. XVI में कार्क के स्क्रू की तरह का र और रूपनाथ (स्त. VII, VIII के बीच) का तृतीयक, लगभग सरल रेखा-सा र दोनों इसी अक्षर के उत्तरी घसीट रूप मालूम पड़ते हैं।

(35) स्त. III, V का कोणीय ल अधिकांश पाठों में क्वचित् मिलता

है । स्तं. VII का रूप एकदम घसीट है और यह जौगड़ के पृथक् आदेशलेख तक ही सीमित है ।

(36) पृ. २३ की तुलनात्मक तालिका का सं. 19 (कालसी) का **व** का आधुनिक-सा रूप भी देखिए । शिद्दापुर का स्त. XII का **व** जिसमें निचला हिस्सा मोटा हो गया है और स्त. XVI का कोणीय **व** दोनों रूप दूसरे पाठों में भी कभी-कभी मिलते हैं । स्त. IX का **व** तो ऐसा है मानो **च** को घुमाकर दायें से बायें उलट दिया गया हो । यह सोहगौरा की दूसरी पंक्ति के **वेसगमे** में मिलता है ।

(37) पृ. २३ की तुलनात्मक तालिका का V, c का चौड़ी पीठवाला **श** भी देखिए । और इसकी तुलना कालसी आदेशलेख XIII, 1, पंक्ति 35, 37, 38; 2, पंक्ति 17, 19 के **श** से कीजिए ।

(38) स्त. II, III में कालसी के चिह्न का अनुमित पाठ दिया गया है जिसका आधार सेना. इ. पि. 1, 33 है । **ष** जिससे बाद के रूप निकले हैं वह स्त. XVI में है ।

(39) **स** का सीध पार्श्वांग वाला प्राथमिक रूप केवल दक्षिण (शिद्दापुर और गिरनार) में सुरक्षित है । स्त. VII का घसीट रूप कालसी में भी मिलता है ।

(40) पृ. २३ की तुलनात्मक तालिका की सं. 5, V, *a* का **ह** का रूप संभवतः प्रारंभिक रूप है । कालसी में भी यह रूप मिलता है । स्त. VII का **ह** का घसीट रूप जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों तक ही सीमित है । प्रयाग-कोसांबी आदेशलेख की प्रथम पंक्ति के **महमात** में इसका कुछ दूसरा ही घसीट रूप मिलता है ।

(41) ई. पू. तीसरी शती के जितने अभिलेखों का पता है उनमें ळ नहीं मिलता । स्त. XVIII के सांची के ळी में ळ निस्संदेह ई. पू. दूसरी शती का है । सं. 20 स्त० VI (रधिया) के **ड** को ही जिसमें नीचे एक बिंदी लगी है शायद ळ पढ़ना पड़ेगा । यह चिह्न दिल्ली-शिवालिक, मथिया, और रधिया में (आदेश. V) संस्कृत **दुड़ी** या **दुली** और मथिया और रधिया में **द्वादश** के अर्थ वाले शब्द में मिलता है जो प्राकृत में **दुवाडस** हो जाता है । यह बिंदी **ख** और **ज** की भाँति वृत्त का ही प्रतीक हो सकती है । यदि **ड** का यह परिवर्तित रूप ळ के लिए इस्तेमाल में आता था तो यह चिह्न कोणीय **ड** से करीब-करीब उसी तरह निकला होगा जैसे बाद का ळ गोली पीठ वाले **ड** से निकला (देखिए ऊपर 4, **आ**, 6) ।

ई. स्वर मात्राएं और अनुस्वार

1. उत्तरकालीन मात्रा की तरह **आ** की मात्रा के लिए पहले एक सीधी लकीर लगती थी। अब यह लकीर ऊपर की तरफ उठने लगी है, जैसे कालसी में (उदाहरणार्थ देखि. ञा, 37, III) या कभी-कभी दूसरे पाठों में भी। **खा** (10, V, VI), **जा** (15, VI आदि), **टा** (19, II), **ठा** (18, II), **था** (24, II) में **आ** की मात्रा की लकीर अक्षर के बीच में लगती है। भरहुत में 15, XXI की तरह का भी **जा** मिलता है।

2. इ की कोणीय मात्रा (उदाहरणार्थ **खि**, 10, II) गिरनार में हमेशा (दे. **घि**, 21, IX) और जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों में बिरले ही एक उथला भंग बन जाती है। यह **खि** (10, VIII), **नि** (27, IX), और दूसरे अक्षरों में जिनके अंत में खड़ी रेखा होती है अक्षर के बीच में लगती है। अक्सर ही यह **आ** की मात्रा की-सी दीखती है। कालसी आदेशलेख VIII, 2, 10 के **ति** (43, II) में इ की मात्रा दो बार व्यंजन के बाईं ओर लगती है। प्रयाग आदेशलेख I (अंत) के **ति** और सोहगौरा ताम्र-पट्ट की चौथी पंक्ति के **हि** में भी इसी तरह लगती है।

3. गिरनार की **ई** की मात्रा प्रायः एक उथला भंग होती है जिसे एक खड़ी लकीर बीचों-बीच काटती है (**द**, 25, IX) किन्तु **टी** (18, IX) में इसमें दो खड़ी लकीरें हैं और **थी** में दो तिरछी।

4. **उ** की पूरी मात्रा **उ** अक्षर का ही तद्रूप है। यह कालसी के **धु** (26, III) में कई बार मिलती है। इसे **कु** (9, V), **गु** (11, IX), **डु** (20, VII), और अन्य अक्षरों में भी जिनके अंत में खड़ी रेखा होती है पहचानी जा सकती है। यह रेखा बाद में व्यंजन का एक भाग भी बनी रहती है और स्वर का भी काम करती है। नीचे इसी खंड के **उ** भाग के (1) के अंतर्गत संयुक्ताक्षरों के प्रसंग में टिप्पणी देखिए। दूसरे स्थानों में इसके गौण रूप मिलते हैं; जैसे, (क) **धु** (26, II), **पु** (28, II) आदि में खड़ी रेखा मिट जाती है; (ख) **तु** (23, V), आदि में खड़ी लकीरं मिट जाती है। **तु** में **उ** की मात्रा की लकीर ऊपर उठ जाती है, जैसे, 23, VIII, और 43, III में; फलक III, 21, XIX के उत्तरकालीन **तू** से तुलना कीजिए।

5. **ऊ** की मात्रा भी **ऊ** अक्षर की तद्रूप थी। इसका पता उन अक्षरों की **ऊ** की मात्राओं से चल जाता है जिनके अंत में खड़ी लकीर होती है, जैसे **भू** (31, X) में। इनमें भी खड़ी लकीर दोहरा काम कर रही है। किंतु स्वर की

अभिव्यक्ति अधिकांश रूप में दो लकीरों से होती है जो या तो समांतर होती हैं, जैसे, **धू** (26, X) और **यू** (33, VII) में या अन्य रूप में जैसे **पू** (28, VIII, XVI) में।

6. **गे** जैसे चिह्नों में हुक की शक्ल की **ए** की मात्रा के अवशिष्ट वर्तमान हैं। ऊपर से थोपा त्रिभुज पहले इसी रूप में सिकुड़ा (दे. ऊपर **4**, इ. 1)। **खे** (10. **गे** III), (11, III) और **ग्ये** (42, VII) में **ए** की मात्रा की लकीर नीचे की ओर बायें से दायें झुक रही है। इसका निर्वचन भी इसी प्रकार करना होगा। **जे** (15, VII), **टे** (18, V), **ठे** (19, XII) और **थे** (24, XII) में मात्रा दूसरी ओर बीच में लगी है। **खे** में यह प्रायः हुक के बाएं जुड़ती है।

7. **ऐ** की मात्रा **त्रै** (23, IX) और **थैं** (24, X), दोनों गिरनार में, और **मै** (32, XII, शिहापुर) में ही मिलती है।

8. **ओ** की मात्रा में **ओ** अक्षर का मूल रूप पूर्णतया सुरक्षित है (दे. ऊपर **4**, **इ**, 1)। बाद में इस मात्रा का एक घसीट रूप विकसित होता है जिसमें दो डंडे एक ही ऊंचाई पर लगते हैं, जैसे **गो** (11, V, दिल्ली-शिवालिक) और **हो** (40, V, दिल्ली-शिवालिक) तथा ईरानी **स्लिग्लोई** के **यो** में। **मो** (32, VII, X; जौगड़ पृथक् आदेशलेख, मथिया, रधिया और गिरनार) में **ओ** की मात्रा इसी तरह बनी है। इसका एक दूसरा रूप भी है जिसमें दोनों डंडे मध्य में एक-दूसरे के उलट लगते हैं। इससे पता चलता है कि ई. पू. तीसरी शती में तुल्य रूप **मा** और **मे** उसी प्रकार वर्त्तमान थे जैसे उत्तरकाल में; देखिए फलक III, 30, X, XVII कालसी आदेशलेख V, पंक्ति 14 के **नो** में **ओ** की मात्रा फंदेदार है। यह फलक III, 33, XX के **लो** की **ओ** मात्रा और बाद के चिह्नों से मिलती है।

9. अनुस्वार प्रायः पूर्वगामी मात्रिका के मध्य में दूसरी तरफ लगता है, जैसे **मं** (32, VIII) में। किंतु **इ** की मात्रा के साथ दिल्ली-शिवालिक, दिल्ली-मेरठ, मथिया, रधिया, जौगड़ और धौली में यह सदा स्वर के कोण के बीच लगता है, जैसे **टिं** (18, VI) में। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें बाद की तरह यह मात्रिका के ऊपर भी लगता है। कभी-कभी यह अक्षर के नीचे भी उतर आता है, जैसे **मं** (32, II) में, देखि. **4**, **आ**. 2 (**च**)।

(उ.) संयुक्ताक्षर

अशोक के आदेशलेखों (42, II-VII, X-XII; 43, V-VIII,

XI, XII; 44, III-VII, XI, XII; 45 IV, V, X), भरहुत और घसुंडी (42, 43, XVI) में सामान्यतया संयुक्ताक्षरों में दोनों व्यंजन अपने प्रकृत क्रम से एक-दूसरे के नीचे रख दिये जाते हैं और इनमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता। किन्तु कभी-कभी, जैसे **क्या** (42, II, IV), **वये** (42, III), **ग्या** (42, VI), **ग्ये** (42, VII) में एक ही खड़ी रेखा दोनों अक्षरों में उभयनिष्ठ होती है। आजकल भी यह प्रणाली प्रचलित है, जैसे, **क्व, क्त** आदि में। ऊपर **11**, इ, 3 के खरोष्ठी संयुक्ताक्षरों से मिलाइए।

2. किंतु इससे बड़ी अनियमितताओं के भी उदाहरण हैं, खासकर गिरनार में, जहां (क) दूसरे चिह्न का कभी-कभी काफी अंग-भंग हो जाता है या उसे खूब घसीटकर लिखते हैं, जैसे **व्य** (44, II), **म्य** (44, VIII), **स्टि** और स्तु (45, VIII, IX) में; (ख) सहूलियत के लिए[163] कभी-कभी दूसरा चिह्न पहले रख देते हैं (गिरनार और शिह्बापुर), जैसे, **स्ता, स्टि** (42, VIII, IX), **त्य, त्पा** (43, IX,X), **व्या** (44, X?); और (ग) **र** से बनने वाले संयुक्ताक्षरों में **र** का चिह्न या तो दूसरे अक्षर की खड़ी लकीर में जुड़ता है (गिरनार और शिह्बापुर दोनों में), जैसे **क्र** (9, X); **त्रं** (23, X); **द्र** (25, XII); **ब्र** (30-X); **व्र** (36, X); **स्रु** (39, X); में; या (केवल गिरनार में) संयुक्त चिह्न के सिर पर एक छोटे-से हुक के रूप में जुड़ता है, जैसे, **त्रै** (23, IX) **प्र, प्रा** (28, IX, X) आदि में। **र** का उच्चारण हे व्यंजन के पहले हो या बाद में इसका स्थान हमशा वही रहता है। इस प्रकार 36, X को **र्व** और **व्र** दोनों पढ़ा जा सकता है । **ब्र** (30, X) में **र ब** के बायें की खड़ी लकीर में लगा है। यह प्रणाली शायद तब से चली आ रही है जब दायें से बायें को लिखते थे। नहीं तो इसे दायें की खड़ी पाई में लगना चाहिए था।

17 भट्टिप्रोलु की द्राविड़ी : फलक II

भट्टिप्रोलु की द्राविड़ी का भारतीय लेखनकला के इतिहास में क्या मूल्य है यह मैं बता चुका हूं। दे. पृष्ठ १४। इसके विलक्षण चिह्नों का खुलासा भी मैं दे चुका हूं (ऊपर **6**, अ, 3, 7, 12, 15, 18; **आ 5**, इ 5; और **इ**, 2) अब हम यह बतलायेंगे कि फलक II, 38, XIII—XV के हमारे पाठ का

---

163. ओ फैंके **गुरुपुजाकौमुदी** का विचार है कि इन्हें **ट्सा, ट्स्ट** पढ़ना चाहिए जैसा ये लिखे गये हैं।

आधार क्या है। मेरा निश्चित मत है कि मूलतः इसका मूल्य **ष** था। इसमें कोई शक नहीं कि यह ऊष्म ध्वनि की अभिव्यक्ति करता है और द्राविड़ी का आविष्कार भी ब्राह्मी की भाँति संस्कृत लेखन के लिए ही हुआ था (दे. **6**, इ, 2)। संस्कृत की तीन ऊष्म ध्वनियों में हम तालव्य (37, XIII, XIV) और दंत्य (39, XIII, XIV, XV) को आसानी से पहचान सकते हैं। इसलिए तीसरा चिह्न केवल मूर्धन्य ष के लिए होगा। यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है कि भट्टिप्रोलु के प्राकृत के अभिलेखों में--जहाँ यह चिह्न मिलता है, मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि का उच्चारण भी होता था या नहीं, या कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह चिह्न क्लर्कों ने **श** या **स** के उच्चारण के लिए ही प्रमादवश लिख दिया। वर्तमान में तो इस समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं दिया जा सकता। यदि कृष्णा जिले की प्राचीन प्राकृत के बारे में हमें कुछ और ज्ञान होता तो शायद हम इसका उत्तर दे सकते थे। किंतु **शमणुदेसानं** (भट्टिप्रोलु, सं. X) में **श** के सही प्रयोग से यही पता चलता है कि इस विभाषा में दो ऊष्म ध्वनियाँ अवश्य थीं। इसलिए संदेह केवल यही हो सकता है कि कहीं **श** के लिए ही तो **ष** नहीं लिख दिया गया है, मथुरा के जैन अभिलेखों में बहुधा ऐसा मिलता भी है (मिला. ए. इं. 1. 376) या यह मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि ही तो नहीं है? द्रविड़ी की प्रकृति के बारे में एक बात का उल्लेख विशेषण करना जरूरी है। वह यह है कि कई बार इसके चिह्नों में--जो ब्राह्मी से मिलते-जुलते हैं--दक्षिणी शैली की विशिष्टताओं के दर्शन होते हैं। इसे हम निम्नलिखित में देख सकते हैं: (1) कोणीय **अ, आ**; (2) **ख** (10, XIII, XV), गिरनार की तरह इसमें केवल खड़ी लकीर है, जिसके सिर पर एक हुक लगा है; (3) **ध**, जिसका स्थान वही है जो जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों या नानाघाट के अभिलेखों में **ध** का है; (4) **म**, जिसे यद्यपि सिर के बल उलट तो दिया गया है, पर वह गिरनार के **म** के कोण को सुरक्षित रखे है; और (5) **स** में, जिसका पार्श्वांग गिरनार की भाँति सीधा है।

पत्थर के वर्त्तनों के साथ मिलने वाले क्रिस्टल प्रिज्म पर खोदे इस लेख में (सं. X) सामान्य ब्राह्मी ही मिलती है (अपवाद केवल **द** है जो दायें को खुलता है)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कृष्णा जिले में भी एकमात्र द्राविड़ी का ही इस्तेमाल नहीं होता था, बल्कि सामान्य पुरानी भारतीय लिपि के साथ-साथ इसका भी प्रयोग होता था। अब तक मिले अभिलेखों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसलिए निश्चित रूप से यह बतलाना असंभव है कि इस लिपि का विस्तार कहां तक था। इसी तरह इसके प्रयोग का समय और उसकी अवधि निर्धारित करना भी कठिन है। कुबीरक या खुबीरक (कुबेर) नामक राजा का पता किसी दूसरे

स्रोत से नहीं चलता। इसलिए हमें पुरालिपिक अनुमानों की ही शरण लेनी पड़ती है जो कभी ध्रुव-सत्य नहीं हो सकते। ये चिह्न ब्राह्मी से मिलते-जुलते हैं। इससे पता चलता है कि ये अशोक के तत्काल बाद या ई. पू. 200 के आस-पास के होंगे। अक्षरों की लंबी खड़ी लकीरें, हमेशा गोला **ग** और सदा सीधी लकीरों वाला **र**, ये सब इसी अनुमान की पुष्टि करते हैं।

18. फलक II की अंतिम चार लिपियां

दशरथ के अभिलेखों के अतिरिक्त, जो संभवतः ई. पू. तीसरी शती के अंत के ही हैं (दे. ऊपर **16**, **अ**)। केवल कलिंग राज चेत खारवेल (स्त. XXI, XXII) और आंध्र की रानी नायनिका के नानाघाट गुफा के अभिलेख ही ऐसे हैं जिनकी तिथि स्थूल रूप में बतायी जा सकती है। खारवेल का अभिलेख ई. पू. 157 और 147 के बीच खोदा गया होगा, क्योंकि इस राजा का तेरहवाँ वर्ष 'मौर्य-काल' के 165 वें वर्ष में पड़ता है।[164] इससे नानाघाट के अभिलेख की भी तिथि निश्चित हो जाती है। खारवेल के अभिलेख की चौथी पंक्ति से पता चलता है कि अपने शासन के दूसरे वर्ष में उसने पश्चिम के राजा सातकणि की सहायता की थी। यह सातकणि संभवतः वही है जिसका उल्लेख पुराणों में प्रथम आंध्र राजा के रूप में आया है। इसकी एक मूर्त्ति नानाघाट की गुफा में मिली है जिस पर लेख खुदा है। बड़ा वाला लेख सातकणि की विधवा ने तब खुदवाया था जब वह अपने कुमार की ओर से शासन कर रही थी। इसलिए इसकी तिथि ई. पू. 100 से बहुत बाद की नहीं हो सकती।[165]

भरहुत के स्तूप के तोरण पर धनभूति ने 'शुंगों के राजकाल' में जो लेख खुदवाया था (स्त. XVIII) उसकी तिथि निर्धारित करने में भी प्रायः एक-मात्र सहायक पुरालिपिक प्रमाण ही हैं। यही बात पभोस की गुफा के अभिलेखों (स्त. XIX) और मथुरा के सबसे पुराने दान लेखों के बारे में भी सत्य है। इन सब लेखों में (देखि. ऊपर **15**, 5) शुंग शैली की प्राचीन ब्राह्मी मिलती है। स्त. XVIII, XIX के अक्षर कुछ तो लहुरे मौर्य अक्षरों से मिलते हैं और

---

164. **सिक्स्थ ओरियंटल कांग्रेस** III, 2, 149; मिला. *Ostreichiesche Monatsschr fur d. Or.* 1884, 231 तथा आगे।

165. **सिक्स्थ ओरियंटल कांग्रेस**, III, 2, 146; भंडारकर, **अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन** II, 34 का मत इससे भिन्न है। वे सातकणि को ई. पू. 40 और 16 ई. के बीच रखते हैं।

कुछ कलिंग-लिपि से। इसलिए संभवतः ये ई. पू. दूसरी शती के हैं। स्त० XX के अक्षर ई. पू. प्रथम शती के होंगे, क्योंकि इनमें अ, आ, (1, 2) की खड़ी लकीरों के निचले हिस्से बढ़ गये हैं; अ (37) की पीठ चौड़ी हो गई है, ळ (41) का रूप घसीट वाला है, और द्र (42) में र बाएँ को मुड़ गया है और ये सब लक्षण इन्हें बाद की रचना बतलाते हैं।

ऊपर (**16**, अ) में इस बात की चर्चा की गई है कि इस काल के अक्षरों में खड़ी रेखाओं का ऊपरी हिस्सा छोटा होने लगता है। यह प्रवृत्ति इन चारों लिपियों में समान रूप से वर्त्तमान है। कुछ फुटकल उदाहरण ही ऐसे हैं जिनमें यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। अक्षरों का चौड़ा होना, या **ग, त, प, भ, य, ल, स** और **ह** के निचले भागों का चौड़ा होना ऐसी विशेषताएं हैं जो केवल अंतिम लिपियों में ही मिलती हैं। ऊपरी खड़ी लकीरों के सिरों का मोटा होना, और तथाकथित शोशों का इस्तेमाल केवल शुंग और कलिंग लिपियों की विशिष्टताएं हैं। जिस में बाद की लिपियों का विकास हुआ, उनकी प्रवृत्तियों के दर्शन केवल स्त. XX के अक्षरों में ही नहीं होते, अपितु गोले **ड** (20, XXII, XXIII) में, जो दक्षिणी शैली की प्रमुख विशेषता है, **ञ** में, जिसमें ऊपर की आड़ी रेखा में भंग है (22, XVIII, XIX), अंशतः वा पूर्णतः कोणीय **म** में (32, XIX, XXII); **की** (9, XXII), **बी** (30, XXII), और **वी** (36, XXIV) की अर्धवृत्तीय **ई** की मात्रा में, और **गो** (11, XXIV), **ठो** (19, XXIV), और **थो** (24, XXIV) की **ओ** की मात्रा में भी जो अलग से लगी है, इसके बीज वर्त्तमान है। **पौ** (28, XVIII) में फलक की एकमात्र **औ** की मात्रा मिलती है जो भी ध्यान देने लायक है।

जहाँ तक इन शैलियों के भौगोलिक विस्तार का प्रश्न है लहुरी मौर्य लिपि केवल उत्तर-पूर्व (बिहार) की ही नहीं है, अपितु उत्तर-पश्चिम में भी चली गई है। इसके **ज** और **ब** अक्षर दो इंडो-ग्रीक राजाओं के सिक्कों पर भी मिलते हैं जिसकी चर्चा (ऊपर 15, 4) में हो चुकी है। कलिंग लिपि तो दक्षिणी-पूर्वी तट की है और नानाघाट के अभिलेखों की शैली दक्षिणी-पश्चिमी है। शूंग शैली संभवतः मध्य देश की लिपि की प्रतिनिधि है। किंतु इसका विस्तार पश्चिम में भी हुआ है क्योंकि वैसे ही या उससे बहुत मिलते-जुलते अक्षर महाराष्ट्र प्रदेश की गुफाओं म भी मिलते हैं। दे. 15, 5, टिप्पणी 153।

इन लिपियों का प्रयोग कब से कब तक रहा, यह बतलाना मुश्किल है। इंडो-ग्रीक सिक्कों से पता चलता है कि लहुरे मौर्य अक्षर ई. पू. दूसरी शती के

प्रथमार्ध में प्रचलित थे ।[166] खारवेल के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में भी कलिंग-लिपि दिखाई पड़ती है ।[167] यदि बर्गेज ने पितलखोरा[168] की गुफाओं की जो तिथि निर्धारित की है वह सही है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नानाघाट के अभिलेखों की लिपि ईसा की पहली शती तक इस्तेमाल में आती रही ।

19. उत्तरी ब्राह्मी की पुरोगामी लिपियां

अ. उत्तरी क्षत्रपों की लिपि : फलक III

मथुरा के जैन अभिलेखों में (फलक II, स्त. XX) शुंग-शैली का आखिरी रूप मिलता है। इसकी अगली कड़ी उत्तरी क्षत्रपों की लिपि है। यह महाक्षत्रप राजुवुल या रंजुबुल और उसके बेटे शोडास या सुडास के सिक्कों पर और उनके अभिलेखों में मिलती है। रंजुबुल और शोडास का शासन ई. पू. या ईसा की पहली शती (?) है। ये भी मथुरा के ही शासक थे ।[169] मथुरा के कुछ पुराने दानलेखों और कतिपय भारतीय राजाओं के सिक्कों पर मिलने वाले लेखों में भी इसी शैली के आद्य अक्षर मिलते हैं ।[170]

इस शैली (फल. III, स्त. I, II) की विशेषताएं हैं: **ल** (33, I) को छोड़कर अन्य सभी अक्षरों में ऊपरी खड़ी लकीरों का समानीकरण; शोशे का निरंतर इस्तेमाल, कभी-कभी शोशे की जगह कील या पच्चर जैसा सिर बनाना जैसे **भ्र** (29, I) में; **घ** (10, I), **ज** (13, I, II), **प** (26, I, II), **फ** (27, I), **म** (30, I, II), **ल** (33, I), **ष** (36, I) और **ह** (38, I, II) के कोणीय रूपों का ही इस्तेमाल करना। दूसरी नवीनताएं मुख्यतया घसीट लेखन के कारण हैं। **च** (11, I) का विलक्षण रूप; **ड** (18, I) का तिरछा कोणीय रूप; **द** (23, I) ; **भ** (29, I, II) का चौड़ा रूप; **र** (32, I, II) जिसके नीचे भंग आ गया है—ऐसा कभी-कभी बाद के उत्तरी अभिलेखों में पुनः मिलता है; **आ** की मात्रा (**हा**, 38, I

166. मिला. ऊपर 16 (टिप्पणी 159)

167. **छठीं ओरियंटल कांग्रेस** III, 2, 179, उदयगिरि अभिलेख सं. 3, 4

168. **बुद्धिस्ट केव टेम्पुलस**, 246

169. देखिए ऊपर **10**

170. मिला. क., आ. स. रि. III, फल. 13, सं. 1; ए. इं. I, 392, सं. 17; क., क्वा. ऐ. इं. फल. 3, सं. 14; फल. 6; फल. 8, सं. 2 की प्रतिकृतियों से ।

में जो ऊपर उठ जाती है, पर **रा**, 32, I में यह अपने पुराने रूप में ही है), **इ** की मात्रा (**दि**, 23, 1), **ओ** की मात्रा (**घो**, 10, I और **शो** 35, II) और पंक्ति के ऊपर अनुस्वार का स्थान (**णं**, 20, I) आदि इसके उदाहरण हैं। **क** के पुराने रूप (7, I, II) के अतिरिक्त **क्ष** (40, I) में बाद की तरह का झुके डंडों वाला रूप भी मिलता है, **व** का एक असामान्य दो त्रिभुजों वाला रूप भी है (34, II)। ऐसा रूप कुषान अभिलेखों में और अन्यत्र भी मिलता है।[171] इसमें ऊपरी हिस्सा शायद एक खोखला पच्चर है। इस वर्ग के अभिलेखों में पहली बार **ऋ** की मात्रा के भी दर्शन होते हैं।[172] **वृ** (34, III) में यह मात्रा लगी है। यह मात्रा बायें को झुकी एक तिरछी लकीर के रूप में है और ठीक वैसी ही है जैसी कि कुषान अभिलेखों में मिलती है।

आ. कुषान अभिलेखों की लिपि : फलक. III

उत्तरी भारत में ब्राह्मी के विकास का अगला चरण उन अभिलेखों में मिलता है जो कुषान राजा कनिष्क, हुविष्क, और वासुष्क या वासुदेव के समय से शुरू होते हैं (फल. III, III-V)। इनमें कनिष्क ने पूर्वी और दक्षिणी पंजाब में शक शासन का अंत किया था। जिन अभिलेखों में इन राजाओं के नाम आये हैं उनकी तिथि 4 से 89 है (सामान्य मत यह है कि यह तिथि शक संवत् में है। जिसका प्रारंभ 77-78 ई. में हुआ था या सेल्यूकस काल की चौथी शती है)[173]। मथुरा और उसके आसपास में ऐसे बहुत-से अभिलेख मिलते हैं। पूर्वी राजस्थान और मध्यप्रदेश (सांची) में भी ऐसे अभिलेख मिले हैं जिन पर इन राजाओं के नाम हैं।[174] इस लिपि के पृथक्-पृथक् अक्षरों में काफी विचित्रताएं मिलती हैं। इसके पुराने अभिलेखों में प्राय: अपेक्षाकृत आधुनिक रूप

---

171. ए. इं. II, 201, सं. 12; 207, सं. 32; खोखली पच्चियाँ आ.स. रि. II, फलक; 23, सं. 1; फ्ली. गु.इं. (का. इं.इं. III) सं. 23 में भी मिलती हैं।

172. **वृष्णीणाम्** में, क., आ. स. रि. XX, फल. 5, पंक्ति 2.

173. इं. ऐ. X, 213; क., क्वा. इं. सी. 51, 57; भंडारकर : **अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन** II, 26, पा. टि. 1 का विचार है कि कनिष्क ने इसके बाद राज्य किया था; किन्तु सि. लेवी, ज. ए. 1897, 1, 5 तो वासुदेव को भी ईसा की पहली शती में रखते हैं। इसके संवत् 4, और 5 की तिथियाँ ए. इं. II, 201, सं. 11, 12; में और संवत् 7 की तिथि ए. इं. I, 391, सं. 19 में भी हैं।

174. देखि. प्रतिकृति ए. इं. II, 369

और बाद के अभिलेखों में उत्तरी क्षत्रप शैली के आद्य रूप मिलते हैं। फिर भी इस लिपि की अपनी ऐसी विशेषताएं हैं और जिसने भी कुषान काल के बौने और चौड़े अक्षर देखे हैं वह इन्हें दूसरे काल का बताने की भूल कभी न करेगा।

इसकी निम्नलिखित नवीनताओं का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है[175]:

1. **अ** के अपेक्षाकृत पुराने रूपों के अतिरिक्त स्त. IV का एक रूप ऐसा भी है जो आधुनिक पश्चिम भारतीय नागरी के समीप है। मिला. फल. IV, 1, IX, XI तथा आग भी।

2. **आ** की लंबाई बताने वाला डंडा काफी नीचे जुड़ा है (2, III, IV) मिला. फल. IV, 2, VII तथा आगे।

3. **इ** में तीन बिंदुओं के स्थान पर तीन छोटी लकीरें बनी हैं जिनमें एक खड़ी है (3, III)।

4. **उ** की आड़ी लकीर में कभी-कभी बाईं ओर को एक भंग मिलता है (4, IV)।

5. त्रिभुजाकार **ए** (5, IV, V) का आधार प्रायः ऊपर रहता है; मिला. फल. IV, 5, X तथा आगे।

6. **ख** (8, III—IV) में प्रायः नीचे त्रिभुज बनता है और इसका हुक छोटा होता है।

7. **ण** में पहले दो आड़ी लकीरें बनती थीं। अब इनम एक भंग का रूप ले लेती है जो मध्य में खांचे से जुड़ती है। कभी-कभी तो दोनों आड़ी लकीरें इसी तरह की हो जाती हैं, जैसे 20, III, IV में। कभी-कभी खड़ी लकीर को दो भागों में तोड़ देते हैं। ये टुकड़े बाएँ की आड़ी रेखा में जुड़ते हैं। प्रत्येक टुकड़ेमें भंग वाले सिर के डंडे का एक हिस्सा जुड़ा होता है (20, V)।

8. **त** में कभी-कभी, पर बिरले ही, एक फंदा मिलता है, जैसे **स्ति** (43, IV) में।

9. **द** (23, III—V) के नीचे का आधा हिस्सा और दायें खिच जाता है। दायें का फुलाव भी बढ़ जाता है।

10. **ध** (24, III, IV) और पतला हो जाता है और इसके किनारे और नोकदार हो जाते हैं।

11. **न** की आड़ी लकीर में भंग (25, III) या फंदा (25, IV) बन जाता है। इसीसे 25, V का अपेक्षाकृत आधुनिक रूप बनता है।

---

175. मिला. ए. इं. I, 371; II, 197 पर मेरे विचारों से।

12. **य** (31, III, IV) में अधिकतर वामांग में हुक या वृत्त बनता है। संयुक्ताक्षरों में यह फंदेदार, जैसे **र्य्य** (42, III) में; या द्विपक्षीय, जैसे **र्य्य** (41, V) में, होता है।

13. **व** का बायां हिस्सा कभी-कभी गोल हो जाता है (34, V)। कभी-कभी **व** का रूप **च** जैसा भी हो जाता है, जैसे **र्व्व** (42, IV) में।

14. **श** और पतला हो जाता है (35, III—V)। इसके बीच की आड़ी लकीर अक्षर के पेट में एक सिरे से दूसरे तक चली जाती है। कभी-कभी बाईं लकीर के निचले भाग में एक शोशा बनता है या दाईं लकीर बाईं से लंबी कर देते हैं, जैसे **ग** (9, V) में, होता है। मिला. फल. IV, 36, I तथा आगे।

15. **ष** के बीच का डंडा अक्षर के पेट में एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाता है (36, III—V)।

16. **स** का वामांग कभी-कभी, पर बिरले ही, फंदे की शक्ल का हो जाता है (37, IV)। मिला. फल. IV, 38, I तथा आगे।

ये सभी विशिष्टताएं और स्वरों की विकसित मात्राएं, जैसे **रा** (32, IV) में **आ** की मात्रा, **कु** (7, IV, V) और **स्तु** (43, V)[176] में **उ** की मात्रा और **तो** (21, IV) में **ओ** की मात्रा, अगले काल की उत्तरी लिपियों, गुप्त अभिलेखों (फल. IV, I—VII) और बावर की हस्तलिखित पुस्तक (फल. VI, स्त. I—III) में या तो पुनः इसी रूप में निरंतर मिलती हैं या फिर इनका अगला चरण उनमें दिखाई पड़ता है। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में मथुरा में जिन साहित्यिक लिपियों का इस्तेमाल होता था, उनके बारे में अधिक संभावना यही है कि इनमें और बाद की लिपियों में कोई भेद नहीं है या ये उनसे बहुत मिलती-जुलती हैं। कुषान काल के अभिलेखों में जो अपेक्षाकृत पुराने रूपों का मेल है उसका कारण संभवतः पुराने दानलेखों का अनुकरण ही है।

तृ (21, IV) और **वृ** (34, III) में **ऋ** की मात्रा की ओर ध्यान दिलाना भी जरूरी है। इसके लिए एक बार[177] फलक IV, 3, III वाला रूप भी मिलता है। इसी प्रकार अंतिम हलन्त **म** की ओर जो **द्धम्** (41, VIII) के हलन्त **म** से मिलता-जुलता है और विसर्ग की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जो ठीक आधुनिक विसर्ग की तरह का है (मिला. 40, 41, IX)। विसर्ग

176. मिला. फल. II, 43, III के **तु** से।

177. ए. इं. I, 389 सं. 13

सबसे पहले इन्हीं अभिलेखों में मिलता है।[178] इन लेखों में अक्षरों की लकीरें चौड़ी और सिरे मोटे हैं। इनसे पता चलता है कि इनमें किसी ऐसी लिपि का अनुकरण किया गया है जो स्याही से लिखी जाती थी।

20. दक्षिणी शैली की पुरोगामी लिपियां

अ. मालवा और गुजरात के क्षत्रपों की लिपि : फलक. III

जैसे ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियों में उत्तरी भारत के अभिलेखों में एक स्थानीय शैली के विकास की शुरुआत दिखाई देती है, वैसे ही पश्चिम और मध्यभारत तथा डेक्कन के अभिलेखों में भी उत्तरकालीन दक्षिणी लिपि के विकास का पहला चरण मिलता है। चष्टन के वंशज मालवा और गुजरात के क्षत्रपों के अभिलेखों और सिक्कों में पश्चिमी लेखन-शैली दिखाई देती है। स्त. VI की लिपि जो रुद्रदामन (लग. 160 ई.)[179] की गिरनार प्रशस्ति से ली गई है इसका एक नमूना है। यह लिपि उत्तरकालीन लिपियों से (देखि. आगे 27) निम्नलिखित बातों में मिलती-जुलती है :

1. **अ** और **आ** (1, 2), **क** (7), **ञ** (15), **र** (32) और **उ** और **ऊ** की मात्राओं (इस फलक में नहीं हैं) के अंत में भंग हैं।
2. **ड** (18) की पीठ गोली है।
3. **ब** (28) में बाईं ओर गाँठ है।
4. **ल** (33) में खड़ी लकीर बाईं ओर झुकी है।
5. **ऋ** की मात्रा (देखि. **सृ**, 37) को **र** से अलग पहचानना मुश्किल है।

दूसरे अक्षरों में कुछ तो शोडास के लेखों से मिलते-जुलते हैं, जैसे **श** (35) और **ल्य** (42) का त्रिपक्षीय नीचे का **य**; और कुछ कुषान शैली से, जैसे **ख** (8), **न** (25) जिसमें नीचे की आधार रेखा मुड़ी है, **य** (31) जिसमें बाएं भंग है और **व** (34) जो अक्सर गोला मिलता है। **ट** (16) का रूप विलक्षण है। **ऊ** की मात्रा जो केवल **नू** (25) और **रू** (मिला. फल. VII, 33, III) में मिलती है और **यौ** (31) में **औ** की मात्राएं सर्वथा नई हैं। यह पहली बार यहीं मिलती हैं। ये रूप घसीट कर लिखने के कारण बने हैं।

---

178. उदाहरणार्थ मिला. ए. इं. I, 382, सं. 3 के **नः** से।

179. भंडारकर : **अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन**, 2, 26 तथा आगे; क., क्वा. मि. इं. 3-5; भगवानलाल, ज. रा. ए. सो. 1890, 642; और देखि॰ Buhler *Die ind. Inschr. u. das Altr. d. ind. Kunstpoesie.* 46 तथा आगे।

फल. II, 28, XVIII जैसी **औ** की मात्रा भी मिलती है। यह पुरानी शैली की है।

रुद्रदामन के पिता जयदामन और पितामह चष्टन के अपेक्षाकृत पुराने सिक्कों[180] पर मिलने वाले अक्षरों में कोई विशेष अंतर नहीं है। जयदामन के सिक्के संभवतः उज्जैनी में ढाले गये थे। उत्तरकालीन क्षत्रपों के अभिलेखों में[181] जूनागढ़ के उस अभिलेख के अक्षर जो रुद्रदामन के पुत्र रुद्रसिंह के शासन काल में खोदे गये थे गिरनार की प्रशस्ति के अक्षरों से पूरी तरह मिलते-जुलते हैं। उसी राजा के संवत् 103 (या 180 ई.) के गुंडा के अभिलेख और उसके बेटे रुद्रसेन के संवत् 127 (?) या 204-5 ई.(?) के जसदन अभिलेख में कुछ और अक्षरों के विकसित रूप मिलते हैं। इन दोनों अभिलेखों में किसी अक्षर के नीचे आने वाला **य** द्विपक्षीय होता है। दूसरे अभिलेख में कई बार गुप्तकालीन **म** (फल. IV, 31, 1 तथा आगे) के दर्शन होते हैं। **ए** की मात्रा भी पंक्ति के ऊपर लगी मिलती है (मिला. उदाहरणार्थ **नें** फल. VII, 27, V)। यही **म** या ऋजु आधार वाला वैसा ही चिह्न उत्तरकालीन क्षत्रपों के सिक्कों पर प्रायः मिलता है।[182] संभवतः यह उत्तरी प्रभाव है। शायद इस लिपि के साथ-साथ कोई उत्तरी लिपि भी वहाँ इस्तेमाल में थी (दे. आगे **28**, अ)।

(अ) पश्चिमी डेक्कन और कोंकण की गुफाओं के अभिलेखों की लिपियां फलक III

पश्चिमी डेक्कन और कोंकण में कई गुफाएं हैं जहाँ अनेक अभिलेख खुदे हैं। नासिक, जुन्नार, कार्ले, कण्हेरी, कुड़ा आदि की गुफाओं की लेखन शैली में तीन विभेदों के दर्शन होते हैं। (1) 'पुरागतिक' या 'पश्चगतिक' प्रकार, (2) अपेक्षाकृत विकसित प्रकार जिसमें दक्षिणी की विशिष्टताओं के धुंधले चिह्न हैं और (3) अलंकारिक शैली। इनमें पहली दो क्षहरात राजा और क्षत्रप नहपान के

---

180. क., क्वा. मि. इं. फल. I; ज. रा. ए. सो. 1890, पृष्ठ 20 का फलक; ब., आ. स. रि. वे. इं. 2, फल. 7.

181. मिला. ब. आ. स. रि. वे. इं. II, फल. 20; ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. 8, 23. 4; **संस्कृत ऐंड प्राकृत इंस्क्रिप्शंस, भावनगर**) फल. 16-17 (अविश्वसनीय) की प्रतिकृतियाँ।

182. पा. टि. 180 में उद्धृत फलक देखि.।

दामाद शक उषवदात या उषभदात (ऋषभदत्त)[183] के संवत् 41 से 45, (इसे सामान्यतया शक संवत् ही मानते हैं [184])=118 से 122 ई. के लेखों में मिलती हैं। उषवदात के ये अभिलेख शकों के उन अभिलेखों में सबसे पुराने हैं जिन पर तिथियाँ अंकित हैं। कार्ले अभिलेख सं. 19 (स्त. VII) में 'पुरागतिक' या पश्चगतिक प्रकार मिलता है। इसका **ध** (10), **ज** (13), **द** (23), **भ** (29), **य** (31), **ल** (33), **स** (37) और **ह** (38) अक्षर फलक II की प्राचीनतर लिपि के रूपों के नजदीक है, खासकर स्त. XXIII; XXIV के प्राचीनतम आंध्र अभिलेखों के। इन्हीं गुफाओं के कुछ अन्य अभिलेखों[185] में जिनमें कुछ इनसे पुराने हैं, यही शैली मिलती है। इनमें ऊपर गिनाई दक्षिणी की विशिष्टताओं के धुंधले चिह्न भर मिलते हैं। खड़ी लकीरों के अंत में भंग नितांत प्रारंभिक अवस्था में हैं। त्रिभुजाकार **ध** (24) पहली बार यहां मिलता है। इस फलक की दूसरी लिपियों में भी ऐसा ही रूप मिलता है (देखि. स्त. XI तथा आगे)। **ख** (8) का असामान्य रूप कार्ले सं. 19 तक ही सीमित है।

इन अभिलेखों की लिपि कुछ गिचपिच-सी है। पर उषवदात के नासिक के अभिलेखों (स्त. VII, IX) के अक्षर बड़े साफ-सुथरे हैं। इनकी प्रणाली शोडास के लेखों (स्त. I) और गिरनार की प्रशस्ति (स्त. VI) से मिलती-जुलती है। इनमें पुरागत रूप नहीं मिलते। दक्षिणी की विशिष्टताएं भी नाममात्र को हैं या बिल्कुल नहीं मिलतीं। केवल दक्षिणी **ड** साफ अलग दीखता है और यह निरंतर मिलता है। **श** (35, 42 VIII) जो स्त. VI के **श** से मिलता है और **द्धम्** (41, VIII) का हलन्त **म**, और **भ्यः** (41, IX) का निचला त्रिपक्षीय **य** ध्यान देने लायक है।

इससे बहुत मिलती-जुलती क्षहरात-वंश (संभवतः नहपान और उषवदात)

---

183. उसभदात केवल कार्ले सं. 19, ब., आ. स. रि. वे. इं. 4, फल. 51 में ही मिलता है।

184. भंडारकर, **अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन** 2, 26 और भगवानलाल, ज. रा. ए. सो. 1890, 642; और देखि. Buhler, *Die ind. Inschr. u. das. Alter der ind. Kunstpoesie*. 57 तथा आगे, का यही मत है; कनिंघम, क्वा. मि. इं. 3 नहपान की तिथियों को मालव संवत् (ई. पू. 57) की बतलाते हैं और ओल्डेनवर्ग इ. ऐ. X, 227 नहपान को 55-100 ई. के बीच रखते हैं।

185. कार्ले सं. 1-14. ब., आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 47, 48; नासिक सं. 4, वही फल. 51.

को निरवशेष करने वाले आंध्र राजा गोतमि-पुत सातकणि के नासिक के अभिलेखों (सं. 11, *a*, *b*=स्त. X) और उसके पुत्र सिरि-पुळुमायि, पुळुमाइ या पुलिमावि के अभिलेखों (नासिक सं. 14--स्त. XI) की लिपि है । टालेमी इस राजा का उल्लेख सिरि पोलेमिओस (Siri Polemios) या पोलेमिओस (Polemios) के रूप में करता है।[186] एक ही वास्तविक अंतर **घ** (24, XI; मिला. स्त. VII) के त्रिभुजाकार रूप में है, सो यह रूप भी हमेशा नहीं मिलता। करीब-करीब इसी प्रकार की लिपि वह है जो स्त. XII, XIII और XIV में दिखाई पड़ती है । स्त. XII की लिपि अपेक्षाकृत उत्तरकालीन आंध्र राजा गोतमिपुत सिरियज्ञ सतकणि के नासिक के अभिलेख से ली गई है। स्त. XIII की लिपि अतिथिक नासिक अभिलेख सं. 20 से और स्त. XIV की नासिक सं. 12 से तैयार की गई है जो आभीर राजा ईश्वरसेन[187] के राज्यकाल में खोदा गया था। किंतु स्त. XIV में **त** (21) का एक विलक्षण रूप मिलता है। यह एक फंदेदार रूप से विकसित हुआ है। इसी प्रकार एक फंदेदार **न** (25) भी है, जो स्त. IV के उत्तरी रूप से भिन्न है। **र** (32) में भंग और गहरा है । **ल** (33) में खड़ी रेखा बाईं ओर को मुड़ गई है : इसी प्रकार स्त. XIII का फंदेदार **त** (21) और स्त० XIV के **त** (21) और **न** (25), जो फंदेदार रूपों से निकले हैं; **य** (31), जिसमें बाईं ओर को भंग है; **ल** (33) जो बाईं ओर को झुका है; **ज्ञः** (40) में नीचे का घसीट **ञ** और **दु** (23) में **ऋ** की तरह की **उ** की मात्रा भी ध्यान देने लायक हैं। **उ** की ऐसी मात्रा उत्तरकालीन दक्षिण अभिलेखों में फिर मिलती है; मिलाइए, उदाहरणार्थ **भु** (फल. VII, 30, XII) में **उ** की मात्रा और **तू** (फल. III, 21, XVII, XIX) में **ऊ** की मात्रा।

स्त० XV और XVI में इस काल की अलंकृत शैली के दो नमूने हैं जिनमें परस्पर कुछ भिन्नता है। ये कुड़ा (सं. 1-6, 11, 20) और जुन्नार (सं. 3) के अभिलेखों से तैयार किये गये हैं। दोनों में **इ** और **ई** की मात्राएं अलंकृत हैं, पर कुड़ा के अभिलेखों में सभी खड़ी रेखाओं के अंत को अलंकृत बनाया गया है, इसमें **प** (26) और **ब** (28, मिला. स्त. VI) की बाईं ओर की लकीरों में गाँठ हैं। स्त. XVI में दो और ध्यान देने लायक चिह्न हैं।

186. पा. टि. 185 में उद्धृत ग्रंथों को देखिए।

187. भगवान लाल का अनुमान है कि यह नहपान से कुछ बाद का होगा। देखि. ज. रा. ए. सो. 1894, 657

ये है, य्य (40) का द्विपक्षीय निचला य, और श्री (41) में आड़े डंडे वाला श (पिला. 35, III–V)। स्त. XV, XVI से मिलते-जुलते अलंकृत रूप पुळुमायि के कार्ले अभिलेख सं. 20, 22 और उसके बेटे वासिठीपुत सातकणि की रानी के मंत्री के कण्हेरी के से. 11 के अभिलेख में भी मिलते हैं। इन लेखों की तिथियाँ अंदाजन निश्चित हैं। इनमें पहले दो अभिलेखों में त का एक फंदेदार रूप मिलता है और ण का रूप स्त. XVII जैसा है। तीसरे में पश्चिमी क्षत्रपों के अभिलेखों के साफ-सुथरे अक्षर मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईसा की दूसरी शती में पश्चिमी डेक्कन और कोंकण में ये तीनों विभेद गड्डमड्ड रूप में इस्तेमाल में आते थे।[188] अमरावती स्तूप के अभिलेखों से[189] यह सिद्ध होता है कि भारत के पूर्वी तट पर भी ये तीनों रूप प्रचलित थे। एक ओर तो अपेक्षाकृत अधिक विकसित प्रकारों का इस्तेमाल और साथ ही अपेक्षाकृत अधिक पुरागत रूपों के साथ अधिक विकसित रूपों की मिलावट करके भी इस्तेमाल करने का क्या कारण है, इसका खुलासा इस प्रकार हो सकता है कि लेखक अभिलेखों में पुराने और स्मारक रूप रखने की इच्छा तो करते थे, पर इस इच्छा का पूर्ण रूपेण पालन वे नहीं कर पाते थे। ऐसा यहां ही नहीं अन्यत्र भी हुआ है।

(इ.) जग्गयपेट के अभिलेखों की लिपि : फलक III

पूर्वी तट के कृष्णा जिले में एक और अलंकृत लिपि मिलती है। यह इक्ष्वाकु राजा सिरि वीर पुरिसदत्त के समय के जग्गयपेट के अभिलेखों (स्त. XVII, XVIII) और अमरावती के अभिलेखों[190] में प्राप्त होती है। इस लिपि का

---

188. मिला. ब., आ. स. रि. वे. इं. जिल्द IV, फल. 45, कुडा सं. 12-18; फल. 46, कुडा सं. 20-28, महाद सं. 1-4; कोल सं. 3, 5; फल. 47, बेडसा सं. 1-3; फल. 48, कार्ले सं. 15-18; शैलारवाडी सं. 19; जुन्नार सं. 1. 2; फल. 49-51, जुन्नार सं. 4-34; फल. 52, नासिक सं. 6 अ; फल. 54, जुन्नार सं. 32; कार्ले सं. 20; फल. 55, नासिक सं. 17-19, 21-24; और जिल्द V, फल. 51, कण्हेरी सं. 2-5, 10, 12-14 की प्रतिकृतियों से।

189. ब., आ.स.रि. सा. इं. I, 56, 57, फल. 58, सं. 23-24, 37; फल. 59 सं. 39, 48 फल. 60 से 51-53, 55, 56; और क., क्वा. ऐ.ई. फल. 12 और ज.बा.बा. श.ए.सो. XIII, फल. 3 के आंध्र सिक्कों की अनुकृतियाँ।

190. ब., आ. स. रि. वे. इं. I, फल. 58, सं. 35, 36; फल. 59, सं. 38, 40-42; फल. 60, सं. 46; फल. 61, सं. 54; फल. 62.

विकास उसी लिपि से हुआ है जिसकी चर्चा अभी ऊपर की गई है। यह लिपि संभवतः ईसा की तीसरी शती में विकसित हुई। इसकी एक प्रमुख विशिष्टता **अ, आ, क, ञ, र,** और **ल** की खड़ी रेखाओं को काफी लंबा कर देना है। **इ, ई,** और **उ** की मात्राएं भी काफी लंबी हो जाती हैं। **थ** और **ह** के घसीट रूप इसे बाद की लिपि बताते हैं। **ह** का रूप इसके उत्तरी गुप्त-कालीन रूप (फलक, IV, 39, I, VI) से मिलता-जुलता है। **मे** (30) में **ए** की मात्रा जिसमें नीचे की ओर भंग है उत्तरकालीन दक्षिणी लभिलेखों से मिलती-जुलती है, मिला॰ 30, XIX XX और फलक VII,35, XII)। इसी प्रकार **तू** (21) में **ऊ** की मात्रा भी इसे बाद का रूप सिद्ध करती है (मिला. स्त. XIX और फल. VII, 30, XX)। **तू** (40) की **ऊ** की मात्रा में स्वर की दीर्घता प्रकट करने वाली लकीर व्यंजन के सिर पर लगी है। यह नितांत असामान्य बात है।

ई. पल्लवों के प्राकृत भूदान-लेखों की लिपि : फलक III

तमिल-क्षेत्र[191] कांची में प्राकृत भाषा में पल्लव राजा विजय बुद्धवर्मन और शिवस्कंदवर्मन के अभिलेख मिले हैं जिनमें इनके भूदानों का उल्लेख है। ये अभिलेख बड़ी घसीट लिखावट में लिखे गये हैं। इनकी लेखन-शैली जग्गयपेट के अभिलेखों से इनका संबंध स्थापित करती है। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ये इनके काफी बाद के हैं, पर इनकी ठीक-ठीक तिथि बतलाना मुश्किल है। सरकारी कामकाज में प्राकृत के उपयोग से तो यही अनुमान होता है कि ये अभिलेख ईसा की चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बाद के न होंगे। इनमें **ए** (5, XX) अक्षर काफी चौड़ा है। इसमें प्रारंभिक खड़ी रेखा दायें हैं (मिला. फलक VII, 6, XI तथा आगे), **ण्ड** (40, XX) के **ड** में एक दुम है (मिला. फल. VII, 19, IV तथा आगे), **त्थ** (41, XIX) में नीचे का **थ** दायें को खुला है (मिला. फल. VII, 45, XX), **लो** (33, XX) में **ओ** की मात्रा (मिला. फल. VII,34, III, IV, XIII, XVII) फंदेदार है। ये बातें यह बतलाती हैं कि यह विकास उत्तरकालीन है।

---

191. मिला. इ. ऐ. IX, 100; ए. इं. I, 1 तथा आगे।

IV. 350 ई० के आसपास की उत्तरी लिपियां[192]

21. परिभाषा और विभेद

बग्रेज, फ्लीट[193] और अन्य विद्वानों की भाँति 'उत्तरी लिपियों' से मैं भी अभिलेखों और साहित्य की लिपियों के उस विशाल वर्ग का ही तात्पर्य ग्रहण करता हूँ

---

192. फलक IV, V और VI निम्नलिखित रूप में तैयार किये गये हैं :

193. फ्ली., गु. इं. (का. इं. इं. III) पृ. 3 तथा आगे की प्रतिकृतियों से।

फलक IV

अभिलेखों की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर

स्त. I, II, III : फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. 3) फल. 1

स्त. IV : वही, फल. 5

स्त. V, VI : वही, फल. 9, A

स्त. VII : वही, फल. 9, B.

स्त. VIII : ए. इं. I, 238 के फलक से।

स्त. IX: फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. 3), फल. 16

स्त. X, वही, फल. 22

स्त. XI, XII : वही फल. 30, B, और 31. A, B.

स्त. XIII, XIV : वही फल. 41, A.

स्त. XV, XVI : ए. इं. I, 10 के फलक से।

स्त. XVII : इ. ऐ. IX, 172, सं. 7, 8, 9 के फलक से।

स्त. XVIII, XIX : फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. 3) फल. 28.

स्त. XX : इ. ऐ. XVIII, 234 के फलक से।

स्त. XXI, इ. ऐ. XV, 112 के फलक से।

स्त. XXII. इ. ऐ. XI, 108 के फलक से।

स्त. XXIII. इं. ऐ. XV, 140 के फलक से।

फलक V

स्त. I : ए. इं. I, 97 की छाप के फोटो लिथोग्राफ से।

अन्य स्तंभ अभिलेखों की प्रतिकृतियों के अक्षर काटकर

स्त. II : ए. इं. I, 160 के फलक से।

स्त. III : ए. इं. I, 242 के फलक से।

जो 350 ई. के आसपास से काठियावाड़ और उत्तरी गुजरात को छोड़कर नर्मदा के उत्तर के विशाल भूखंड में छा जाता है। कालांतर में इनका प्रसार बढ़ता जाता

स्त. IV : ए. इं. VI, 65 और XI, 158 के फलकों से।
स्त. V : इ. ऐ. XIII, 134 की अप्रकाशित प्रतिकृति से।
स्त. VI : इ. ऐ. XVII, 310 के फलक से।
स्त. VII : ए. इं. I, 162 की अप्रकाशित प्रतिकृति से।
स्त. VIII : ए. इं. I, 77 के फलक से।
स्त. IX : ए. इ. II, 120 के फलक से।
स्त. X : इ. ऐ. VI, 50 के फलक से।
स्त. XI : इ. ऐ. VI, 192 के फलक से।
स्त. XII : इं. ऐ. XVIII, 11 के फलक से।
स्त. XIII : ए. इं. I, 234 के फलक से।
स्त. XIV : इ. ऐ. XVI, 205 के फलक से।
स्त. XV : ए. इं. II, 297 के फलक से।
स्त. XVI : **भावनगर संस्कृत ऐंड प्राकृत इंस्क्रिप्शंस**, फल. 40, 41 से।
स्त. XVII : इ. ऐ. XVI, 22 के फलक से,।
स्त. XVIII : ए. इं. I, 308 के फलक से।
स्त. XIX : ए. इ. II, 350 के फलक से।
स्त. XX : इ. ऐ. XVIII, 130 के फलक से।
स्त. XXI : इ. ऐ. XI, 71, 337 के फलक से।
स्त. XXII : इ. ऐ. XVI, 254 के फलक से।
स्त. XXIII : ए. इ. I, 34 के फलक से।

फलक VI

अभिलेखों की प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर

स्त. I, II, III, IV : हार्नली की बावर की हस्तलिखित प्रति खंड I, II के फलकों से।
स्त. V, VI, VII, IX : *Anced. Oron. Ar. Ser.* I, 3, फल. 6, स्तं. 1. 2, 3 से।
स्त. VIII : **वियना ओरियंटल कांग्रेस, आर्यन सेक्शन**, पृष्ठ 127 तथा आगे के फलक से।
स्त. IX स्त. V, VI और VII देखिए।
स्त. X : बेंडेल—**कैटलाग आफ बुद्धिस्ट मैनुस्क्रिप्ट्स**, फल. 2, 4 और **बर्लिन ओरियंटल कांग्रेस, इंडियन सेक्सन**, फल. 2, 1 से

है। अंततोगत्वा आज भारत की लगभग सभी आर्यभाषाओं के लिए अनेक विभेदों में इसी का इस्तेमाल होता है। इनके बीज उन घसीट रूपों में मिलेंगे जो सबसे पहले अशोक के धौली के आदेशलेख VI, के अनुपूरक और उसके कालसी संस्करण के अनेक चिह्नों (दे. पृ. 21. H) में मिलते हैं। बाद में कुषान काल के जैनों के कतिपय दान-लेखों में भी कभी-कभी या हमेशा ये मिलते हैं (दे. **19 अ**)। इनका सामान्य प्रकार घसीट लिपि वाला है। अक्षर के ऊपर लगने वाले निशान उसी ऊँचाई तक के होते हैं और जहाँ तक संभव हो बराबर चौड़ाई के बनाये जाते हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का पाया जाना और अक्षरों की अनेक विशिष्टताएं जैसे; शोशों से पच्चड़ जैसा बना देना सिद्ध करता है कि इनमें लिखने के लिए रोशनाई का इस्तेमाल होता था और कलम या कूँची से लिखते थे। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण सामान्य विशेषताएं हैं: (1) **अ, आ, क, ञ** आदि में खड़ी रेखा के निचले किनारों पर भंगों का अभाव (**र** में कभी-कभी इसका अपवाद मिलता है); (2) **ख, ग,** और **श** में नीचे को जाती बाईं लकीर में शोशे का इस्तेमाल; (3) ण की मूल खड़ी लकीर और इसके ऊपरी डंडे का विभाजन; (4) फंदेदार **न** और बिना फंदे के **त** का इस्तेमाल; (5) **म** के निचले हिस्से में अक्षर की बाईं ओर एक गाँठ या फंदे का जुड़ना; (6) **ल** की खड़ी लकीर का छोटा होना; (7) **इ** की मात्रा का बाईं ओर मुड़ने लगना और शीघ्र ही **ई** की मात्रा का दाईं ओर को मुड़ना; (8) शुरू की आड़ी

स्त. XI : बेंडेल, **वही**, फल. 3, 1

स्त. XII : **बर्लिन ओरियंटल कांग्रेस, इंडियन सेक्शन** फल. 2, 2. 3

स्त. XIII : बेंडेल, **वही**, फल. I, 3

स्त. XIV : *Anecd. Oxon. Ar, Series* I, 1. फल. 4 से

स्त. XV, XVI, XVII. ल्युमन, फोटोग्राफ आफ डेक्कन कालेज कलेक्शन, 1880-81, सं. 57; 7, XV, XVI; 14 और 16, XV; 19 और 23, XV; XVI; 24, XV; 27, XV, XVI; 35, 37, 41 XVII, ल्युमन के **विशेषावश्यक**, फल. 35; 7, XVII और 8, 9, 10, XV और 12, 14, 16, XVI से पूरा किया और रायल एशियाटिक सोसायटी के **गणरत्न महोदधि** के फोटोग्राफ से भी लिया।

स्त. XVIII, XIX : **वियना ओरियंटल कांग्रेस, आर्यन सेक्शन** पृ. 111 तथा आगे के फलकों से।

उ की मात्रा के आखीर में बाईं ओर को खुलने वाले एक भंग का विकसित होना; और ऋ की मात्रा के लिए दाईं ओर को खुलने वाले एक भंग का इस्तेमाल।

फलक IV, V, VI में दी हुई सभी लिपियों में समान रूप में उपर्युक्त विशेषताएं या इनके अगले चरण मिलते हैं, पर अन्य विशिष्टताओं के आधार पर इन्हें सात विशाल उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इन वर्गों के भी कई विभेद हो सकते हैं। सातों वर्ग निम्नलिखित हैं :

1. ईसा की चौथी-पांचवीं शती के अभिलेखों की लिपि, जिसे सामान्यतया **गुप्त लिपि** कहते हैं। हार्नली की गवेषणाओं[194] के अनुसार इसके दो विभेद हैं; एक पूर्वी और दूसरा पश्चिमी। पश्चिमी की भी दो शाखाएं हैं। इसकी पश्चिमी शाखा के साथ बावर की हस्तलिखित प्रति और काशगर के कुछ प्रलेखों का निकट का संबंध है।

2. न्यूनकोणों वाली या **सिद्धमातृका** (?) लिपि, जिसमें अक्षरों की खड़ी रेखाओं के सिरों पर पच्चियाँ हैं। यह सबसे पहले होरियूजी के ताड़पत्रों पर मिलती है और ईसा की छठी शती के अंतिम भाग में गया के महानामन अभिलेख और लक्खामंडल प्रशस्ति में मिलती है।

3. **नागरी**, जिसके अक्षर लंबे और दुमदार होते हैं। इनके सिरों पर लंबी लकीरें होती हैं। सबसे पहले सातवीं शती में इसका पता मिलता है।

4. **शारदा** लिपि, जो पश्चिमी गुप्त शैली का उत्तरी विभेद है। यह सबसे पहले आठवीं शती में मिलती है।

5. **पूर्वी** आदि **बंगला लिपि**, जिसके अक्षर काफी गोले और घसीट होते हैं। इनकी खड़ी लकीरों के सिर पर हुक या खोखले त्रिभुज होते हैं। सबसे पहले ग्यारहवीं शती में इसका पता मिलता है।

6. हुकों वाली **नेपाली लिपि** जिसका आदि बंगला से घनिष्ठ संबंध है। ग्यारहवीं शती से हस्तलिखित ग्रंथों में यह मिलने लगती है।

चौथी-पांचवीं शती में नर्मदा से पूर्व के क्षेत्र में इन लिपियों का प्रभुत्व एकदम निर्विवाद नहीं है। पश्चिमी क्षेत्र में उत्तर में विजयगढ़ (भरतपुर-राजस्थान) तक दक्षिणी शैली में या दक्षिणी अक्षरों की मिलावट के साथ अभिलेख मिलते हैं (दे. आगे **27**)। छठीं-सातवीं शती में यह मिलावट समाप्त हो जाती है। केवल तथाकथित शर-शीर्ष शैली (दे. आगे **26 ई**) जो फलक IV-VI का सातवाँ

194. ज. ए. सो. बं. LX, पृ. 80 तथा आगे; इ. ऐ. XXI, पृ. 29 तथा आगे।

विभेद है, ही एकमात्र ऐसा उदाहरण है जिसमें उत्तरी भारत में दक्षिणी लिपि का प्रयोग हुआ है। यह शैली बंगाल और नेपाल में अपेक्षाकृत काफी बाद में प्रकट होती है।

इसके विपरीत सातवीं शती से हमें तटीय प्रदेशों में, पहले पश्चिम में गुजरात में[195] और पूरब में मद्रास से भी आगे[196] ऐसे अभिलेख मिलने लगते हैं जिनमें उत्तरी शैली के अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। इस भाँति के प्रलेख आठवीं शती के मध्य से मध्य डेक्कन में भी मिलने लगते हैं। 12वीं-13वीं शती में तो यह प्रवृत्ति कन्नड़ क्षेत्र विजयनगर में भी प्रविष्ट हो जाती है (दे. आगे **23**) किंतु द्रविड़ क्षेत्र की उत्तरी सीमा के परे इनका एकछत्र राज्य कभी स्थापित नहीं हुआ।

काशगर, जापान, और नेपाल में अब तक जो हस्तलिखित ग्रंथ मिले हैं—सबसे प्राचीन ग्रंथ संभवतः चौथी शती का है[197]—उनमें केवल उत्तरी शैली के अक्षर मिलते हैं। पश्चिमी भारत की ताड़पत्रों पर लिखी हस्तलिखित पुस्तकों में, जो 10वीं शती से मिलने लगती हैं, अभिलेखों की ही लिखावट मिलती है। इनसे सिद्ध होता है कि राजस्थान, गुजरात[198] और उत्तरी डेक्कन में[199] देवगिरि (दौलताबाद) तक उत्तरी नागरी ही सामान्यतया इस्तेमाल में आती थी। उत्तरी शैली धीरे-धीरे दक्षिण में बढ़ती गई। इसका खुलासा इस प्रकार हो सकता है कि दक्षिण के अनेक राजाओं का उत्तर की परंपराओं के प्रति अनुराग था और उत्तर से ब्राह्मण, लेखन पेशेवाली जातियाँ और बौद्ध और जैन भिक्षु दक्षिण में गये। इसका प्रमाण अनेक अभिलेखों और ऐतिहासिक परंपराओं में सुरक्षित है।[200]

---

195. वलभी से प्राप्त इस काल के अभिलेखों के खंडित अंश रायल एशियाटिक की बंबई और राजकोट शाखाओं के संग्रहालयों में हैं। मिला. ज. रा. ए. सो. 1865, 247।

196. ब., ए. सा. इं. पै. LIII और फल. 22 *a*; इं. ऐ XVIII, 161, 172.

197. बर्नेल की राय है कि ग्राडफे संग्रह के काशगर में प्राप्त कतिपय अंश बावर की हस्तलिखित प्रति से पुराने हैं, ज. ए. सो. बं. LXVI, 258 और मैं बर्नेल से सहमत हूँ।

198. कीलहार्न, **संस्कृत पांडुलिपियों की खोज-रिपोर्ट** 1880-81. पृ. 1 पीटरसन की **दूसरी रिपोर्ट**, परिशिष्ट 1, और **तीसरी रिपोर्ट**, परिशिष्ट 1.

199. ज. रा. ए. सो. 1895, 217.

200. मिला. ब., ए. सा. इं. पै. XX, पृ. 53 तथा आगे; फ्लीट, ए. इं. III, 2.

22. चौथी-पांचवी शती की तथाकथित गुप्त लिपि : फलक IV

अ. उसके विभेद

तथाकथित गुप्त-लिपि के पूर्वी और पश्चिमी विभेदों में मिलनेवाला अंतर **ल, ष** और **ह** में देखा जा सकता है।[201] पूर्वी विभेद में **ल** (फल. IV, 34, I-III V, VI,) का वामांग तेजी से नीचे को झुक रहा है। जौगड़ के पृथक् आदेशलेखों के **ल** से मिलाइए (देखें, ऊपर, **16**, इ. 35)। ष (IV, 37, I-III, V, VI) के आधार की लकीर गोल कर दी गई है और मध्य के नीचे झुकते तिरछे डंडे में एक फंदे की तरह जोड़ दी गई है। **ह** (IV, 39, I-III, V, VI) की आधार की लकीर दबा दी गई है और खड़ी रेखा में जुड़ा हुक बायें को काफी घुमा दिया गया है, ठीक उसी तरह जैसे जग्गयपेट अभिलेखों में (दे. ऊपर **20**, इ)। पश्चिमी विभेद में इन तीनों अक्षरों के पुराने और अधिक पूर्ण रूप ही चल रहे हैं।

फलक IV के पूर्वी विभेद के नमूने प्राचीनतम गुप्त अभिलेख हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति (स्त. I-III) और कहाँव-प्रशस्ति से लिये गये हैं। निश्चय ही प्रयाग प्रशस्ति समुद्रगुप्त के राज्य-काल में, संभवतः ई. 370 और 390 के बीच खोदी गयी थी[202] और कहाँव-प्रशस्ति (स्त. V. VI) स्कंदगुप्त के शासनकाल में सन् 460 ई. में खोदी गयी थी। इनके अलावा फ्लीट के गुप्त **इंस्क्रिप्शंस** (का. इ. इं. 3) सं. 6-9, 15, 64, 65, 77 और भगवानलाल के **इंस्क्रिप्शंस फ्राम नेपाल** सं. 1-3[203] और कनिंघम के सं. 64 के गया अभिलेख[204] में भी इस विभेद के दर्शन होते हैं। फ्लीट का अभिलेख सं. 6 इतने पश्चिम मालवा

---

201. हार्नली केवल **ष** अक्षर का ही उल्लेख करता है (ज. ए. सो. बं. LX, 81), क्योंकि उसकी टिप्पणी में आगे **23** में चर्चित प्रकार का भी हवाला है।

202. जि. बे. वी. आ., 122, XI, पृ. 32 तथा आगे।

203. इं. ऐ. IX, पृ. 163 तथा आगे; मेरी राय में यह संवत् वह नहीं जो 318-19 ई. से चला जैसा कि फ्लीट का इं. इं. III, की भूमिका में पृ. 95, 177 तथा आगे कहते हैं; बल्कि यह नेपाल का कोई अपना संवत् है जिसका प्रारंभ कब हुआ, इसका पता अभी नहीं चल पाया है।

204. क., म. ग. फल. 25, यह गुप्त संवत् हो सकता है।

भिलसा के नजदीक कैसे मिलता है ? इसका खुलासा इस बात से हो जाता है कि यह लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक मंत्री ने उस समय खुदवाया था जब वह अपने स्वामी के साथ मालवा के अभियान पर गया हुआ था। यह मंत्री अपने को पाटलिपुत्र का निवासी बतलाता है। फ्लीट के अभिलेख सं. 77 की उत्पत्ति के बारे में कुछ भी पता नहीं। यह लेख एक मुहर पर खुदा है। मुहर लाहौर में खरीदी गई थी, पर संभवतः पूर्वी भारत में तैयार की गयी थी।

गुप्त लिपि के पश्चिमी विभेद की भी दो शैलियाँ हैं, घसीट गोलाईदार और कोणीय, स्मारक शैली। कोणीय शैली की विशेषता सिरों पर मोटी रेखाएँ और **र** (33) का हुकवाला रूप है। यह फलक IV के स्त. IV में मिलेगी। इस स्तम्भ की वर्णमाला 415 ई. की बिलसड़ प्रशस्ति से ली गई है। इसका एक सुंदर उदाहरण फ्लीट सं. 32, दिल्ली में मेहरौली लोहस्तंभ का अभिलेख है। घसीट शैली के नमूने स्तम्भ VII में 465 ई. के इंदौर ताम्रपट्ट से; स्त॰ VIII में तोरमाण के कुड़ा अभिलेख से[205], जो संभवतः ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध का है; और स्त. IX में उच्चकल्प के जयनाथ के 174 संवत्, संभवतः 423 ई.[206] के कारीतलाई ताम्रपट्ट से लिये गये हैं। यही शैली फ्लीट के सं. 4, 13, 16, 19, 22-31, 36, 61, 63, 66, 67, 69, 74, 76 और मथुरा के जैनों के दानलेखों, न्यू सिरीज सं. 38, 39[207] में भी मिलती है। ध्यान देने की बात यह है कि फ्लीट का सं. 13 का भितरी अभिलेख एक ऐसे स्थान में मिला है जहाँ पूर्वी विभेद मिलना चाहिए था। फ्लीट सं. 61 मालवा के के उदयगिरि का जैन अभिलेख है। इसमें उत्तरी अक्षरों में दक्षिणी का मेल है क्योंकि इसमें अ, **आ** के रूपों में भंग मिलता है और एक बार दक्षिणी **ऋ** भी। फ्लीट सं. 59, राजस्थान के विजयगढ़ अभिलेख के बारे में भी संभवतः ऐसा ही हुआ है। इसमें भी **र** के अंत में भंग है और **इ** और **ई** की मात्राएं फलक III के स्तंभ XVI से मिलती-जुलती हैं। गुप्त सिक्कों[208] के अक्षर पश्चगामी हैं, उदाहरणार्थ इनमें कुषान कालीन कोणीय **म** मिलता है।

---

205. इं. ऐ. XVIII, 225

206. फ्लीट के मत से उच्चकल्प राजा 249 ई. वाले चेदि या कलचुरि संवत् का प्रयोग करते थे, इं. ऐ. XIX, 227.

207. ए. इं. II, 210.

208. ज. ए. सो. बं. LVIII, फल. 2-4; ज. रा. ए. सो. 1889 फल. 1-4 और पृ. 34 तथा आगे और 1893, फल. 2.

आ. अभिलेखों की गुप्त-लिपि की विशेषताएं

गुप्त अभिलेखों की निम्नलिखित विशेष महत्त्वपूर्ण या निजी विशिष्टताओं की व्यौरेवार चर्चा आवश्यक है :

1. **अ, आ, ग, ड, भ** और **श** के दाईं ओर की खड़ी रेखाओं के निचले हिस्से काफी लंबे हो गये हैं। **क** और **र** की खड़ी लकीरें पहले से ही लंबी थीं। इन आठ अक्षरों की लंबाई उन अक्षरों की दुगुनी के करीब हो जाती है जिनमें खड़ी लकीरें नहीं हैं। यह विशिष्टता विशेषकर उन पुराने अभिलेखों में परिलक्षित होती है जो पत्थरों पर खुदे हैं। ताम्रपत्रों पर बहुधा ये रेखाएं छोटी मिलती हैं।

2. **घ, प, फ, ष,** और **स** के दायें भाग में एक-न्यून कोण बनता है। इसीसे बाद में इन अक्षरों में दुमें निकल आती हैं या दाईं ओर खड़ी लकीरें बन जाती हैं।

3. पांचवीं शती के मध्य से **अ** (1, IX, XI) के वामांग के निचले हिस्से में एक भंग मिलने लगता है जो बाईं ओर को खुलता है। इस अक्षर के सभी उत्तरकालीन रूपों में यह मिलता है। **अ** को दीर्घ कर **आ** बनाने का चिह्न दाईं ओर की खड़ी लकीर के पैर में जुड़ता है (2, VII-IX)।

4. अक्षरों के सिरों को चपटा करने की प्रवृत्ति इस काल में रही है। इसी वजह से कुषानकालीन **इ** (3, I, V) के अतिरिक्त **इ** का एक ऐसा रूप भी मिलता है जिसमें ऊपर दो बिंदियाँ हैं (3, VII)। बाद में यह रूप खूब मिलता है। इसका एक रूप और है जिसमें नीचे दो बिंदियाँ और ऊपर एक आड़ी लकीर होती है (3, IX)। इसी रूप से बाद का दक्षिणी का **इ** का रूप (फल. VII, VIII, और देखि. आगे **28**) नागरी की **इ** (देखि.आगे **24, अ**, 4) के रूप बने।

5. **उ, ऊ** और **ओ** में शुरू में बाएं किनारे जो भंग बने थे, पाँचवीं शती में उनका और अधिक विकास हो गया। मिला. ऊपर **19, आ,** 4)।

6. **श** और **ह** (11, VII) के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कंठ्य **ङ** मिलना शुरू हो जाता है। इसका कारण अशुद्ध उच्चारण हो सकता है, शिक्षा[209] में इसे दोषयुक्त बताया है।

7. **ज** (14, I-III, VII, VIII) की तीसरी आड़ी रेखा अब नीचे की ओर तिरछे गिरने लगती है। इसमें आखीर में कभी-कभी भंग भी मिलता है। इसी से आगे चलकर स्त. XXI-XXIII के नये रूप निकलते हैं।

8. तालव्य **ञ** (16, I, II; 42, I, VI, VII, XI) को अक्सर घसीट कर लिखते हैं और गोला कर देते हैं। जगह बचाने के लिए इसे कभी-कभी

209. हाग, **वेडिशेर ऐक्संट**, 64.

बगल में रख देते हैं। ज्ञः, फलक III, 40, XIV से भी तुलना कीजिए। किंतु पुराने कोणीय रूप भी चलते रहते हैं (42, V)।

9. **ट** (17, I-III, IX) का ऊपरी हिस्सा अक्सर चपटा कर नीचे झुका देते हैं।

10. 21, I, II के **ण** में दायें किनारे एक छोटी-सी लकीर है। यह लकीर दाईं तरफ हुक को ठीक स्थान पर न बनाने की वजह से बनी है। दूसरे चिह्न में घसीट लेखन के कारण बाईं ओर एक फंदा बन गया है। 21, III में अक्षर को बगल में लिटा दिया गया है। यह अक्षर नागरी **ण** से कुछ-कुछ मिलता है।

11. **थ** (23, I, V-IX) अधिकतर अर्घवृत्ताकार या दाईं ओर को चिपटा किया होता है। केन्द्र में बिंदी के स्थान पर एक अर्गला लगती है। पुराना रूप भी चलता रहता हैं (23, II, III)[210]।

12. **य** (32, I-IX) का त्रिपक्षीय रूप ही अधिकतर मिलता है। पर कभी-कभी, खासकर **ये, यै** और **यो** में फंदेदार उत्तरकालीन, 32, VIII, XVI जैसे संक्रांतिकालीन रूप भी मिलते हैं। इनसे ही द्विपक्षीय रूप बनते हैं।[211] **य** के स्वतंत्र फंदेदार रूप का सबसे प्राचीन उदाहरण 371 ई. का फ्लीट का सं 59 का अभिलेख है, किंतु कुषान अभिलेखों में संयुक्ताक्षर में नीचे का फंदेदार **य** इससे भी प्राचीन है (दे. **19**, आ 12)।

13. **स** (38, I-III, V, VI, VIII) का वामांग बहुधा फंदे की शक्ल में परिणत हो जाता है। कुषान अभिलेखों में भी ऐसा हो जाता था (दे. **19**, आ, 16)। इस फंदे के स्थान पर त्रिभुज भी मिलता है (संभवतः यह एक कील की ही रूप रेखा है।) ऐसे त्रिभुज नेपाल के तीन प्राचीनतम अभिलेखों में मिलते हैं। मिला. 38, XII का उत्तरकालीन **स**। किंतु प्राक्तर हुकदार **स** भी इतना ही प्रचलित है।

14. दुर्लभ ळ (40, I-III) फ्लीट सं. 17 की प्रथम पंक्ति में भी मिलता है।

15. स्वरों के मात्रा चिह्न अनेक बातों में कुषान काल के चिह्नों से मिलते-जुलते हैं। किन्तु **टा** (17, II) और **णा** में **आ** की मात्रा का चिह्न खुला अर्द्ध-वृत्त है जो एक नवीनता है। **इ** की मात्रा, उदाहरणार्थ **खि** (8, III, VI, IX) में, पहले के अभिलेखों की अपेक्षा और बायें खिंच गई है। कुछ अभिलेखों

---

210. मिला. फ्ली. गु. इं (का. इं. इं. III) सं. 61 की प्रतिकृति से।

211. ज. ए. सो. बं, LX, पृ. 83 तथा आगे।

में जैसे, मथुरा न्यू सिरीज सं. 38, 39 में, ई की मात्रा केवल एक भंग है जो दायें को जा रही है, पर दो सींगों वाले (जैसे **दी**, 24, I में) और फंदेवाले (जैसे **भी**, 30, IV में) रूप अधिक प्रचलित हैं। **उ** की मात्रा के लिए पुराने भंग का ही प्रयोग अधिकांशतया होता है, जो **रु** (33, III, VI) में असामान्य ढंग से **र** के आखीर में लगा है। **गु** (8, II, VI) **तु**, **भु** (30, I) और **शु** (36, III) में स्वर का चिह्न ऊपर को उठ गया है। **गू** (9, IV) में ऊ की मात्रा का पुराना चिह्न ही चल रहा है। पर **भू** (30, II, VI) और **ट्टू** (42, II) में ऊ की मात्रा के दूसरे रूप भी हैं। **धू** (25, II, VI) में इसका जो भंग वाला रूप है वह बाद में खूब चला। **ऐ** और **ओ** की एक मात्रा प्रायः लंबवत् लगती है जैसे, **ग** (32, III); **गो** (9, III) और **णो** (21, III) में।

16. जगह की बचत के लिए घसीट **ञ**, **ट** (दे. **ष्ट**, 45, IX) और **थ** (देखि. **स्था**, 45, V; **स्था** 46, IX) यदि संयुक्तारों में दूसरे अवयव हों तो बगल में रख दिये जाते हैं। पांचवीं शती से **र्य** (45, VII) लिखने में पूरा **र** बनाकर उसके नीचे **य** लिखते थे।

17. इसी प्रकार पांचवीं शती से ही विराम का चिह्न (दे. **द्धम्**, 43 VII) जिसके बारे में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं, पहली बार मिलना शुरू होता है। इसके लिए लघु अंत्याक्षर के ऊपर एक आड़ी लकीर बना देते हैं। उत्तरी जिह्वामूलीय (**:क**, 46, II) और उपध्मानीय (**:पा**, 46, III) चौथी शती में ही मिल चुके हैं।

इ. हस्तलिखित ग्रंथों में गुप्तलिपि

बावर की हस्तलिखित प्रति के बारे में हार्नली की और मेरी भी[212] मान्यता है कि वह पांचवीं शती की है। फल. VI, स्त. I—IV में मैंने हार्नली द्वारा *A* अंकित अंश की ही वर्णमाला दी है। पुरालिपिक परीक्षण के लिए उनके द्वारा *B* और *C* अंकित अंश पर्याप्त नहीं हैं। इसके अक्षर गुप्तकालीन अभिलेखों से, विशेषकर ताम्रपट्टों से बहुत कम भिन्नता रखते हैं। अक्षरों की खड़ी लकीरों के सिरों पर लगने वाले शोशे अवश्य ही अधिक सावधानी और सफाई से बनाए गये हैं। खड़ी रेखाओं के सिरों पर शोशे लगने से तो ये लकीरें सचमुच कीलों की तरह

---

212. ज. ए. सो. बं. LX, 92; वी. त्सा. कुं. मो. V, पृ. 104 तथा आगे। सातवीं शती के एक ऐसे अभिलेख का पता चला है जिसमें अधिकांश रूप में त्रिपक्षीय **य** का प्रयोग है, ए. इं. VI, 29। इससे हार्नली के तर्कों में परिवर्तन की आवश्यकता हो गयी है, किंतु उनके अंतिम निष्कर्ष गलत नहीं सिद्ध हुए हैं।

दीखती हैं। यदि घ (फल. VI, 18, I-IV) जैसे किसी अक्षर में, जिसमें ऊपर की ओर कई लकीरें हों तो सभी लकीरों में शोशे लगते हैं। इसी प्रकार अक्षरों की खड़ी लकीरों में नीचे भी शोशे लगते हैं या कीलें या नन्हीं बटनें बना दी जाती हैं। हस्तलिखित ग्रंथों में जो सामग्री लिखने के काम में आती है वह पत्थर या तांबे से अधिक अच्छी होती है। उस पर अक्षरों में अधिक एकरूपता रहती है। शोशों की अवश्यंभाविता के कारण **क** (15, IV) के बायें एक फंदा लगता है[213] (मिला. 15, I, III)। बावर की प्रति में कभी-कभी यह रूप मिलता है। अभिलेखों में यह बाद में सन् 588-89 (देखि. फल. IV, 7, XIII) से दीखता है। बावर की प्रति में द्विपक्षीय **य** का एक पुरागत रूप भी मिलता है; उदाहरणार्थ **प्रयोजयेत्** (फोलियो 31*a*, 11) में। पर यह रूप बहुत कम प्रयोग में आता है। अंत में, इस प्रति में कुछ ऐसी ध्वनियों के भी चिह्न मिलते हैं जिनका अभिलेखों में बहुत कम प्रयोग मिलता है। चौथी-पांचवीं शती के अभिलेखों में अभी तक ये चिह्न नहीं मिले हैं। दीर्घ **ई** (4, I), लघु **ऋ** और **औ** (14, I, II) ऐसे ही चिह्न हैं। दीर्घ **ई** में पुरानी ऊपरी और निचली बिंदियों को मिलाकर एक सीधी रेखा बना दी गई है (मिला. फल. VI, 4, V, VII)। लघु **ऋ** में **र** में **ऋ** की मात्रा लगा दी है (मिला. ऊपर **1**, और आगे **24**, **अ**, 7)। **औ** (14, I, II) सन् 532 ई. के अभिलेखीय चिह्न (फल. IV, 6, X) से पूरी तरह मिलता है। **नृ** (34, III) में दूसरा चिह्न **ऋ** का है जो दुहरा **ऋ** है। दोनों चिह्न अगल-बगल में आड़े रख दिये गये हैं।

23. न्यूनकोणीय और नागरी शैलियाँ : फलक IV, V, VI

छठी शती के प्रारंभ में उत्तरी अभिलेखों में—पूर्वी और पश्चिमी भारत दोनों क्षेत्रों में हम एक नये विकास का प्रारंभ देखते हैं। (फल. IV, स्त. X—XII)[214] इसीसे सबसे पहले सन् 588-9 के गया अभिलेख (फल. IV, स्त. XIII, XIV) और लक्खामंडल प्रशस्ति (फल. IV, स्त. XV, XVI)[215] के रूपों का निर्माण होता है। यह प्रशस्ति संभवतः गया अभिलेख

---

213. *Anecd. Oxon.*, *Aryan Series*, I, 3, 76.

214. मिला. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 20, 24, 33, 34, 36, 37, 47, 51, 70, 75 तथा कुमारगुप्त द्वितीय की मुहर की प्रतिकृतियों से भी, (ज. ए. सो. बं. LVIII, 84)।

215. मिला. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 72, 76, 78, 79, 80 की प्रतिकृतियों से भी।

से बहुत बाद की नहीं है। इन रूपों की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें अक्षर दायें से बायें को झुकते हैं। नीचे या दाईं ओर आखीर में एक न्यून कोण बनता है। अक्षरों में खड़ी या तिरछी रेखाओं के सिरों पर हमेशा छोटी-सी कील बनती है। इनके आखीर में भी या तो ऐसे ही अलंकरण या दाईं ओर शैल-प्रवर्ध बनते हैं। अगली चार शताब्दियों के बहुसंख्यक अभिलेखों में ये विशेषताएं मिलती हैं। इसलिये मैं इस वर्ग के अक्षरों को 'न्यूनकोणीय अक्षर ही कहना उचित समझता हूँ। पहले[216] प्रायः इन्हें 'कील-शीर्ष' कहते थे किंतु इधर यह नाम छोड़ दिया गया है। पर इसके स्थान पर किसी दूसरे जातीय नाम का प्रस्ताव नहीं हुआ है। फ्लीट ने गया अभिलेख[217] के संपादन में केवल यही लिखा है कि अक्षर उत्तरी वर्ग के हैं। इनका भारतीय नाम संभवतः सिद्धमातृका (लिपि) था, क्योंकि बरूनी[218] कहता है कि इस नाम की कोई लिपि उसके समय (लग. 1030 ई.) में कश्मीर और बनारस में प्रचलित थी। मालवा में नागरी लिपि थी। यदि बनारस की सामान्य लिपि कश्मीर की लिपि से मिलती-जुलती थी तो भी इसमें लंबी आड़ी शिरोरेखाएं नहीं हो सकतीं जो नागरी की सदा से विशेषता रही हैं। पर बरूनी की उक्ति अति संक्षिप्त और अस्पष्ट है। इससे इस प्रश्न का कोई निश्चित हल नहीं निकलता।

ऊपर जिन दो अभिलेखों की चर्चा आई है वे अपने सगोत्री अन्य लेखों की भाँति पश्चिमी गुप्त लिपि से संबद्ध हैं। ये छठीं शती की न्यूनकोणीय लिपि के विकास में प्रथम चरण के सूचक हैं। होरियूजी के ताड़-पत्र भी इसी उपविभाग के अंतर्गत आते हैं। जापानी परंपरा के अनुसार ये छठी शती के द्वितीयार्ध में विद्यमान थे।[219] यदि 14 वर्ष पूर्व जब मैंने इन ताड़पत्रों की लिपि पर *Anecdota Oxoniensia* में निबंध लिखा था, गया और लक्खामंडल अभिलेखों की छाप मुझे उपलब्ध होती तो जापानी परंपरा को सही सिद्ध करने के लिए इनके अक्षरों से तुलना कर देना ही पर्याप्त होता।

सन् 635 के अंशुवर्मा के अभिलेख (फल. IV, स्त. XVII) और

---

216. उदाहरणार्थ देखि. टाड, **ऐनल्स आफ राजस्थान,** (मद्रास संस्करण) I, पृ. 700 तथा आगे।

217. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), 274

218. इंडिया, I, 173 (सचाऊ)

218. *Anecd. Oxon., Ar. Series,* 3, 64.

219. *Anecd. Oxon., Ar. Series,* I, 3, 64.

उसकी प्रायः समकालिक आदित्यसेन की अफसड़-प्रशस्ति के अक्षर (फल. IV, स्त. XVIII) न्यूनकोणीय लिपि के सातवीं शती में अगले विकास के द्योतक हैं। ध्यान देने की बात यह है कि अंशुवर्मा के अभिलेख और तत्कालीन अन्य नेपाली लेखों में **ष** का गोला रूप मिलता है। इस प्रकार ये पूर्वी गुप्त अक्षरों से संबद्ध है। उधर अफसड़ प्रशस्ति और उससे संबद्ध भारतीय लेख पुरानी उत्तरी लिपि के पश्चिमी विभेद से संबद्ध हैं।[220] इस दूसरे विभेद को फ्लीट 'सातवीं शती का मगध का कुटिल विभेद' कहता है[221] क्यों कि इसमें लकीरों के निचले भाग में मोड़ अधिक स्पष्ट हैं। मैं इसे 'कुटिल' कहना पसंद नहीं करता। सबसे पहले प्रिंसेप ने यह नाम सुझाया था।[222] तब से बहुत-से लेखक इसे यही नाम देते आ रहे हैं। इसका आधार देवल प्रशस्ति में आया 'कुटिल अक्षर' का उल्लेख है।[223] पर लोगों ने इस पद का गलत अर्थ किया है। मैं इसे पुरालिपिक पारिभाषिक शब्दावली से निकाल देना चाहता हूँ। इसी प्रकार कीलहार्न भी इस काल के अनेक अभिलेखों के लिपिशास्त्रीय अध्ययन के समय इस प्रयोग से बचना चाहता है। [224]

8वीं-10वीं शती में न्यूनकोणीय या सिद्ध मातृका लिपि धीरे-धीरे विकसित होती-होती अपनी उत्तराधिकारिणी नागरी लिपि की ओर चली जाती है। नागरी के पुराने भारतीय रूप और इसमें फर्क सिर्फ यही है कि नागरी में खड़ी लकीरों

---

220. मिला. इं. ऐं. IX, पृ. 163 तथा आगे, सं. 4-10, 12; बेंडेल, **जर्नी इन नेपाल**, 72, सं. 1. 2; की प्रतिकृतियों से और हार्नली की टिप्पणी, ज. ए. सो. बं. LX, 85 भी देखिए।

221. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), 201, 284; ए. इं. III, 328, टिप्पणी 1.

222. ए.सो. बं., VI, 778, फल. 41.

223. ए. इं. I, 76, मैंने **कुटिलान्यक्षराणि विदुषा** का अर्थ किया है 'कुटिल अक्षरों के ज्ञाता द्वारा'। कुटिल अक्षरों से तात्पर्य है उन अक्षरों से जो कठिनाई से पढ़े जा सकें। अपने इस खुलासे की पुष्टि में मैं **विक्रमांक चरित**, XVIII, 42 का उद्धरण देना चाहूँगा जहाँ कहा गया है कि रानी सूर्यमती ने अपने को **कायस्थैः कुटिल लिपिभिः** अर्थात् 'कुटिल अक्षरों के लेखकों से' ठगे जाने से बचाया।

224. मिला. इस श्रेणी के अभिलेखों पर इं. ऐ. XVII, 308, XIX, 55; XX, 123; XXI, 169; ए. इं. I, 179; II, 117, 160 में उसकी टिप्पणियाँ।

के सिरों पर कीलों के स्थान पर आड़ी रेखाएं बनाते हैं। ऐसे भी लेख मिलते हैं जिनमें कुछ अक्षरों में कीलशीर्ष हैं और कुछ में आड़ी शिरोरेखाएं। इसलिए कभी-कभी तो अभिलेखों के सही वर्गीकरण में भी कठिनाई होने लगती है।

इसी तीसरे और न्यूनकोणीय लिपि के अंतिम विभेद[225] के अंतर्गत सन् 708-9 के मुल्ताई ताम्रपट्ट[226] (फल. IV, स्त. XX); संभवतः सन् 761 का डिघवा दुबौली पट्ट (फल. IV, स्त. XXI)[227], सन् 876 ई. का ग्वालियर अभिलेख (फल. V, स्त. II) और घोसरावा अभिलेख के भी (फल V, स्त. VI)[228] अक्षर आते हैं जो नवीं या दसवीं शती के होंगे। हस्तलिखित ग्रंथों में कैंब्रिज की पांडुलिपि सं. 1049 (फल. VI, स्त. VIII) भी इसी वर्ग की है। इस पर संवत् 252 [229] की तिथि है। यह संवत् संभवतः अंशुवर्मा संवत् है जो सन् 594 में चला।[230] इस प्रकार यह प्रति सन् 846 की हुई। न्यून कोणीय और नागरी लिपियों के बीच एक माध्यमिक स्थिति भी है जो लगभग सन् 900 ई. की पहोवा प्रशस्ति (फल. V, स्त. III), सन् 992 या 993 ई. की देवल प्रशस्ति (फल. V, स्त. VIII) और परमार राजा वाक्पतिराज द्वितीय के सन् 974 ई. के ताम्रपट्ट के अक्षरों में (फल. V, स्त. X)[231] में मिलती है। इनमें कीलें तो अवश्य मिलती हैं, पर ये इतनी चौड़ी हैं कि सीधी शिरोरेखाओं-सी ही लगती हैं। अलावा, अ, आ, घ, प आदि के खुले सिर नागरी अभिलेखों की तरह बंद हैं। ऊपर ऐसे अभिलेखों की भी चर्चा आई है जिनमें कील शीर्ष और

---

225. इस विभेद और इससे पूर्व के विभेद के लिए मिला. इं. ऐ., II, 258; V, 180; IX, पृ, 174 तथा आगे, सं. 11, 13, 14, 15; X, 31; XVII 310; XIX, 58; बेंडेल, **जर्नी इन नेपाल**, फल. 10, 11, 13; ए. इं. I, 179; क., आ, स. रि. XVII, फल. 9 की प्रतिकृतियों से और क., क्वा. मि. इं. फल. 3, सं. 7-14; फल. 6, सं. 20 और फलक 7 की आटोटाइपों से।

226. फ्लीट, इं. ऐ. XVIII, 231 के विचार से 'संक्रमणकालीन प्रकार जिससे थोड़े ही समय में उत्तर भारत की नागरी वर्णमाला निकली'

227. फ्लीट, इ. ऐ. XV, 106 के विचार से 'उत्तर भारत की नागरी।'

228. मिला. इं. ऐ. XVII, 308

229. बेंडेल, **कै. कै. बु. म. ने.**, XLI; *Anec. Oxon., Ar. Series*. III, पृ. 71 तथा आगे।

230. सि. लेवी. ज. ए. 1894, II, पृ. 55 तथा आगे।

231. ए. इं. I, 76; इं. ऐ. VI, 48

आड़ी शिरोरेखा वाले दोनों प्रकारों के अक्षरों का मेल है। इस शैली के नमूने राष्ट्रकूट राजा गोविंद तृतीय के सन् 807-8 के राधापुर और वाणी दिण्डोरी ताम्रपट्ट (फल. V, स्त. IV)[232], चाहमान विग्रह द्वितीय के सन् 973 ई. के हर्षअभिलेख (फल. V, स्त. IX)[233] में मिलते हैं।

ऊपर उल्लिखित दोनों अभिलेख ऐसे सबसे पुराने प्रलेख नहीं हैं जिनमें नागरी अक्षर मिलते हैं। इसके सबसे पुराने वास्तविक नमूने[234] कैरा के ताम्रपट्टों (सन् 628 और 633), डभोई ताम्रपट्ट (सन् 642 ई.), नौसारी ताम्रपट्ट (सन् 705) और कावी ताम्रपट्टों (सन् 736)[235] के ऊपर गुर्जर राजाओं के हस्ताक्षरों में मिलते हैं। इनके ऊपर की इबारत दक्षिणी लिपि में है। पहले के तीन हस्ताक्षरों में नागरी अक्षर अल्पांश में हैं। अधिकांश अक्षर प्राक्तर उत्तरी या दक्षिणी रूपों के हैं। चौथे हस्ताक्षर में ही सभी चिह्नों के नागरी रूप हैं और ये पूरी तरह विकसित रूप हैं। किन्तु सबसे प्राचीन प्रलेख जिसमें सर्वत्र नागरी रूप हों राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग का सन् 754 ई. का सामनगड़ दान-पत्र ही है (फल. IV, स्त. XXII)[236]। कण्हेरी अभिलेख सं. 15 और 43 के अक्षर (फल. V, स्त. V)[237] भी अधिकांशतया इसी प्रकार के हैं। ये अभिलेख शिलाहार राजा पुल्लशक्ति और कर्पादिन द्वितीय के राजकाल में क्रमशः सन् 831 और 877 ई. में खुदवाये गए थे।

सामनगड़ और कण्हेरी के अभिलेखों और 9वीं शती के कुछ दूसरे लेखों में[238]

---

232. इं. ऐ. VI, 59; XI; 158; मिला. ए. इं. III, 103 और इ. ऐ. XIV, 200 की प्रतिकृतियों से।

233. मिला. इं. ऐ. XVI, 174 की प्रतिकृति से भी।

234. इससे पूर्व के उमेता और बेगुम्रा के पट्टों (इं. ऐ. VII,; XVI1 63, 199) की असलियत पर विवाद है (इं. ऐ. XVIII, पृ. 91 तथा आगे); उनके नागरी अक्षर *Anec. Oxon., Ar. Series* I, 3 फल. 6 पर दिये गये हैं।

235. देखि. ज. रा. ए. सो. 1865, पृ. 247 तथा आगे; ए. इं. V, 40; इं. ऐ. V, 113; XIII, 78 की प्रतिकृतियों और जि. बे. वी. आ. CXXXV, 8, 2 की टिप्पणियाँ।

236. इं. ऐ. XI, 105.

237. इं. ऐ. XIII, 235; XX, 421.

238. उदाहरणार्थ मिला. अंबरनाथ अभिलेख, ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. IX, 219; XII, 334; इं. ऐ. XIX, 242.

दक्षिणी नागरी का पुरागत विभेद मिलता है। उसका पूर्ण विकसित रूप कौठेम् के ताम्रपट्टों में (फल. V, स्त. XVII)[239] है जो सन् 1009-10 में चालुक्य राजा विक्रमादित्य के शासनकाल में खुदवाये गये हैं। 8-11 वीं शताब्दियों की दक्षिणी नागरी अपनी समकालीन उत्तरी भगिनी से मुख्य रूप से इस बारे में अलग है कि इसमें खड़ी लकीरों के नीचे दायें को झुकी दुमें नहीं हैं और इसके रूप कुछ अधिक अनम्य हैं। यह मराठा प्रदेश और कोंकण के शिलाहारों और यादवों के अनेक अभिलेखों और बेलगाँव के एक रट्ट राजा के अभिलेख[240] में मिलती है। 13-16 वीं शताब्दियों में इसका सबसे नवीन विकास कन्नड़ प्रदेश के विनयनगर या विद्यानगर के राजाओं के अभिलेखों में मिलता है।[241] मराठा जिलों की बालबोध या देवनागरी में यह अब भी जीवित है। दक्षिणी भारत की नंदिनागरी इसी से निकली है जिसमें अभी तक हस्तलिखित पुस्तकें लिखी जाती हैं।[242]

उत्तर और मध्य भारत में नागरी सबसे पहले महोदय के महाराज विनायकपाल के ताम्रपट्टों में मिलती है (फल. IV, स्त. XXIII)[243] जो संभवतः सन् 794 ई. के हैं। इसमें कुछ प्राचीनता है और **ख**, **ग** और **न** के रूपों में विशिष्टता है। यह बाद के पूर्वी भारत के अभिलेखों में भी मिलती है। कन्नड़ प्रदेश से एक अभिलेख मिला है जो इस प्रलेख से पुराना है। इसे उत्तर भारत से गये एक ब्राह्मण ने खोदा है। (दे. ए. इं. 3, पृ. 1 तथा आगे) इसमें नागरी और न्यूनकोणीय रूपों का मेल है। इससे यही संभव प्रतीत होता है कि कम-से-कम 8वीं शती के शुरू से ही उत्तरी नागरी[244]इस्तेमाल में थी। अगली शती में उत्तरी नागरी के अभिलेखों की

---

239. इं. ऐ. XVI, पृ. 15 तथा आगे।

240. मिला. इ. ऐ. VII, 304; IX, 32; XIV, 141; XVII, 122, ज. बा. ब्रा. रा. ए. XIII, 1; XV, 386; ए. इं. III, 272, 300, 306 की प्रतिकृतियों से।

241. मिला. ए. इं. III, 38, 152; ब., ए. सा. इ. पै. फल. 30 और फल. 20 की वर्णमाला की प्रतिकृतियों से।

242. ब., ए. सा. इं. पै. 52 (जहाँ नंदिनागरी को भूल से सिद्धमात्रिका से निकला बताया गया है) और फल. 21.

243. इं. ऐ. XV, 140.

244. देखि. इं. ऐ. XIII, 64 की प्रतिकृति।

संख्या अत्यल्प है। पर 950 ई. के बाद यह संख्या बढ़ जाती है और 11वीं शती में तो यह लिपि नर्मदा के उत्तर के प्रदेशों में छा जाती है।

मध्य भारत के सियाडोनी अभिलेखों (फल. V, स्त. VII) और गुजरात के प्रथम चालुक्य राजा के ताम्रपट्टों (फल. V, स्त. XI) [245] के अक्षरों में 10वीं शती की उत्तरी नागरी के रूप मिलते हैं। सियाडोनी के अभिलेख सन् 968 ई. और उसके बाद के हैं और गुजरात के ताम्रपट्ट 987 ई. में खोदे गये थे। कन्नौज के राष्ट्रकूट (गहड़वाल) राजा मदन पाल के सं. 1097 ई. के ताम्रपट्ट (फल. V, स्त. XII); पश्चिमी मध्यभारत में मालवा के परमार राजाओं की उदयपुर प्रशस्ति (संभाव्य तिथि 1060 ई.) (फल. V, स्त. XIII); सन् 1050 के चंदेल देववर्मन के नन्यौरा ताम्रपट्ट (फल. V, स्त. XIV) और त्रिपुरा के कलचुरी कर्ण के सन् 1042 के ताम्रपट्ट (फल. V, स्त. XV), दोनों मध्यभारत के पूर्व भाग के हैं; और गुजरात के चालुक्य भीम के सन् 1029 के ताम्रपट्टों में (फल. V, स्त. XVI) 11 वीं शती की उत्तरी नागरी के नमूने मिलते हैं।[246] 1100 से 1207 ई. की उत्तरी नागरी के उदाहरण अंतिम राष्ट्रकूट (गहड़वाल) राजा जयच्चन्द्र के सन् 1175 के एक ताम्रपट्ट (फलक V, स्त. XX); गुजरात के अंतिम चालुक्य राजा भीम द्वितीय के सन् 1199 और 1209 के ताम्रपट्टों (फल. V, स्त. XXI); मालवा के परमार उदयवर्मन का सन् 1200 का ताम्रपट्ट (फल. V, स्त. XXII) और त्रिपुरा के कलचुरि जाजल्ल के समय के सन् 1114 के रतनपुर के प्रस्तर अभिलेख (फल. V, स्त. XXIII) में मिलते हैं।[247]

इन नागरी अभिलेखों के अक्षरों से मिलते-जुलते अक्षर बहुसंख्यक ताड़पत्रों पर लिखे उन ग्रंथों के हैं जो गुजरात, राजस्थान और उत्तरी डेक्कन में मिले हैं। इनकी तिथियाँ 11वीं शती से तो निश्चय ही, पर संभवतः 10वीं शती

---

245. देखि. ऊपर **21**, पा. टि. 192; मिला. इं. ऐ. XII, 250, 263; XVI, 202; ए. इं. I, 122; ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. XVIII, 239 की प्रतिकृतियों से।

246. देखि. ऊपर **21**, पा. टि. 192; मिला. इ. ऐ. VI, 53, 54; VIII, 40; XII, 126, 202; XV, 36; XVI, 208; XVIII 34; ए. इं. I, 216; 316; III, 50 की प्रतिकृतियों से भी।

247. देखि. ऊपर **21**, पा. टि. 192; उदाहरणार्थ मिला. इं. ऐ. XI, 72; XVII; 226; XVIII, 130 की प्रतिकृतियों से।

से ही शुरू हो जाती हैं। फलक VI के स्त. XV--XVII में इनके नमूने हैं जो ल्यूमैन के फोटोग्राफ और सन् 1081 के **विशेषावश्यकभाष्यटीका** के अनुरेखण से लिये गये हैं। रायल एशियाटिक सोसायटी के सन् 1229 के **गणरत्न महोदधि** से भी कुछ पूरक सामग्री ली गयी है।[248] नेपाल के 11वीं-12वीं शती के कतिपय हस्तलिखित ग्रथों में भी 16वीं शती की उत्तरी नागरी के रूप मिलते हैं। फलक VI के स्त. XIII में कैंब्रिज हस्तलिखित ग्रंथ सं. 866 से इस लिपि का एक नमूना दिया गया है। कैंब्रिज की इस वर्ग की हस्तलिखित प्रतियों में यह सबसे पुरानी है और इसकी तिथि सन् 1008 है।[249] फलक VI, स्त. XIV की लिपि भी इसी प्रकार की है। यह *Anecdota Oxoniensia Aryan Series*, 1, 1, फलक 4 की **वज्रच्छेदिका** की वाइली की प्रतिलिपि के स्त० 1 का रिप्रोडक्शन है।

24. न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों में परिवर्तन के ब्योरे[250]

अ. मात्रिकाएं

कालांतर में न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों के अक्षरों में अनेक विध परिवर्तन हुए। इनमें मात्रिकाओं पर प्रभाव डालने वाले निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

1. **ए, घ, च, थ, ध, प, ब, म, य, ल, व, ष** और **स** में छोटी या बड़ी दुमें

---

248. कीलहार्न, रि. सं. म. 1880-81; पृ. VII, 37; ज.रा.ए.सो. 1895, 247, 504; मिला. *Pal, Soc. Or. Series* फल. 1, 2, 3, 58; *Cat, Berlin Skt. und Prakr. Hdschft.*, Band 2, 3, फल.I की प्रतिकृतियों से; **विशेषावश्यक** और अन्य हस्तलिखित ग्रंथों के हाशिये के नोटों में प्रायः अन्य घसीट लिपियाँ मिलती हैं, दे. ल्युमन का संस्करण, फल. 35.

249. बेंडेल. कै. बु. सं. म. ने. पृ. XXIV, 1; मिला. *Pal. Soc., Or. Series.*, पृ. 16 की प्रतिकृति से। ओल्डेनवर्ग के मत से (उनका पत्र तारीख 7 अप्रैल, 1897) इन नेपाली हस्तलिखित ग्रंथों की वर्णमाला तथा लञ्जा लिपि में है जिसमें **सद्धर्म पुण्डरीक** की एक हस्तलिखित प्रति भी मिली है जो सेंट पीटर्सवर्ग में सुरक्षित है।

250. इस पैराग्राफ के लिए मिला. बेंडेल, कै. कै. बु. म. ने. XLIII—LI; *Anec. Oxon., Aryan, Series*, I, 3, 73-87.

बनने लगती हैं। ये बाद में और साफ दीखने लगती हैं। ये दुमें पहले अक्षर की तलरेखा के नीचे दाईं ओर तिरछी होकर लगती हैं। किंतु बाद में नागरी में खड़ी लकीरें बन जाती हैं। इसका अपवाद मात्र **ए** अक्षर है। दसवीं शती से इस प्रकार की लटकनें **छ** (फल. V, 16, II, III आदि) और **ढ** (फल, V, 23, II) के मध्य में और **फ** (फल. V, III आदि) और **प** (फलक, V, 42, II—IV आदि) में भी लगने लगती हैं। **छ** और **ह** में नागरी में भी ये लटकनें रह जाती हैं। **फ** में यह लटकन माध्य खड़ी लकीर का रूप ले लेती है। न्यूनकोणीय लिपि में **ग, थ, ध** और **श** में बहुधा दाईं ओर एक सींग जैसा शैल-प्रबर्ध बनता है या खड़ी लकीर बढ़ने लगती है। सिरों के चपटे होने की वजह से नागरी **ध** में इसे छोड़ देती है। इन दोनों विशिष्टताओं का कारण लेखकों द्वारा दायां और बायां भाग अलग-अलग बनाने की प्रवृत्ति है। वे इन दोनों हिस्सों को जोड़ने में भी प्रमाद करते थे।[251] कालांतर में यें दोनों अनियमितताएँ अधिकांश अक्षरों की निजी विशेषताएँ बन गयीं।

2. कीलों के आखिरी हिस्सों को लंबा करने और लंबी शिरोरेखाएं बनाने के परिणाम स्वरूप **अ, आ, ध, प, फ, म, य, ष,** और **स** के सिर न्यूनकोणीय और नागरी दोनों लिपियों में धीरे-धीरे बंद हो जाते हैं।[252]

3. **अ** और **आ** के बायें अर्द्ध का निचला हिस्सा प्रायः एक भंग होता है जो बाईं ओर को खुलता है। यह भंग सबसे पहले कुषान अभिलेखों में यदा-कदा दीख जाता है (दे. ऊपर **19, आ,** 1)। बाद में उच्चकल्प पट्टों पर तो यह हमेशा ही मिलता है (फल. IV, 1, IX)। मराठों के बालबोध में यह भंग सुरक्षित है। संस्कृत के बंबइया संस्करणों में यह सामान्य बात है। नागरी के दूसरे पुराने नमूनों में इसके बदले दो तिरछी लकीरें लगती हैं (फल. V, 1. 2, XVI)। पहले अक्षरों के नीचे कील बनती थी। उसके बदले नीचे की ओर अब एक तीसरी लकीर भी जोड़ देते हैं। **अ, आ** के जो रूप बनारस और कलकत्ते के संस्करणों में मिलते हैं वे इसी रूप से निकले हैं। आठवीं शती तक दीर्घ **आ** के लिए हमेशा **अ** के चिह्न में दायें किनारे एक भंग जोड़ देते थे। बाद में इसके लिए नीचे की ओर जाती एक लकीर बनने लगती है। यह लकीर या तो **अ** के सिरे पर दाईं ओर लगती थी (जैसे, फल. IV, 2, XXI) या बीच में (फल. IV, 2, XXII)। इस प्रकार वह फिर उसी स्थान पर आ जाती है जहाँ अशोक

---

251. *Anec. Oxon., Aryan Series*, I, 3, 70
252. देखिए ऊपर **23.**

के आदेशलेखों में तदनुरूप आड़ा डंडा लगता था।[253] हस्तलिखित ग्रंथों में सिरों पर यह अधोगामी लकीर और पहले से मिलने लगती है (फल. VI, 2, VI)।

4. इ का चिह्न अधिकांश में इंदोर के गुप्त रूप (फल. IV, 3, VII) से निकला है। इसमें तीसरी बिंदी के स्थान पर एक भंग बना दिया गया है (फल. IV, 3, XI-XIII; V, 3, II-IV, आदि; VI, 3, VI-X)। पर इसके अतिरिक्त उच्चकल्प पट्टों (फल. IV, 3, IX) के इ से निकला भी एक रूप है (फल. V, 3, V, XII, XIII, आदि; VI, 3, XII-XV) जिसमें ऊपरी बिंदी के बदले आड़ी रेखा है। यही इ आधुनिक देवनागरी इ का जनक है जिसमें निचली दोनों बिंदियां भंगों में बदल गई हैं और अंत में इन्हें जोड़ दिया गया है। जैन हस्तलिखित ग्रंथों में यदा-कदा इ का वह रूप मिलता है जिसमें ऊपर दो बिंदियाँ और उनके नीचे एक भंग होता है। यह इ 15वीं-16वीं शती में भी मिलता है। दीर्घ ई का अद्वितीय रूप (फल. VI, 4, V, VII) और उसके उत्तरकालीन विकास (फल. VI, 4, XV) इ के उदाहरण पर ही बने हैं। ये ध्यान देने योग्य हैं।

5. उ और ऊ में हमेशा नीचे की ओर एक दुम होती है जो बाएं को जाती है। कालान्तर में यह अधिक पूर्ण होती चली जाती है।

6. ऋ का भंग जो र के दायें जुड़ता है होरयूजी के ताड़पत्रों (फल. VI, 7, V) में बहुत उथला और लंबा हो जाता है। यही उथला भंग पश्चिमी भारत के उत्तरकालीन हस्तलिखित ग्रंथों की खड़ी रेखा का पूर्व रूप है। (फल. VI, 7, XVI-XVII) कैंब्रिज के हस्तलिखित ग्रंथ सं. 1049 (फल, VI, 7, VII) और सं. 1691 में ऋ का भंग र के निचले भाग में जुड़ा है।

7. ॠ, ऌ, और ॡ के चिह्न सबसे पहले इसी काल की हस्तलिखित पुस्तकों में मिलते हैं (फल. VI, 8-10, V, VII, X)। इनमें ॠ का चिह्न लघु ऋ में ऋ के भंग को जोड़ देने से बना है। कैंब्रिज हस्तलिखित ग्रंथ सं. 1049 और 1691 में ऌ का जो रूप मिलता है वह दक्षिणी ल का ही एक घसीट रूप है (दे० फल. VII, 34, VI-IX), ठीक वैसे ही जैसे क्ऌ (VII, 42, XIV) में ऌ और कुछ कहीं ल का एक दूसरा रूप ही है। दीर्घ ॡ में लघु स्वर में ही एक ल उलटकर जोड़ देते हैं। होरियूजी की ताड़पत्रोंवाली हस्तलिखित प्रति में ऌ और ॡ (फल. VI, 9, 10, V) में ल बाईं ओर पूरा घुमा दिया

253. देखि. ऊपर . ई., 1. 2; 16 और फल. II, 2, II-X.

गया है और इनमें नीचे क्रमशः एक और दो भंग ऋ के लगा दिये गये हैं। ऌ और ऋ का संयोग नागरी में भी पश्चिमी भारत की हस्तलिखित पोथियों (फलक VI, 9, 10, XV) में और आज भी मिलता है। इसका कारण इसका उच्चारण है। परम्परा यही है ।

पुरालिपि के इस तथ्य का मेल चीनी बौद्धों की परंपरा से भी बैठ जाता है। इसकी खोज सिलवान लेवी ने की थी।[254] लेवी के मत से चीनी बौद्ध अकंठ्य स्वरों का आविष्कर्त्ता किसी दाक्षिणात्य को मानते हैं। इसका श्रेय वे आंध्र राजा सातवाहन के मंत्री सर्ववर्मन या बौद्ध आचार्य नागार्जुन को देते हैं।

8. ए और ऐ में हमेशा त्रिभुज का आधार ऊपर को चला जाता है यह नवीनता संक्रांतिकालिक रूपों में पहले से ही थी, देखि० फल. IV, 5, X, XI।

9. क में हमेशा बाईं ओर को एक फंदा मिलता है।[255] यह झुकी हुई अर्गला के सिरे और खड़ी लकीर के नीचे के शोशे या कील को मिला देने की वजह से बनता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं। जब अक्षर में उ और ऋ की मात्राएं लगती हैं (उदा. फल. IV, 7, XIV; V, 10, III; VI, 15,XVI, XVII) या दूसरे व्यंजन जुड़ते हैं (दे. फल. IV, 41, XVI; V, 43, II, III; VI, 49, V, XV; XVIII) तो ऐसा नहीं होता। नागरी अभिलेखों में तो व्यंजनों के संयोग में भी फंदा मिलता है और यह दुर्लभ नहीं है (दे. फल. IV, 7, XX, XXII; V, 43, VII, X-XIII)।

10. ख का फंदा या त्रिभुज जो पुराने वृत्त का प्रतीक है (फल. II, 10, VI, और ऊपर **3**, **अ**, 19) खड़ी लकीर के बाएं स्थित रहता है। यद्यपि इस अक्षर के अनेक रूप मिलते हैं पर यह सब में रहता है। अक्षर के वामांग की शक्ल में पर्याप्त विभिन्नताएं मिलने का कारण कुछ तो यह है कि अक्षर का सिरा चपटा हो गया है, पर इससे बढ़कर इसकी वजह यह है कि कील में अनेक आलंकारिक परिवर्तन होने लगते हैं। यह कील पहले प्राचीन हुक के नीचे लगती थी।

11. ङ में एक बिंदी आधुनिक देवनागरी की विशेषता है। पर यह बिंदी कर्ण के बनारस ताम्रपट्ट में जो सन् 1042 का है मिलती है। इस ताम्रपट्ट में

---

254. पत्राचार से सूचना मिली।

255. एक अपवाद उदाहरणार्थ झालरापाटण अभिलेख, इं. ऐ. V, 180 हैं, जिसमें सर्वत्र क्षुरिका रूप अक्षर मिलते हैं।

एक शब्द **जङ्गमें** (पंक्ति 11, अंत)[256] आया है। इसके ङ में यह बिंदी है। हमने यहाँ जो फलक छापे हैं उनमें एक ही उदाहरण बिंदी का दिया है जो काफी बाद के एक प्रलेख का है। (देखि. फल. V, 14, XIX) यह बिंदी संभवतः उस शैल-प्रवर्ध से ही निकली होगी जो अक्षर के सिर की लकीर के अंत में प्रायः मिलता है (देखि. फल. V, 14, V, VI, VIII)।

12. **ज** का बिचला डंडा पहले नीचे तिरछे झुकता है (फल. IV, 14, XXI—XXIII आदि) फिर एक खड़ी लकीर में परिणत हो जाता है (फल. V, 17, XIII, आदि; और VI, 22, XII आदि) साथ ही ऊपरी डंडा अक्षर की शिरोरेखा भी बन जाता है और एक दम नीचे वाला डंडा धीरे-धीरे एक दुहरे भंग में बदल जाता है।

13. होरियूजी ताड़पत्रों में स्वतंत्र **ञ** का दायां अंग (फल. IV, 24, V) ऊपर को उलट दिया गया है। संयुक्ताक्षरों में यदा-कदा यही रूप मिलता है। किन्तु इनमें चिह्न बगल में रखकर इसके कोणों को भंग का रूप दे देते हैं। दायां भंग खड़ी लकीर के किनारे जोड़ देते हैं। यह रेखा अब काफी छोटी हो चुकी है। इसलिए अक्षर अक्सर **ण** जैसा दीखता है (दे. फल. IV, 16, XI, आदि; V, 19, IV, V, आदि)। 11 वीं और बाद की शताब्दियों की नागरी में संयुक्ताक्षरों में आने वाला **ञ ज** के वामांग में जुड़ता है (फल. V, 19, XII-XIV; VI, 24, XVI) और आधुनिक देवनागरी का घसीट **ञ** जिसे अब हिंदू मात्रिका मानने लगे हैं इसी रूप के सरलीकरण का परिणाम है।

14. छठीं शती से ही मूर्धन्य **ट** के ऊपर प्रायः एक कील लगाने लगते हैं (फल. IV, 17, XVII; V, 20, II, VI; VI, 25, VI)। नागरी में इस कील की जगह एक छोटी-सी खड़ी या तिरछी लकीर मिलती है (फल. IV, 17, XXI, XXII; V, 20, XIII, आदि; VI, 25, XV)।

15. ऐसी ही जोड़ें मूधर्न्य **ठ** के ऊपर 10वीं शती में प्रकट होती हैं (फल. V, 21, X, आदि; VI, 26, XV)।

16. नवीं शती से दक्षिणी लिपि का गोली पीठ वाला मूर्धन्य **ड** इस्तेमाल में आने लगता है जिसके अखीर म बाईं ओर को खुला एक भंग होता है ' (फल. V, 22, II, VIII आदि)।

17. संयुक्ताक्षरों में मूर्धन्य **ण** की प्राथमिक आधार रेखा सातवीं शती से ही दबने लगती है (**ण्ड**, फल. IV, 21, XIX)। असंयुक्ताक्षरों में यह

256. ए. इ. II, 297.

प्रक्रिया 8वीं शती से शुरू होती है (फल. V, 24, III)। ऊपर **22, आ,** 10 और फल. IV, 21, III से भी तुलना कीजिए। इसके बाद शीघ्र ही चिह्न का रूप आधुनिक हो जाता है। इसमें सीधी शिरोरेखा होती है और इससे लटकती तीन रेखाएं (फल. V, 24, VII, आदि; VI, 29, XV आदि)।

18. **त** का आधुनिक रूप जिसमें दाएं खड़ी रेखा होती है अशोक के आदेश-लेखों में भी था। आठवीं शती में यह पुनः प्रकट होता है (फल. IV, 22, XXI) और 10 वीं शती में नियमित हो जाता है।

19. **थ** का जो आधुनिक रूप है वह 7वीं शती के खांचेदार रूप से निकला है (फल. XIV, 23, XVII)। यह रूप उसी काल के अभिलेखों में प्राप्त होता है (फल. IV, 23, XVIII आदि)।

20. सातवीं शती में **द** के निचले भाग में एक शोशा मिलता है (फल. IV, 24, XVII आदि)। इसके बाद शीघ्र ही यह शोशा आधुनिक अक्षर की दुम बन जाता है।

21. आठवीं शती में **न** का दायाँ भाग कभी-कभी खड़ी रेखा होता है। इसके बाएं एक फंदा जुड़ता है (फल. IV, 26, XVIII, XIX)। आगे **30** से भी तुलना कीजिए।

22. **फ** में मध्य में एक खड़ी रेखा के बनने से इसका रूप परिवर्तन हो जाता है। (ऊपर 1 में देखिए।) महाप्राणता का चिह्न भंग पहले नये चिह्न के सिर पर लगता है (फल. IV,28, XXII; V, 31, III, आदि)। किंतु 11वीं शती में यह नीचे की ओर खिसक आता है (फल. V, 31, XII) और 12वीं शती में वहाँ पहुँच जाता है जहाँ आधुनिक काल में है (फल. VI, 31, XX-XXIII)। किंतु फल. V, 31, II, XIV जैसे रूप भी दुर्लभ नहीं हैं। इनके प्रयोग संभवतः बहु-प्रचलित घसीट लेखन के कारण हैं।

23. **व** का उच्चारण प्रायः **ब** ही करते थे। इसलिए उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत में **ब** का प्राचीन चिह्न लुप्त हो गया। सातवीं और उसके बाद की शताब्दियों में अभिलेखों में उसकी जगह **व** का चिह्न ही प्रयोग में लाने लगे (फल. IV, 29, XX; V, 32, II आदि)। हस्तलिखित ग्रंथों में तो यह परिवर्तन और पहले से मिलता है (फल. VI, 37, V, VI)। 11वीं शती से एक नया **ब** ही चल निकला। इसमें **व** के फंदे के बीच में एक बिंदी रख देते थे। आधुनिक देवनागरी **ब** इसी से निकला है।

24. **भ** का वामांग अधिकांश में एक अंतर्मुखी कील था जिसकी नोक दाएं को थी। अब यह प्रायः एक त्रिभुज में परिणन हो जाता है जो सिरे पर खुलता है। इसी से मूल खड़ी रेखा का निचला हिस्सा झूलता है (फल. IV, 30, XIX आदि; V, 33, II, आदि)। आधुनिक देवनागरी **भ** 12वीं शती में प्रकट होता है (फल. V, 33, XV आदि) यह रूप कील वाले रूप से निकला प्रतीत होता है। इसमें कील के स्थान पर बाद में एक शोशा लगने लगा।

25. आठवीं शती से घसीट लेखन के कारण **म** में बाईं ओर एक घसीट फंदा बनने लगता है (फल. IV, 31, XX, XIX)। हस्तलिखित पुस्तकों में इसमें रोशनाई भर देते हैं (फल. VI, 39, XV-XVII)।

26. हस्तलिखित ग्रंथों और उदयपुर के अभिलेख (ऊपर टिप्पणी 212) और नेपाल के कतिपय अभिलेखों (टिप्पणी 220) को छोड़ कर अधिकांश अभिलेखों में **य** का एक मात्र फंदेदार या द्विपक्षीय रूप ही प्राप्त होता है। पिछला रूप कुषान काल से ही अभिलेखों में मिलने लगता है।[257] यह रूप फंदेदार रूप से ही निकला है।[258] सातवीं शती के नेपाली अभिलेखों में जिनमें **ष** का पूर्वी रूप मिलता है[259] एक त्रिपक्षीय **य** भी मिलता है जिसमें पहली ऊपरी लकीर के सिरे पर एक छोटा-सा वृत्त मिलता है (फल. IV, 32, XVII)। उदयपुर अभिलेख में सामान्य त्रिपक्षीय गुप्तकालीन **य** और द्विपक्षीय **य** दोनों मिलते हैं।

27. **र** के निचले भाग में कील का दायां कोना सातवीं और बाद की शतियों के अभिलेखों में अक्सर लंबा हो जाता है (फल. IV, 33, XVIII-XXI आदि)। कभी-कभी तो कील की रूपरेखा ही प्रकट होती है। यह आधुनिक दुमदार **र** का पूर्वरूप है।

28. सातवीं शती से हमें **श** का एक घसीट रूप मिलता है (फल. IV, 36, XVIII; 42, XIX; V, 39, II, III आदि; VI, 44, XV-XVII)। इसका बायाँ अद्धा एक फंदे के रूप में बदल दिया गया है जिसके दायें एक छोटी-सी दुम लग जाती है।

आ. स्वर मात्राएं आदि

1. **आ, ए, ओ, औ** की मात्राएं और **ऐ** की एक मात्रा प्रायः रेखा के ऊपर

---

257. देखि. ऊपर **19, आ,** 12. 258. ज. ए. सो. बं. LX, 87.

259. ज. ए. सो. बं. LX, 85.

लगती है। फिर, खासकर पत्थरों पर खुदे अभिलेखों में उसे अलंकृत करते हैं (देखि. उदाहरणार्थ फल. IV, स्त. XIII–XVIII)। इ और ई की मात्राएं अपेक्षाकृत दुर्लभ ही अलंकृत होती हैं।

2. इ और ई की मात्राओं के भंगों की दुमें नियमित रूप से नीचे को खिचती हैं। ये मात्रिका के क्रमशः बाएं और दायें लगती हैं। सिरों के भंगों के भेद मिट जाते हैं। इन्हीं रूपों से आगे चलकर देवनागरी की इ और ई की मात्राएं निकलती हैं।

3. ऊ की मात्रा के लिए प्रायः इस काल में ऊ का जो चिह्न है वही लगाते हैं (फल. IV, 30, XII, XIV, XVI, XX; VI, 44, VI) किंतु एक पुराना रूप भी, उदाहरणार्थ पू (फल. IV, 27, VI) में प्रचलित है जो ऊ की मात्रा के आधुनिक रूप का जनक प्रतीत होता है। यह पहले से ही पश्चिम की ताड़पत्रों की पुस्तकों में मिलता है (फल. VI, 35, XVI)।

4. सातवीं शती से[260]—सर्वप्रथम हर्ष के बांसखेरा ताम्रपट्टों पर—जिह्वामूलीय के लिए यदा-कदा एक घसीट चिह्न बनाते हैं जिसमें क की कील के नीचे एक फंदा होता है। (फल. V, 47, III)।

5. सातवीं शती से उपध्मानीय के लिए कभी-कभी एक ऊपर खुला भंग बनाते हैं। इसके किनारे मरोड़दार होते हैं और कभी-कभी इसके मध्य एक बिंदी भी होती है। यह चिह्न मात्रिका के बाएं लगता है (फल. IV, 46, XXIII; V, 48, VII)। यह फलक VII, 46, IV जैसे किसी रूप से निकला प्रतीत होता है।

6. प्राचीनतर अभिलेखों में विराम को अभी तक प्रायः स्वरहीन व्यंजन के ऊपर रखते हैं जिसके लिए पूर्ण रूप (final form) ही इस्तेमाल में आता है। इसमें एक दुम लग जाती है जो मात्रिका के दायें नीचे को खिचती है (दे. उदा. फल. IV, 22, XIV)। किन्तु इससे अधिक प्रचलित तरीका उसे व्यंजन के नीचे रखना है। पहले से ही संक्रातिकालीन रूपों वाले अभिलेखों में यह इसी स्थान पर मिलती है (फल. IV, 22, XI)[261]।

---

260. मिला. झालरापाटण अभिलेख की प्रतिकृति, इं. ऐ. V, 180, और भी देखि. इं. ऐ. XIII, 162.

261. 9वीं शती से यह रूप स्थिर हो जाता है।

इ. संयुक्ताक्षर

1. छठीं और बाद की शताब्दियों के अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रंथों में भी हमें कभी-कभी ऐसे संयुक्ताक्षर मिलते हैं जिनमें दूसरा व्यंजन पहले वाले व्यंजन के नीचे नहीं बल्कि उस की दाईं ओर रखा जाता है (देखि. उदाहरणार्थ फलक IV, 45, XI; V, 47, II; VI, 51, VI।[262]

2. न्यूनकोणीय लिपि के प्रस्तर के अभिलेखों में नीचे का दूसरा व्यंजन **य** प्राय: अलंकृत रहता है। सातवीं शती से कभी-कभी इसके पहले भी **य** की दाईं ऊपरी लकीर पूरे अक्षर की ऊपरी रेखा तक खिच जाती है (देखि. उदा. फल. IV, 46, VIII, XIX; 43, 45, XIII; VI, 51, VI)।

3. यदि किसी संयुक्त व्यंजन में पहले **र** आता है तो वह रेखा से ऊपर रहता है और इसके लिए एक कील की शक्ल या कोण या दाईं ओर को खुला भंग बना देते हैं। **र्म** में **म** का बायाँ भाग छोटा हो जाता है और इस छोटी रेखा पर रखी जाने वाली कील का सिरा ऊपरी रेखा से बाहर नहीं झांकता (फल. VI, 49, VI) ऊपर लिखे **र** के ऐसे ही अवनमन अफसड़ अभिलेख हर्ष के ताम्र-पट्टों और कतिपय हस्तलिखित ग्रंथों में[263] दूसरे व्यंजनों के साथ भी मिलते हैं। (फल. VI, 51, XIII, XIV)। 9वीं शती तक **र्य** के लिए **र** बनाकर उसके नीचे **य** लिखते थे (देखि. उदाहरणार्थ फल. IV, 44, XVIII; 45, VII और मिला. E I. 3, 103।

25. शारदा लिपि : फलक V और VI

अ. पश्चिमी गुप्त-लिपि के वंश में जन्मी शारदा लिपि[264] की पहिचान आसानी से हो जाती है। यह 800 ई. के आसपास कश्मीर और उत्तर-पूर्वी पंजाब (कांगड़ा और चंबा) में प्रकट होती है। अब तक शारदा के जितने अभिलेखों का पता चला है उनमें कीरग्राम (कांगड़ा) की दोनों बैजनाथ प्रशस्तियाँ सबसे पुरानी हैं (दे. फल. V, स्त. I)। इनकी तिथि 804 ई. है। कश्मीर के वर्म

---

262. *Anec., Oxon. Ar. Series,* I, 3, 87.

263. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), 202; कीलहार्न ए. इं. I, 179.

264. **कश्मीर रिपोर्ट** (ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. XII), 31; ज. ए. सो. बं. LX, 83 से इस पैराग्राफ को मिलाइए।

वंश के सिक्कों की शारदा लिपि के रूप पूर्ण विकसित हैं।[265] ये सिक्के प्रशस्तियों से बहुत बाद के नहीं हैं। युसुफजई जिले में मिली बख्शाली की हस्तलिखित प्रति भी (फल. VI, स्त. VIII) असंभव नहीं कि इसी काल की या उससे भी पहले की हो।[266] फल. VI, स्त. IX में शारदा लिपि का जो नमूना दिया गया है वह संभवतः 16वीं-17वीं शती का है और वर्खर्ड के शकुंतला के कश्मीरी संस्करण के फलक 1 से लिया गया है।[267] इतना आधुनिक नमूना देने का कारण यह है कि शारदा लिपि के इससे प्राचीन नमूनों का कोई रिप्रोडक्शन नहीं मिला।[268] कश्मीरी पंडित सदा से यात्रा प्रेमी रहे हैं और कश्मीर से बाहर जाते रहे हैं। यही कारण है कि शारदा लिपि में लिखे हस्तलिखित ग्रंथ उत्तरी-पश्चिमी भारत में तो मिलते ही हैं, पूरब में काशी तक इनका प्रसार है। पश्चिमी भारत में मिलने वाले प्राचीन नागरी के बहुत-से हस्तलिखित ग्रंथों में हाशियों पर शारदा लिपि में लिखी टिप्पणियाँ भी मिलती हैं।[269] शारदा का ही आधुनिक घसीट रूपों वाला एक विभेद तथाकथित टक्कारी या टाकरी[270] है जो जम्मू और उसके आसपास की डोगरों की लिपि है। अब तो कश्मीर में भी इसका प्रचार हो गया है।

आ. शारदा लिपि की विशेषता इसकी रूखी, मोटी लकीरें हैं जिनसे अक्षर बेडौल दीखते हैं और कुषान काल की लिपि से कुछ-कुछ मिलते हैं। निम्नलिखित अक्षरों का विकास जो प्राचीनतम काल में भी मिलता है, दर्शनीय है :

---

265. क, क्वा. मि. इं. फल. 4, 5.

266. **सातवीं ओरियंटल कांग्रेस, आर्यन सेक्शन**, 133; इं. ऐ. XVII, 33, 275.

267. जि. बे. वी. आ. CVII.

268. इस काल की शारदा लिपियों में एक हस्तलिखित ग्रंथ की एक अच्छी प्रतिकृति **कै. ब. संस्कृत. प्राकृ. मैनु**. जिल्द 2, 3, फल. 2 में है। इससे एक घटिया प्रतिकृति इंडिया आफिस के हस्तलिखित ग्रंथ सं. 3176 से और अक्षरों और संयुक्ताक्षरों की तालिका के साथ *Pal. Soc., Or. Series,* फल. 44 में है।

269. जि. बे. वी. आ. CXVI, 534.

270. **कश्मीर रिपोर्ट** (ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. XII), 32; वर्णमाला के लिए देखि. ज. रा. ए. सो. 1891, 362.

1. **ई** में दो बिंदियाँ अगल-बगल रखी हैं। नीचे एक **र** जैसा रूप है (मिला. बावर की प्रति के **ई** से) जो दूसरी दो बिंदियों का प्रतीक है (फल. V, 4, I; VI, 4, IX)।

2. **च** का चतुर्भुजी रूप (फल. V, 15, I; VI, 20, VIII, IX)।

3. मूर्धन्य **ड** में मध्य में न्यूनकोण के स्थान पर एक फंदा है और अंत में एक कील (फल. V, 22, I; VI, 27, VIII, IX)।

4. दंत्य **त** एक फंदे वाले रूप से निकला है। इसका बाईं ओर का आधा अंग मिट चुका है और दाईं ओर के आधे में एक भंग बन गया है (फल V, 25, I; VI, 30, VIII, IX)।

5. दंत्य **द** का सिरा चिपटा हो गया है, पर इसका निचला हिस्सा इतना चौड़ा है कि इसकी शक्ल देवनागरी **प** सी दीखने लगती है।

6. **व** के भंग के बाएं भाग का शिरोरेखा से संबंध हो जाने के कारण इसकी सूरत **ध** सी दीखने लगती है (फल. V, 38, I; VI, 43, VIII, IX)।

7. चतुर्भुजाकार **श** की सूरत हूबहू नागरी **स** सी है (फल V, 39, I; VI, 44, VIII, IX)।

8. **ऋ** की कोणीय मात्रा (फल. V, 43, I; VI, 43, VIII), **ओ** की मात्रा रेखा के ऊपर अलग खड़ी (फल. V, 24, I; VI, 31, IX) है। द्रष्टव्य है, यह निस्संदेह गुप्त कालीन **ओ** की मात्रा से निकली है (फल. IV, 34, IV)।

9. संयुक्ताक्षर के प्रथम भाग के रूप में **र** दूसरे अक्षर के बाएं लगता है जैसा अफसड़ अभिलेख में होता है।[271]

प्राक्तर प्रलेखों में दूसरे अक्षर पश्चिमी गुप्त लिपि से कम भिन्न हैं। जो इनमें परिवर्तन मिलते दीखते भी हैं वे वहीं हैं जो न्यूनकोणीय लिपि में मिलते हैं। सदा द्विपक्षीय **य** का प्रयोग और **ण** की आधार रेखा का दबना (दे. ऊपर **24**, **अ**, 17), **इ** और **ई** की मात्राओं का क्रमशः बाएं और दाएं खिचना (ऊपर **24**, **आ**, 2) और जिह्वामूलीयों का सरलीकरण (फल. V, 47, I) इस बात की ओर इशारा करता है कि सातवीं शती से पहले शारदा लिपि गुप्त लिपि से अलग नहीं हुई थी।

---

271. देखि. ऊपर **24**, इ. 3.

उत्तरकालीन शारदा में (फल. VI, स्त. IX) **ऊ, ए, ऐ, ओ, ज, ञ, भ** और **र्थ** (यह फल. VI, स्त. VIII में भी मिलता है) में और असामान्य विकास होते हैं। लंबी शिरोरेखाओं के इस्तेमाल की वजह से अनेक अक्षरों के जैसे, **अ, ए, य** के सिरे बंद हो जाते हैं।

26. नागरी लिपि के पूर्वी विभेद और शर-शीर्ष लिपि

अ. पूर्व बंगला : फल. V और VI

11वीं शती के अंतिम भाग में पूर्वी भारत के नागरी अभिलेखों में परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दीखने लगते हैं। इन्हीं से आधुनिक बंगला लिपि का उदय हुआ। 12वीं शती में इन परिवर्तनों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि इस लिपि को ही पूर्व बंगला कहा जा सकता है। परिवर्तनों का कुछ अनुमान निम्नलिखित प्रलेखों के अक्षरों को मिलाने से ही हो सकता है जिनका प्रतिनिधित्व हमारे फलकों में भी है :

1. देवपारा प्रशस्ति[272]–लग. 1080-90 ई. (फल. V, स्त. XVIII) जिसमें बंगला **ए, ख, ञ, त, थ, म, र, ल** और **स** मिलते हैं। (2) 1182 ई. का वैद्यदेव का भूदान-पत्र[273] (फल. V, स्त. XIX) जिसमें बंगला **ऋ, ए, ऐ, ख, ग, ञ, त, थ, ध, र,** और **व** मिलते हैं। (3) 1198-99 ई. का कैंब्रिज का हस्तलिखित ग्रंथ सं. 1699, 1, 2[274] **अ, आ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, औ, क, ख, ग, त, थ, न, म, य, र, व,** और **स** तथा **घ, ञ, ण,** और **श** के संक्रान्ति-कालीन रूप।

पूर्व बंगला के कुछ ही अक्षरों के रूप स्थानीय हैं। अधिकांश अक्षर पुरानी लिपियों में ठीक उसी रूप में या उससे मिलने-जुलते रूप में मिलते हैं। इसके **ऋ, ॠ, ऌ,** और **ॡ** अक्षर होरियूजी की हस्तलिखित प्रति से (फल. VI, 7-10, V), **ऊ** नेपाल के प्राचीनतम हस्तलिखित ग्रंथ के ऊ से (फल. VI, 6, VII, मिला. VI, 6, IX के शारदा के रूप से भी) और **औ** बावर की हस्तलिखित प्रति के **औ** (फल. VI, 14, I, II) से मिलता है। **अ, आ, क, न, म, य, व, ष,**

---

272. ए. इं. I, पृ. 305-6.

273. ए. इं. II, 347

274. मिला. बेंडेल, **कै. सं. बु. मैनु.** XXXVI में कुछ भिन्न विचार प्रकट करते हैं; और *Pal. Soc., Or., Series*, फल. 81. का मुद्रित अंश।

और **स** 8-10 वीं शती के फलक IV, V, की लिपियों में बार-बार आते हैं। इसका **ख** वैसा ही है जैसा बावर की हस्तलिखित लिपि का (फल, VI, 16, I) और **थ** फल. V, 26, IX सा है। दोनों दाईं ओर को खुलते हैं। और अंत में, **ग** और **घ**—जिनकी खड़ी रेखाएं पंक्ति के ऊपर दाएं को हैं—के पूर्व रूप 9-10वीं शती में मिल जाते हैं जिनमें सींग की तरह का एक शैल प्रबर्ध होता है (फल. V, 12, 24, II-IV, VI पर **24**, **अ**, I से भी तुलना कीजिए)। यहाँ तक कि **व** से मिलता-जुलता **र** (फल. V, 36, XIX; VI, 41, 49, X) भी अपने अंत की कील के असामान्य विकास के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। इसकी बहुत-कुछ समानता फल. V, 36, XIII, XIV के पश्चिमी और मध्य भारत के रूपों से है। बाईं ओर को खुले **ए** और **ऐ** और **ञ्च** (फल. V, 19, XVIII) और **ज्ञ** (फल, VI, 24, X) में विचित्र **ञ** एकदम स्थानीय रूप प्रतीत होते हैं। **त** (फल. V, 25, XVIII, XIX; VI, 30, X) के बारे में भी यही सच है। **त** का रूप शारदा और दूसरी लिपियों के **त** के रूपों से बहुत भिन्न नहीं हैं।

पूर्व बंगला की सबसे महत्त्वपूर्ण और तत्काल ध्यान आकर्षित करने वाली विशिष्टताओं में इसके अक्षरों में छोटे त्रिभुज जिनकी, नीचे को भुजाएं गोलाई-दार होती हैं और नेपाली हुक हैं। ये हुक अनेक अक्षरों में उनके सिरों पर बाईं ओर को लगते हैं। आधुनिक बंगला में इन विशिष्टताओं का परित्याग कर दिया गया है। **क्षि** (फल. V, 47, XVIII) और फल. V स्त. XIX के अनेक अक्षरों में त्रिभुज वर्तमान है। फल. V, 25 और 43, XVIII[275] के **क** और **त** में हुक है। यदि लक्ष्मण सेन के तर्पन-दिघी अभिलेख[276] की ओर ध्यान दें तो पायेंगे कि इसमें एक ही अक्षर में कभी त्रिभुज मिलता है और कभी हुक। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'नेपाली हुक' त्रिभुज को ही घसीटदार लिखने से बनता है। यह त्रिभुज भी शिरोरेखा के नीचे अर्ध-वृत्त का ही परिवर्तन रूप है। अर्ध-वृत्त के साथ शिरोरेखा यदा-कदा उत्तर और मध्यभारत के अलंकृत शैली के अभिलेखों में, जैसे विनायकपाल पट्ट (फल. IV, स्तं. XXIII में ऐसे अक्षर नहीं दिये हैं) और कनिंघम की **आर्कलाजिकल रिपोर्ट** जिल्द 10, फल. 33,

---

275. गया अभिलेख, में त्रिभुज और हुक दोनों मिलते हैं, इं. ऐ. X, 342.

276. ज. ए. सो. ब., XLI, फल. 1, 2.

सं. 3 के चंदेल अभिलेख में मिलती है। इस अंतिम रूप का संबंध उस रूप से है जिसमें अक्षरों की शिरोरेखाएं मोटी और दोनों किनारों पर गोलाईदार होती हैं। अर्धवृत्तों वाला रूप उसकी रूपरेखा ही देता है। मोटी रेखाओं वाला रूप अलंकृत शैली की हस्तलिखित प्रतियों में दुर्लभ नहीं है। बेंडेल के **कैटलाग आफ संस्कृत बुद्धिस्ट मैनुस्क्रप्ट्स फ्राम नेपाल**, फल. 2 सं. 1. 2 और फल. VI, स्त. XIV (विशेषकर पंक्ति सं. 5, 7, 15, 30, 37, 49) में ऐसे रूप हैं।

असामान्य अकेले अक्षरों में जिन्हें आधुनिक बंगला में ग्रहण नहीं किया गया है, निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं :

1. **इ** के चिह्न। फल. V, 3, XVIII, और VI, 3, X के रूप फल. IV, 3, IX आदि के प्राचीन **इ** के रूप के ही विकास हैं जो घसीट लेखन की वजह से बने हैं। किंतु फल. V, 3,4, XIX के **इ** और **ई** के रूप दक्षिणी प्रतीत होते हैं; मिला. फल. VII, 3, IV-VI।

2. फल. V, 20, XIX का 2 का रूप विचित्र-सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन गोले **ट** पर नेपाली हुक बनाकर और उसके किनारे पर एक शोशा लगाकर इसके असामान्य विकास के कारण यह रूप बना है। **ट** का प्राचीन रूप बाईं ओर के निचले भंग के रूप में पहचाना जा सकता है। मिला. स्त. XVIII और कैंब्रिज हस्तलिखित ग्रंथ सं. 1693 (बेंडेल, **वही**, फल. 4) के **ट** से।

3. फल. V, 29, XIX के **न** में फंदे और खड़ी रेखा को जोड़ने वाली कोई लकीर नहीं है। इस विकास का कारण घसीटकर लिखने की बलवती इच्छा ही है। वैद्यदेव अभिलेख के कई अक्षरों में जैसे **अ, आ, श** और संयुक्ताक्षर **त्क** (फल. V, 47, XIX) में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

4. **उ** की त्रिभुजाकार मात्रा, जैसे **कु** में (फल. V, 10, XIX) पुराने कीलनुमा रूप की रूपरेखा दीखती है जो **थु** (फल. V, 26, XVIII) और **षु** (फल. VI, 45, II) मिलता है। त्रिभुजाकार मात्रा लक्ष्मणसेन के तर्पन दिघी दानपत्र और अन्य पूर्वी अभिलेखों में भी मिलती है।

5. **बं** (फल. V, 38, XIX) और **कं** (फल VI, 15, X) के अनुस्वार पंक्ति पर लगे हैं जैसा कि प्राचीन कन्नड़ (दे. आगे **29**, इ. 5) और आधुनिक ग्रंथलिपि में होता है। विराम चिह्न रेखा के नीचे लगता है।

6. फल. V, 9, XVIII के **ओम्** में हमें आधुनिक अनुनासिक का प्राचीनतम रूप मिलता है। यहाँ अधिक प्रचलित बिंदी के स्थान पर एक वृत्त है।

फल. VI, 13, XI में बिंदी है। 12वीं शती के पूर्वी अभिलेखों में दोनों रूप काफी प्रचलित हैं[277] । पश्चिम[278] में ये इससे कम प्रचलित हैं और **ओम्** तक ही सीमित है । 11वीं शती के पहले के किसी भारतीय अभिलेख में मुझे अनुनासिक का प्रयोग नहीं मिला । संभवतः अनुस्वार को ही जान-बूझकर इस रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, क्योंकि वैदिक ग्रंथों में द्रव व्यंजन या ऊष्म वर्ण या **ह** के पूर्व अनुस्वार अनुनासिक में परिवर्तित हो जाता है ।

7. **वः** (फल. V, 38 XVIII) के विसर्ग में सिरे पर एक कील है यह वृद्धि अन्य आलंकारिक लिपियों में भी मिलती है (देखि. उदाहरणार्थ फल. VI, 30, XIV) । फल. VI, 51 X के विसर्ग में (मिला. फल. VI, 41, XI और गया अभिलेख से भी) घसीटकर लिखने के कारण इसका रूप रोमन अंक 8 की तरह का हो गया है । गया अभिलेख (इ. ए. X, 342) तथा उस काल के हस्तलिखित ग्रंथों में[279] इसमें एक छोटी-सी दुम भी लग जाती है । मिला. फल. VI, 60, XIV के **तः** से ।

आ. हुकों वाले नेपाली अक्षर : फल. VI

बेंडेल ने नेपाल की हस्तलिखित पुस्तकों[280] की ध्यान से परीक्षा के उपरांत बतलाया है कि हुकों वाले अक्षर सबसे पहले 12वीं शती में मिलते हैं और 15वीं शती के अंत आसपास इनका लोप हो जाता है । ऊपर की चर्चा से सिद्ध होता है कि 12वीं शती के बंगाल के अभिलेखों में 'नेपाली हुक' मिलते हैं । इससे उनकी उत्पत्ति का भी खुलासा हो जाता है । इसमें संदेह नहीं कि शिरोरेखाओं का यह रूप-परिवर्तन बंगाली प्रभाव का परिणाम है । बेंडेल ने भी माना है[281] कि इन पर बंगाली प्रभाव अनेक बातों में दीखता है ।

---

277. मिला. गया के अभिलेख, क,. आ. स. रि. III, फल. 37, सं. 12; फल. 38, सं. 13.

278. मिला. महोबा अभिलेख; क., आ. स. रि. XXI, फल. 21.

279. *Pal. Soc. Or. Series*, फल. 38, 82, 69 की बंगला हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिकृतियों से; राजेन्द्रलाल मित्र, **नोटिसेज आफ संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स**, III, फल. 5. 6; V और VI; और आदि बंगला अभिलेख, ज. रा. ए. बं., XLIII, 318. फल. 18 की प्रतिकृतियों से ।

280. बेंडेल, कै. सं. बु. म. ने. XXII,

281. **वही**, XXXV, XXXVII.

फलक VI में इस शैली के दो नमूने दिये गए हैं। इनमें पहला नमूना (स्त. XI) कैंब्रिज हस्तलिखित ग्रंथ सं. 1691 से लिया गया है।[282] यह सन् 1179 ई. का है। इस नमूने के अधिकांश अक्षरों में होरियूजी ताड़पत्र और कैंब्रिज हस्त. ग्रंथ सं. 1049 (स्त. V-VII) के रूप हैं। परिवर्तन भी हैं पर अत्यल्प। इतने बाद के प्रलेख में इतने परिवर्तन स्वाभाविक भी हैं। यदि हुकों पर ध्यान न भी दें, तो भी इ. ई, **ए** और **ऐ** में बंगाली विशिष्टताएं दीखती हैं। यही बातें सामान्यतया फल. VI, स्त. XII के दूसरे नमूने पर भी लागू है। यह नमूना ब्रिटिश म्यूजियम हस्त. ग्रंथ सं. 1439 से लिया गया है जो सन् 1286 का है।[283] किंतु इस लिपि में **ए**, **ण**, **ध**, और **श** में बंगाली प्रभाव दीखता है। फल. V, 39, XVIII, XIX के संक्रांतिकालीन रूपों से भी तुलना कीजिए। इसका **इ** काफी पुरागत है।[284]

नेपाल और तिब्बत ने पूर्वी भारत की दूसरी अनेक—अधिकांश में आलंकारिक लिपियाँ–सुरक्षित रखी हैं।[285] बी. हाजसन (**एशियाटिक रिसर्चेज**, जिल्द 16) और शरत् चन्द्र दास ने (ज. ए. सो. बं. जिल्द 57, फल. 1 से 7) अपने हाथ से बनाकर इनकी तालिकाएं प्रस्तुत की हैं। किंतु अभी तक इनकी कोई विश्वस्त सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है जिसके सहारे इन लिपियों का पुरालिपिक परीक्षण किया जा सके।

इ. शर-शीर्ष लिपि : फल. VI

फल. VI, स्त. XVIII, XIX की शर-शीर्ष लिपि की खोज[286] श्री बेंडेल ने की है। वे इसकी पहचान बेरूनी की **भैक्षुकी लिपि** से करने के पक्ष में

282. **वही**, फल. 3, 4; **बर्लिन ओरियंटल कांग्रेस इंडियन सेक्शन** फल. 2,1.

283. *Pal. Soc., Or. Series*, फल. 32; **बर्लिन ओरियंटल कांग्रेस, इंडियन सेक्शन**, फल. 2, 2, 3.

284. नेपाली हुक वाले अक्षरों के हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिकृतियों के लिए देखि. बेंडेल, कै. सं. बु. म. ने. फल. 3; *Pal. Soc., Or. Series* फल. 43, 57; कॉवेल और एग्गेलिंग, **कै. बु. म. रा. ए. सो**. ज. रा. ए. सो. 1876, पृ. 1 तथा आगे; वर्णमाला के लिए देखि. बेंडेल, **वही**, फल. 4; *J. Klatt. de CCC Canakyal sententiis*.

285. मिला. आलंकारिक अक्षरों पर फ्लीट की टिप्पणी, इं. ऐ. XV, 364.

286. **सेवेंथ ओरियंटल कांग्रेस आर्यन सेक्शन**, पृ. 111 तथा आगे; और **टेंथ ओरियंटल कांग्रेस**, खण्ड II, पृ. 151. तथा आगे।

हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लिपि पूर्वी भारत तक ही सीमित थी। निश्चय ही नागरी से इसका कोई संबंध नहीं, किंतु जैसा कि बेंडेल ने इसका सजगता से विवरण देते हुए बतलाया है यह ब्राह्मी के किसी प्राचीन रूप से सीधे निकली है। **अ, आ, क, ञ, र,** और संभवत **झ** में भी नीचे भंग मालूम पड़ता है। इसकी यह विशिष्टता है। इसकी एक दूसरी विशिष्टता बेंडेल ने **ए** में भी देखी है (मिला. फल. VIII, 8, VIII)। इसमें **र ऋ** में भी कोई फर्क नहीं है। इनसे प्रतीत होता है कि वर्तमान लिपि दक्षिणी लिपियों के वर्ग की है, क्योंकि ये बातें इस वर्ग की विशेषताएं हैं (मिला, फल. III, स्त. X–XX और फल. VII, VIII)। **ख, ग, श** के नुकीले रूप भी दक्षिणी लिपियों में मिलते हैं (दे. फल. III, 8, VII; VII, 9, XI, XIV; VII, 11, XVII; 36, IV, XVI, XX,)। **ण, त, न** के रूप इसका संबंध दक्षिण की अपेक्षा दक्षिण-पश्चिम से बतलाते हैं (मिला. फल. VII, स्त. I, II, आदि)। केवल फंदेदार **स** के बारे में ही उत्तरी (गुप्त) प्रभाव की कल्पना की जा सकती सकती है। किंतु इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह एकदम स्वतंत्र रचना हो। बेंडेल ने इंडियन ऐंटिक्वेरी, XIX, पृष्ठ 77 तथा आगे में इसी लिपि के एक अभिलेख की चर्चा की है जिसमें अक्षरों के सिर पर शर के स्थान पर कीलें बनती हैं।

V. दक्षिणी लिपियां

27. परिभाषा और विभेद

बर्नेल और फ्लीट की भाँति मैं भी 'दक्षिणी-लिपियों' से उन्हीं लिपियों का तात्पर्य ग्रहण करता हूं जो फल. VII और VIII में दी गई हैं।[287] ये

287. फलक VII और VIII निम्नलिखित रूप में तैयार किये गये हैं :

फलक VII.

प्रतिलिपियों से अक्षर काटकर

स्तं. I : फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 5. फल. 3 B; **ए** सं. 62 फल. 38 B से।

स्तं. II, III : **वही** सं. 18, फल. 11

स्तं. IV : इं. ऐ. VII, 66 के फलक से।

स्तं. V. इं. ऐ. V, 205 के फलक से; **अ, आ, उ, घा, धौ, हा, क्ष, त्ता,** इं. ऐ. VI, 9 के फलक **से; न्त** इं. ऐ. VI1, 68 के फलक से।

स्तं. VI : फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 38, फल. 24.

स्तं. VII : **वही**, सं. 39, फल. 25.

स्तं. VIII : ए. इं. II, 20, सं. 1 के फलक से, **इ, न, ब, ञ्च, ब्रा, ल्य,** सं. 3 पृ. 22 के फलक से।

स्तं. IX : इं. ऐ. VIII, 78 के फलक से।

स्तं. X : फली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 55 फल. 34 से; **उ, औ,** सं. 41, फल. 27 से और ऊ, अजंता सं. 3, B, आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 57 से।

स्तं. XI : फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 56 फल. 35 से।

स्तं. XII : इं. ऐ. VII. 35 के फलक से।

स्तं. XIII : इं. ऐ. VII, 37 के फलक से; **इ, ङ्श, ज्ये, णां, त्सा,** इ. ऐ. VI, 24 के फलक से।

स्तं. XIV : इं. ऐ. X, 58 के फलक से; **आ, उ,** और **च्छ** इं. ऐ. VII,

(शेष अगले पृष्ठ पर)

लिपियाँ आंध्रकालीन अक्षरों से निकली हैं। सन् 350 के आसपास से विंध्य के दक्षिण वाले इलाकों में इनका सामान्य प्रयोग होता था। द्रविड़ जिलों की आधुनिक लिपियों के रूप में इनमें से अधिकांश आज भी जीवित हैं।

(पूर्व पृष्ठ से)

161 के फलक से, और **क्ल** इं. ऐ. VI, 72 के फलक से, **ल** इं. ऐ. VIII, 44 के फलक से।

स्तं. XV : इं. ऐ. X, 104, फ्लीट सं. 94 के फलक से; **ई** (3, XV, *b*), **ञ्ज**, **शि** और **ळि** फ्लीट सं. 99, 100 से जिसका फलक इं. ऐ. X, 164 पर है; **ल्ल** फ्लीट सं. 95 से जिसका फलक इं. ऐ. X, 104 पर है।

स्तं. XVI : इं. ऐ. VIII, पृ. 24 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. XVII : इं. ऐ., XIII, 137 के फलक से।

स्तं. XVIII : इं. ऐ. VIII, 320 के फलक से।

स्तं. XIX: इं. ऐ. XIII, 123 के फलक से।

स्तं. XX: इं. ऐ. V, पृ. 50 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. XXI: इं. ऐ. V, पृष्ठ 154 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. XXII: हुल्श; सा. इ. इं. II, फल. 10 से।

स्तं. XXIII: वही, फल. 9 से।

स्तं. XXIV: **वही**, फल. 11 से।

फलक VIII.

प्रतिकृतियों से अक्षर काटकर

स्तं. I: इं. ऐ. XII, पृ. 158 तथा आगे के फलक से :

स्तं. II: इं. ऐ. XI, 126, फ्लीट सं. 123 के फलक से।

स्तं. III: इं.ऐ. XII, 14 के फलक से।

स्तं. IV: इं ऐ. XIII, पृ. 186 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. V: इं ऐ. VII, 16 के फलक से।

स्तं. VI: इं. ऐ. XIV, पृ. 50 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. VII: इं. ऐ. VI, 138 के फलक से; **अ, उ, चा** और **ट्ट** इं ऐ. IX, 75 के फलक से।

स्तं. VIII: इं. ऐ. XI, पृ. 12 तथा आगे के फलकों से।

स्तं. IX: एं. इं. III, 62 के फलक से :

स्तं. X: इं. ऐ. XIII, 275 के फलक से।

—(शेष अगले पृष्ठ पर)

इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. **घ, प, फ, ष** और **स** के प्राचीन रूपों का इस्तेमाल जारी रखना जिनमें सिरे खुले रहते हैं। **म** का पुराना रूप भी सुरक्षित है। इसी प्रकार पुराना त्रि-पक्षीय **य** भी चालू है। यदाकदा, खासकर ग्रंथ लिपि में **य** फंदेदार हो जाता है।

2. **ल** के दायें की लंबी लकीर सुरक्षित है किन्तु जो प्रायः बाईं ओर को झुकी रहती है।

3. गोली पीठ वाला **ड**।

4. **अ, आ, क, ञ** और **र** तथा संयुक्ताक्षरों में नीचे लिखे **र** की लंबी खड़ी रेखाओं के आखीर में भंगों का मिलना जिनके सिरे शुरू में खुले रहते हैं। **उ** और **ऊ** की मात्राओं में भी ऐसे भंग मिलते हैं।

5. **ऋ** की मात्रा जिसमें बाईं ओर मरोड़दार भंग होता है। यदा-कदा अपवाद भी मिलते हैं जैसे **कृ** में।

अन्य विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर दक्षिणी लिपियों के निम्नलिखित विभेद[288] किये जा सकते हैं :

1. **पश्चिमी विभेद**—इस पर उत्तरी लिपियों का जबर्दस्त प्रभाव है। है। सन् 430 से 900 ई. तक काठियावाड़, गुजरात, मराठा जिलों के पश्चिमी भाग, जैसे नासिक, खानदेश, सतारा के जिलों में, खानदेश से सटे हैदराबाद (अजंता) के हिस्से और कोंकण में इसका प्रभुत्व था। पाँचवीं शती में राजस्थान और मध्यभारत में भी इसके यदा-कदा प्रयोग के प्रमाण हैं। किंतु 9वीं शती में नागरी के प्रभाव के कारण इसका पूर्णतः लोप हो गया। (देखि. ऊपर **21**)।

(पूर्व पृष्ठ से)

स्तं. XI: इं. ऐ. XVIII, 144 के फलक से।

स्तं. XII: ए. इं. III, 18 के फलक से।

स्तं. XIII: हुल्श सा. इं. इं. II, फलक 13 से।

स्तं. XIV: ए. इं. III, 76 के फलक से।

स्तं. XV: ए. इ. III, 14 के फलक से।

स्तं. XVI: हुल्श. सा. इं. इं. II, फल. 12 से।

स्तं. XVII: XVIII: **वही**, फल. 4 से।

स्तं. XIX, XX: ए. इं. III, 72, फलक के **निचले** भाग से।

स्तं. XXI, XXII: ए. इं. III, 72, फलक के ऊपरी भाग से।

288. मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 14.

2. **मध्य-भारत की लिपि**——अपने सरलतम रूप में यह पश्चिमी विभेद से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसी का और विकसित रूप वह है जिसे Box-Headed अर्थात् पिटक-शीर्ष लिपि कहते हैं। इस रूप में इसमें पश्चिमी से विभिन्नता बढ़ जाती है। चौथी शती के अखीर से यह लिपि विदर्भ और मध्य प्रदेश में प्रचलित थी। कभी-कभी और दक्षिण में——महाराष्ट्रमें और यहां तक कि मैसूर में भी इसके प्रयोग के प्रमाण हैं।

3. **डेक्कन की तेलुगू-कन्नड़ लिपि**——यह लिपि उन इलाकों में प्रचलित थी जहाँ आज, मैसूर और आंध्रप्रदेश के राज्य हैं। सबसे पहले पांचवीं छठी शती के कदंब अभिलेखों में इसके दर्शन होते हैं।

4. **उत्तर कालीन कलिंग लिपि**——यह लिपि पूर्वी तट के उत्तरी भाग में उस प्रदेश में प्रचलित थी जो चिकाकोल और गंजाम के बीच पड़ता है। इसमें उत्तरी के अक्षरों का प्रचुर मिश्रण है, बाद में ग्रंथ और तेलुगू-कन्नड़ लिपियों का भी। यह लिपि 7वीं से 12वीं शती के अभिलेखों में मिलती है।

5. **ग्रंथ-लिपि**——यह लिपि मद्रास के पूर्वी तट पर पुलिकाट के दक्षिण (उत्तरी और दक्षिणी अर्काट, सलेम, तिरुचिरापल्लि, मदुरई और तिन्नेवेल्लि) में मिलती है। इसके प्रथम दर्शन पल्लवों के संस्कृत अभिलेखों में होते हैं। आधुनिक ग्रंथ लिपि और इसके विभेदों, मलयालम और तुलु के रूप में यह आज भी जीवित है।

इन्हीं जिलों और मलाबार की तमिल लिपि संभवतः किसी उत्तरी लिपि से निकली है जो ईसा की चौथी या पाँचवीं शती में यहाँ आई थी। किंतु ग्रंथ लिपि के प्रभाव से उसका पर्याप्त रूप-परिवर्तन हो गया। तमिल को ही घसीट कर लिखने से उसका एक विभेद वट्टेळुत्तु (गोल शिर——बर्नेल) या चेर-पाण्डय (हुल्श)[289] हुआ। इसका पता पश्चिमी तट और प्रायद्वीप के धुर दक्षिण के अभिलेखों से चलता है। बर्नेल के मत से अभी हाल में इसका प्रचलन उठा है।[290] यद्यपि ये दोनों लिपियाँ एक अन्य स्रोत से निकली तथापि इस अध्याय में इनकी चर्चा इस कारण से की गयी है क्यों कि वे भी उन्हीं जिलों में मिलती हैं जहाँ दक्षिणी के अन्य पाँचों विभेद।

---

289. इं. ऐ. XX, 286.

290. ब., ए. सा. इं. पै. 48.

28. पश्चिमी और मध्यभारत की लिपियां

फल. VII और VIII

अ. पश्चिमी लिपि

दक्षिणी का पश्चिमी विभेद चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय से गुप्त सम्राटों और उनके सामंतों के अभिलेखों में[291], वलभी के राजाओं,[292] भड़ोंच के गुर्जरों[293], बादामी के कतिपय चालुक्यों (पुलकेशिन द्वितीय और विजय भट्टारिका), नासिक और गुजरात के चालुक्यों और उनके सामंतों[294], त्रैकूटकों[295], खानदेश के अश्मकों (?)[296] और गुजरात के राष्ट्रकूटों[297] के अभिलेखों में मिलती है। कण्हेरी, नासिक और अजंता की गुफाओं[298] के अनेक दानलेखों में भी यह लिपि मिलती है। उत्तरी लिपियों की भाँति इसे सामान्यतया रोशनाई से ही लिखते थे (देखि. ऊपर **21**)। गुप्त काल में इसके अक्षरों के सिरों पर कीलें बनती थी (दे. फल. VII स्त. I—III)। इससे भी इस संभावना को बल मिलता है। वलभी, गुर्जर और राष्ट्रकूटों के दानपत्रों के अक्षरों के सिरे मोटे, अक्सर गांठ जैसे बनते थे (फल. VII, स्त. IV—IX, फल. VIII, स्त. I)। ये

---

291. **मिला.** फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 5, 14, और 62, फल. 3 B, 8, 38 B और फ्लीट की टिप्पणी।

292. मिला. **वही** सं. 38, 39, फल. 24, 25; इं. ऐ. I, 17; V, पृ. 204 तथा आगे।

293. मिला. ज. रा. ए. सो. 1865, 247; इं. ऐ. XIII, 78; (VII, 62; XIII, 116; XVII, 200; विवादास्पद); ए. इं. II, पृष्ठ 19 तथा आगे की प्रतिकृतियों से।

294. मिला. ए. इं. III, 52; इं. ऐ. VII, 164; VIII, 46; IX, 124; ज. बा. ब्रां. रा. सो. XVI, 1, **सातवीं ओरियंटल कांग्रेस आर्यन सेक्शन**, 238; इं. ऐ. XIX, 310 की प्रतिकृतियों से।

295. मिला. ब. आ. सं. रि. वे. इं., सं. 10, 58 की प्रतिकृतियों से।

296. इं. ऐ. XVI, 98 की प्रतिकृति से।

297. इं. ऐ. XII, 158; ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. XVI, 105; ए. इं. III, 56 की प्रतिकृतियों से।

298. मिला. ब. आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 55, 9; फल. 58, 5 और 9; फल. 59, 60; V, फल. 51, 69.

दोनों अलंकरण रोशनाई से ही बन सकते हैं। रोशनाई के प्रयोग के संबंध में एक और भी तर्क है। गुजरात के सभी ताम्रपट्ट भूर्जपत्र के सामान्य आकार के ही बनाये गये हैं (बर्नेल)। इन पर **स्टाइलस** से लिखना संभव नहीं।

राजपुताना और मध्यभारत की भूतपूर्व रियासतों[299] और वलभी में उत्तरी अक्षरों में लिखे लगभग या एकदम समकालीन अभिलेखों का मिलना और गुर्जर अभिलेखों[300] में नागरी में हस्ताक्षरों का होना यह सिद्ध करता है कि इस दक्षिणी लिपि के साथ-साथ उत्तरी लिपियों का भी इस्तेमाल होता था। इसी कारण निम्न-लिखित अक्षरों में उत्तरी की छाप है : (1) **ख**, जिसमें एक लंबा-सा फंदा और नन्हा-सा हुक है। (देखि. फल. VII, 9, I–IX, VIII, 12, I) शुद्ध दक्षिणी रूप तो बिरले ही मिलता है;[301] (2) **च** जो दाईं ओर को गोल हो गया है (फल. VII, 13, I–IX; VIII, 16, I); (3) बिना फंदे का प्राचीन **त** (फल. VII, 22, I—IX; VIII, 25, I); (4) तंग **ध** (फल. VII, 25, I–X; VIII, 28, 1; मिला. फल. IV, 25, I–III); (5) फंदेदार **न** (फल. VII, 26, I—X; VIII, 29, I) जो फल. VII, 26, XIII के दक्षिणी रूप की अपेक्षा फल. IV, 26 के उत्तरी रूप के अधिक निकट है। (मिला. आगे **29**, अ); (6) **ए** (फल. VII, 26, V), **ऐ** (फल. VII, 10, IV) और **ओ** (फल. VIII, 35, I) की मात्राएं जो प्रायः पंक्ति के ऊपर लगती हैं। **लो** (फल. VII, 34, III, IV) में **ओ** की फंदेदार मात्रा विचित्र है; (7) **औ** की मात्रा में पंक्ति के ऊपर तीन लकीर हैं (VII, 25, V; 36, III), मिला. फल. IV, 7. IV; (8) संयुक्ताक्षर में दूसरा यानी नीचे का **ञ**, जो कभी-कभी उत्तर को घसीट रूप में मिलता है, जैसे फल. VII, 42, VII में। फ्लीट के **गुप्त इन्स्क्रिप्शंस** (का. इ. इ. III) के अभिलेख सं. 17 और 62, फल. 10, 38, में **अ** और **क** के उत्तरी रूप हैं जिनमें नीचे भंग नहीं होता। फलक VII में इन अभिलेखों के अक्षर नहीं दिये गये हैं; इस प्रकार का **क** कभी-कभी वलभी के अभिलेखों में भी मिलता है (फल. VII, 8, V)।

इस लिपि में उत्तरी की ये विशिष्टताएं तो मिलती ही हैं और इनमें काल

---

299. मिला. फ्ली. गु. इं. (कां. इं. इं. III) सं. 6, 17, 61 फल. 4A, 10, 38A. की प्रतिकृतियों से।

300. देखि. ऊपर **21** का अंत।

301. उदाहरणार्थ मिला. **लिखितम्** से प्रतिकृति इं. ऐ. VII, 72 पर।

के कारण कोई फर्क नहीं पड़ता, पर विकास की दृष्टि से इसके तीन चरण दीखते हैं। (1) पांचवीं शती की लिपि (फल. VII, स्त. I-III) ; (2) छठी-सातवीं शती की लिपि (फल. VII, स्त. IV–VI, VIII) और (3) आठवीं (स्त. IX) और नवीं शती (फल. VIII; स्त. I) की लिपि। 9वीं शती वाला रूप अधिक घसीट है।

निम्नलिखित अक्षरों पर अलग-अलग विचार जरूरी हैं :

1. **इ** (फल. VII, 3, IV और आगे; VIII, 3, I) अधिकांश दक्षिणी लिपियों की भाँति बीच में खांचे वाली एक गोलाईदार रेखा और उसके नीचे दो बिंदियों से बनता है। यह फल. IV, 3, IX का ही एक रूपान्तर प्रतीत होता है।

2. **ई** (फल. VII, 3, I; VIII, 4, I) बाबर की हस्तलिखित प्रति (फल. VI, 4, I) की भाँति दोनों बिंदियों को रेखा में परिणत कर देने से बना है। इसमें बीच में एक अतिरिक्त दुमं जुट गई है जो दक्षिणी लिपियों की विशेषता है।

3. **ए** (फल. VII, 6, I) प्रायः एक त्रिभुज के आकार का होता है जिसका शीर्षबिंदु ऊपर रहता है और बाईं भुजा अधिक चौड़ी होती है (मिला. **ऐ** फल. VII, 6, VII) 6ठी शती के अंत में विशेषकर गुर्जर अभिलेखों में, **ए** का ऊपरी भाग प्रायः खुला रहता है (फल. VII, 6, VI) और अंततोगत्वा यह उत्तरी **ल** से मिलने लगता है (फल. VIII, 8, I)।

4. **ड**—इस का सबसे पुराना रूप (फल. VII, 19, II) अधिकांश दक्षिणी लिपियों की भाँति **द** से भिन्न न था। 6ठी शती से इसमें एक दुम निकल आती है (फल. VII, 19. IV-IX) अथवा 8वीं-9वीं शती के कतिपय अभिलेखों में इसके आखीर में एक फंदा बन जाता है।

5. **थ**—इसकी आधार रेखा पर अर्गला के स्थान पर (फल. VII, 23, I–II) एक छल्ला (फल. VII, 23, III, IV,VI) बन जाता है। यह पुरानी बिंदी से निकला है या 6ठी शती के अंतिम भाग से आधार की दक्षिणी गांठ से (फल. VII, 23, VII–IX, फल. VIII, 26, I)[302]।

6—**ल** चिह्न का मुख्य अंश संकुचित हो गया है और इसमें एक बड़ी-सी दुम निकल आयी है (फल. VII, 34, VI, VIII) यह दुम ही सातवीं शती से

302. इसके संक्रमणकालीन रूप चालुक्य अभिलेखों में मिलते हैं।

अक्सर अक्षर की एक मात्र प्रतिनिधि बन जाती है (फल. VII, 34, VII, IX)।

7. **श**—गुर्जर अभिलेखों (फल. VIII, 39, I) और नासिक के चालुक्य अभिलेखों[303] में तो सर्वदा, पर वलभी के अभिलेखों में[304] कभी-कभी इसमें एक अर्गला और दाईं ओर को एक खड़ी रेखा का जोड़ बनता है। उत्तर में भी ऐसा होता है।[305]

8. **स**—घसीट कर लिखने से इस अक्षर के वामांग में एक शोशा जुड़ जाता है। यह दक्षिणी लिपियों में भी मिलता है (फल. VIII, 41, XI)।

9. संयुक्ताक्षरों के अनेक घसीट रूप मिलते हैं जैसे (क) शुरू का **ञ** जिसमें दाईं ओर का हुक मिल जाता है और अक्षर **ण** से मिलने लगता है (मिला. फल. V, 19, V, VII से भी); (ख) शुरू का **न** जो खासकर **त**, **थ**, **ध**, **न** (देखि. **अनुमन्तव्यः** में **न्त**, फल. VII, 42, V) से पहले एक आड़ी या झुकी लकीर होता है और देखने में **त** सा लगता है।[306] (ग) नीचे के **क** जैसे **ष्क** (फल. VII, 46, VIII) में बाईं ओर को अक्सर एक फंदा बनता है (मिला. इं. एं. XI, 305); (घ) **ञ्च** में **च** (फल. VII, 41, VIII, IX) छठी शती से दाईं ओर को खुला रहता है और इसके आधार पर **ञ** का हुक होता है; (च) नीचे का **ण**—शुरू से ही इसके लिए सिर्फ एक फंदा बना देते हैं; (छ) नीचे का **थ** जो अन्य दक्षिणी लिपियों की भाँति (मिला. उदाहरणार्थ फल. VII, 45, XX) दाईं ओर को खुले दुहरे भंग में परिणत हो जाता है (फल VII, 45, IV; फल. VIII, 49, I)।

आ. मध्य भारतीय लिपि

मध्य भारतीय लिपि का पूर्ण विकसित रूप एरण के समुद्रगुप्त के अभिलेख, चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के अभिलेख,[307] शरभपुर के राजाओं के ताम्रपट्टों[308],

---

303. मिला. इं. ऐ. IX, 124 की प्रतिकृति से।

304. मिला. इं. ऐ. VI, 10 और प्रतिकृति XIV, 328 पर।

305. मिला. ज. रा. ए. बं. LXIV, 1, फल. 9 सं. 2 से।

306. इं. ऐ. VI, 110 और आगे **28, आ** पर मेरे विचार देखिए।

307. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 2, 3, फल. 2, A, B.

308. **वही**, सं. 40, 41, फल. 26, 27.

वाकाटकों के ताम्रपट्टों[309], कोसल के तीवर राजाओं के ताम्रपट्टों[310] और दो पुराने कदंब अभिलेखों[311] में मिलता है। इन सभी प्रलेखों में अक्षरों के सिरों पर छूंछे या भरे हुए वर्ग बनते हैं (फल. VII, स्त. XI, X)। ये वर्ग देखने में छोटे पिटकों यानी बक्सों जैसे लगते हैं। इसलिए इस लिपि को 'पिटक-शीर्ष' लिपि कहते हैं। ये कीलों की भाँति शोशों के ही कृत्रिम विकास हैं। भरे हुए वर्गों की ईजाद शायद रोशनाई का इस्तेमाल करने वाले लेखकों ने की। छूंछे वर्गों का इस्तेमाल वे करते थे जो **स्टाइलस** से लिखते थे। इनको इस बात का डर रहता था कि कहीं ताड़पत्र फट न जाय। 'पिटक-शीर्ष' लिपि के दोनों विभेद यदाकदा या सदा अन्य जिलों और अन्य प्रसंगों में भी (जैसे फल. VII, स्त. V के वलभी अभिलेखों, फल. VII स्त. XII के पुराने कदंब अभिलेखों, फल. VII, स्त. XX के पल्लव अभिलेखों) मिलते हैं। यहां तक कि वृहत्तर भारत के चंपा के अभिलेख सं. 21 और 21 A में भी यह शैली है।[312] किन्तु मध्य भारतीय अभिलेखों के अति विलक्षण दीखने का कारण यह है कि इनमें अक्षरों की चौड़ाई संकुचित कर दी गई है और सारे भंग कोणीय लकीरों में परिवर्तित हो गये हैं। इस प्रकार अक्षरों का अल्पाधिक रूप परिवर्तन ही हो गया है। ए. इं. 3, 260 और फ्लीट के **गुप्त इन्स्क्रिप्शंस** (का

---

309. **वही**, सं. 53-56, फल. 33, A से 35; इं. ऐ. XII, 239; ब. आ. स. रि. वे. इं., IV, फल. 56 सं. 4, फल. 57, सं. 3; ए. इं. III, 260; मेरी राय में इनमें सबसे पुराना 5वीं शती का है जब कि फ्लीट के मत से 7वीं शती का।

310. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 81. फल. 45. फ्लीट के मत से 8वीं या 9वीं शती से और कीलहार्न के मत से (देखि. ए. इं. IV, 258) निस्संदेह 8वीं शती से।

311. देखि. फ्लीट, इं. ऐ. XXI, 93; राइस ने मुझे कुब्ज की ताळगुंड (स्थानकुंडूर) प्रशस्ति की एक छाप दी है। यह अभिलेख इसी प्रकार का है। इसका समय शान्ति वर्मन का राज्य काल है। देखि. ए. क. VII, संस्कृत 176. (और ए. इं. VIII)।

312. Bergaingne—Barth, *Inscriptions Sanskrit du Campā et du Cambodge* II, 23, चंपा के अभिलेखों में उत्तरी **क** और **र** मिलते हैं जिनके अंत में भंग नहीं होते।

इ. इ. III) सं. 40, 41, 56, 81, फल. 26, 27, 35, 45 के दानपत्रों में यह बात सबसे अच्छी तरह से देखी जा सकती है। फ्लीट के सं. 56 के अभिलेख से लेकर हमने फल. VII, स्त. XI में वर्णमाला दी है। स्त. X में फ्लीट के सं. 55 फल. 34 के अक्षर हैं। इनके रूप परिवर्तन में उससे कम सतर्कता बरती गई है। ये दोनों अभिलेख **वाकाटक** राजा प्रवरसेन द्वितीय के **धर्माधिकरण** से एक ही वर्ष में जारी किये गये थे।

पश्चिमी विभेद की भांति इस लिपि पर भी उत्तरी लिपि की छाप है, विशेषकर **त, ध, न** और **ए, ऐ** और **ओ** की मात्राओं पर। फ्लीट के **गुप्त इन्स्क्रिप्शंस** के अभिलेख सं. 81, फल. 45 में इन मात्राओं में 7वीं 8वीं शती (फल. VII, 43, X) के दुमदार विशिष्ट उत्तरी रूप मिलते हैं। संयुक्ताक्षर में, देखि. **न्त** फल. VII, 43 X, अक्सर हमें **त** में तो फंदा मिलता है पर **न** में नहीं। अपवादस्वरूप **स्नातानाम्** (सं. 55 पंक्ति 7; सं. 56 पंक्ति 6) में तो स्वतंत्र फंदेदार **त** भी मिलता है।[313] फ्लीट सं. 2,3, 40, 81, फल. 2, A.B, 26, 45 में उत्तरी और पश्चिमी की भाँति **औ** की त्रिपक्षीय मात्रा मिलती है। वाकाटक अभिलेखों में दक्षिणी का द्विपक्षीय रूप (दे. **दौ**, फल. VII, 24, XI) मिलता है। **ख** में एक बड़ा-सा हुक और छोटा-सा फंदा लगता है। आयत-रूप **च** में दाईं ओर एक खड़ी रेखा है। **ख** और **च** के ये रूप दक्षिणी के रूपों से मिलते-जुलते हैं। फ्लीट के **गुप्त इन्स्क्रिप्शंस** सं. 2, पंक्ति 17 के **शुल्का** में उत्तरी **क** मिलता है, जिसके नीचे भंग नहीं है।

इस लिपि के अन्य अक्षरों में भी प्रायः अल्पाधिक मात्रा में परिवर्तन दीखते हैं। हमारे फलक के **आ, ज, थ, ब,** और **ल** में ऐसे उदाहरण हैं। फ्लीट और कीलहार्न ने **गुप्त इन्स्क्रिप्शंस** और ए. इ. III में इन अभिलेखों का संपादन करते हुए ऐसे और उदाहरण दिये हैं। फ्लीट की टिप्पणी से आगे मैं कहना चाहूंगा कि उनके अभिलेख सं. 40, 41 और 81 के **म** में उत्तरकालीन तेलुगू, कन्नड़ लिपि का कोणीय **म** मिलता है। दे. आगे **29, आ, 6**।

29. तेलुगू-कन्नड़ लिपि : फल. VII और VIII

अ. पुरागत विभेद

इस लिपि का पुरागत विभेद निम्नलिखित में मिलता है :

---

313. फ्लीट और कीलहार्न का मत है कि लेखक भूल से **त** के लिए **न** और **न** के लिए **त** लिख देते थे।

(क) पश्चिम में, वैजयंती या बनवासी के कदंब अभिलेखों (फल. VII, स्त. XII, XIII,) और वातापी या बादामी के पुराने चालुक्यों जैसे कीर्तिवर्मन प्रथम और मङ्गलेश (फल, VII, स्त. XIV), पुलकेशिन द्वितीय और विक्रमादित्य प्रथम (कभी-कभी) के अभिलेखों में मिलता है।

(ख) पूरब में, शालंकायन पट्टों और वेंगी के प्रथम दो चालुक्यों (विष्णुवर्धन प्रथम और जयसिंह प्रथम) के पट्टों में (फल. VII, स्त. XVII[314])। शालंकायन पट्टों को चौथी शती का माना जाता था।[315] पर इनकी तिथि अनिश्चित है।[316] कदंब दानपत्रों में कुछ पांचवीं शती के हैं और कुछ छठी शती के, क्योंकि काकुस्थ वर्मन जिसने सबसे पुराना कदंब दानपत्र जारी किया था, गुप्त सम्राटों का, संभवतः समुद्रगुप्त का, समसामयिक था।[317] उनके वंशजों ने उसके बाद राज्य किया। सन् 566-67 और 596-97 ई. के बीच कीर्त्तिवर्मन प्रथम ने कदंब वंश की सत्ता समाप्त कर दी। पुराने चालुक्य अभिलेखों की तिथि सन् 578 और 660 के बीच पड़ती है।[318]

इस काल में पश्चिमी और पूर्वी के प्रलेखों के अक्षरों में पर्याप्त अंतर नहीं पाया जाता। शालंकायन पट्टों की लिपि[319] फल. VII, स्त. XIII की लिपि से बहुत मिलती-जुलती है: सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में चालुक्यों के वातापी और वेंगी के अभिलेखों के अक्षरों में करीब-करीब पूर्ण समानता है।[320] किन्तु स्त.

---

314. मिला. शालंकायन अभिलेखों की प्रतिकृतियों से जो ब. ए. सा. इं. पै. फल. 24; इं. ऐ. V, 176; ए. इं. IV, 144 पर है, कदंब अभिलेखों की प्रतिकृतियों से जो इं. ऐ. VI, पृ. 23 तथा आगे; VII, पृ. 38 तथा आगे; ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. XII, 300 पर हैं; पश्चिमी चालुक्यों के अभिलेखों से जो इं. ऐ. VI, 72, 75; VIII, 44, 237; IX, 100; X, 58; XIX, 58 पर हैं और पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों से जो ब. ए. सा. इं. पै. फल. 27 पर हैं।

315. ब. ए. सा. इं. पै. XVI, फल. 1.

316. फ्लीट इं. ऐ. XX, 94.

317. **ऐकेडेमी** 1895, 229.

318. देखि. फ्लीट की चालुक्यों की तिथि, III, तालिका 1.2 पर ई. ऐ. XX, पृ. 96 तथा आगे।

319. ब. ए. सा. इं. पै फल. 1.

320. मिला. इं. ऐ. VI, 72; और ब., ए. सा. इं. पै. फलक. 27 की प्रतिकृति से।

XII और XIII के अक्षरों में पर्याप्त विभिन्नता है। ये दोनों ही वर्णमालाएं कदंब मृगेशवर्मन के ताम्रपट्टों से ली गयी हैं और इनकी तिथियों में केवल 5 वर्ष का अंतर है। फिर इतने अल्प काल में ही इतना अंतर कैसे हो गया, इसका खुलासा इस अनुमान से किया जा सकता है कि स्त. XIII के अक्षरों से जिनसे प्रायः सभी कदंब अभिलेखों के अक्षर मिलते-जुलते हैं रोशनाई के अक्षरों का प्रारंभ होता है, जब कि स्त. XII के अक्षर **स्टाइलस** के हैं। इस अनुमान का आधार स्त. XII के अक्षरों का पतला होना और स्त. XIII के अक्षरों का इनसे काफी मोटा होना है। स्त. XIII के अक्षरों के सिरों पर कीलें और भरे हुए वर्ग भी हैं। (मिला. ऊपर **28**, **आ**)।

इस काल के प्राक्तर प्रलेखों के अक्षर बहुत-कुछ फल. III के आंध्र-अभिलेखों के तथाकथित 'गुफा-अक्षरों' जैसे हैं। शालंकायन दानपत्र और कदंब काकुस्थवर्मन, शान्तिवर्मन, मृगेशवर्मन, और रविवर्मन के दानपत्रों के अक्षरों में उत्तर कालीन गोले रूपों के चिह्न कम हैं और सो भी सतत नहीं मिलते हैं। ये रूप बाद की लिपि की विशेषताओं में हैं। यद्यपि स्त. XII के **अ** और **र** के रूप काफी विकसित हैं, पर **आ** का रूप पुराना है और इनकी प्रतिकृति में कोणीय **र** भी मिलता है जिस में ऊपर को उठती अनतिदीर्घ लकीर है। अंतिम कदंब राजा हरिवर्मन और चालुक्यों के सन् 578 और 660 ई. के बीच के दानपत्रों में **अ**, **आ**, **क** और **र** के रूप ऐसे हैं जो बाद की विशेषता माने जाते हैं। ये रूप दुर्लभ तो नहीं हैं, पर सतत भी नहीं हैं। इसी प्रकार स्त. XVI में जो चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन प्रथम और मङ्गलेश के बादामी के अभिलेख के अक्षरों से बना है **क** अक्षर बाईं ओर को बंद है। किन्तु यह रूप वहाँ एक बार ही इस्तेमाल में आया है। मङ्गलेश के ताम्रपट्टों पर इसका इस्तेमाल नहीं होता, न उसके उत्तराधिकारी पुलिकेशिन द्वितीय के हैदराबाद ताम्रपट्टों पर ही इसका इस्तेमाल हुआ है।[321] ऐसा ही **क** और 33 के स्त. XV का बंद **र** पुलकेशिन द्वितीय के नेरूर के पट्टों[322] पर मिलता है। पुल-केशिन के समय के ऐहोळ अभिलेख[323] में एकमात्र पुराने **क** और **र** तथा कभी-कभी स्त. XV का उत्तरकालीन **अ** मिलते हैं। इस अस्थिरता से अनुमान

---

321. इं. ऐ. VI, 72

322. इ. ऐ. VIII, 44

323. इ. ऐ. VIII, 241; ए. इं. VI, 6 के फलक देखिए।

होता है कि सन् 578 और 660 के बीच और संभवतः इससे भी पहले मध्य कन्नड़ लिपि के गोलाईदार रूप विद्यमान थे, किन्तु या तो उन्होंने पुराने रूपों का पूरी तरह स्थान नहीं ले लिया था या तब तक उन्हें अभिलेखों में इस्तेमाल के योग्य नहीं माना गया था। कभी-कभी गलती से लिपिक वर्ग सरकारी प्रलेखों में इनका इस्तेमाल अवश्य कर देता था। (मिला. ऊपर 3, पृष्ठ 20)।

अन्य अक्षर-रूपों में निम्नलिखित पर ध्यान दें :

1. **ण**--(फल. VII, 21, XII–XVII) फंदेदार नहीं होता किन्तु देखने में ऐसा लगता है कि स्त. I और उसके आगे के स्तंभों के वैसे ही किसी फंदेदार रूप से घसीट कर लिखने की वजह से निकला होगा।

2. **त**--सं. 22, XIII में बिना फंदों का पश्चिमी अभिलेखों का पुराना रूप सुरक्षित है, पर स्त. XII, XIV, XVII में स्त. XX–XXIII का घसीट विकसित रूप है। यह रूप इस काल के कदंब और चालुक्य अभिलेखों में दुर्लभ है।

3. **द**--(24, XIV, XVII) का दुमदमर रूप पश्चिमी **ड** (19, IV–IX) से हूबहू मिलता है।

4. **न**--कभी-कभी फंदेदार होता है (26, XIII), पर उससे अधिक प्रचलित रूप बिना फंदे वाला है (26, XII, XIV–XVII)। बिना फंदे वाला रूप स्पष्ट ही फंदे वाले रूप से निकला है।

5. **य**--अति अपवादभूत फंदेदार **य** (**या**, 45–XIV में) काफी पुराना उत्तरी रूप ही है।

6. स्वरमात्राएँ : (क) **पू** में (27, XIII) ऊ की मात्रा **यू** (32, VI), **चू** (13, IV) आदि की ऊ की मात्रा को ही घसीट कर लिखने से बनी है; (ख) **कृ** (8, XII, XVII; 41, XIV) की **ऋ** की मात्रा उत्तरी **ऋ** की मात्रा से मिलती है। इ. ऐ. ए. 6, 24 के मृगेश में तो एक बार उत्तरी **ऋ** प्रत्यक्ष भी मिलती है। परन्तु संभवतः यह **क** से पूर्व एक अलग अर्धवृत्त जैसे **ऋ** के किसी रूप से स्वतंत्र रूप में हीं निकला है जो अप्रचलित नहीं था; (ग) **क्लृ** (42, XIV) का **लृ** अति दुर्लभ है। यह उत्तरी **लृ** (फल. VI, 35, XVII), से भिन्न है। किन्तु यह कैंब्रिज के हस्तलिखित ग्रंथ के 'लृ'कार से मिलता है। यह **ल** को घसीट कर लिखने से बना एक रूप है, (घ) **ए** (**णे**, 21, XII), **ऐ** (**चै**, 13, XII और (**बै**, 35, XIII) और **ओ** और **औ** (**थौ**, 23, XII) की मात्राएं व्यंजन के नीचे लगती हैं अपवाद **ले**(दे. **ले**, 34,XII; और **लो**, 34, XIII, XVII)

ही है; (च) औ की मात्रा (पौ, 27, XII, XIV में) इसका दायां भाग हमेशा और सभी दक्षिणी लिपियों में एक हुक के आकार का होता है जो घसीट में द्वितीय मात्रा और आ की लकीर के जुड़ने से बनता है। मिला. यौ, फल. III, 31, VI)।

आ. मध्य विभेद

यह दूसरा विभेद लग. सन् 650 से लग. 950 ई. तक मिलता है। इसका (क) पश्चिम में वातापी या बादामी के चालुक्यों, उनके उत्तराधिकारी मान्यखेट के राष्ट्रकूटों (जब वे नागरी का प्रयोग न करें, देखि. ऊपर **23**), मैसूर के गंगों और कुछ छोटे राजवंशों में, (ख) पूरब में वेंगी के चालुक्यों और उनके सामंतों के अभिलेखों में इसका प्रयोग हुआ है। इस काल में विभिन्न वर्गों की लेखन शैलियों में स्पष्ट अंतर दीखता है। पश्चिम के चालुक्यों के ताम्रपट्टों में (फल. VII, स्त. XVI)[324] अधिकांशतया दाईं ओर को झुके चिह्न मिलते हैं जो लापरवाही से घसीटकर लिखने की वजह से बनते हैं। इनके प्रस्तर अभिलेखों में (फल. VII, स्त. XV) अक्षर सीधे खड़े, सुगठित और विशेषकर संयुक्ताक्षरों में असामान्य रूप से लंबे होते हैं। इन अक्षरों से मिलते-जुलते अक्षर राष्ट्रकूटों के अभिलेखों के हैं (फल. VIII स्त. II, III)[325]। इसका अपवाद ध्रुव द्वितीय के बड़ोदा ताम्रपट्ट के हस्ताक्षर हैं[326]। राजा के इस हस्ताक्षर और वेंगी के चालुक्यों के अभिलेखों में (फल. VIII, स्त. IV, V) अक्षर अधिक चौड़े और छोटे हैं और इस दृष्टि से पुरानी कन्नड़[327] से मिलते हैं।

ऊपर उल्लिखित अ, आ, क और र के गोलाईदार रूपों के अतिरिक्त जो इस काल में स्थिर हो जाते हैं निम्नलिखित अक्षरों पर विचार किया जा सकता है:

---

324. मिला. इं. ऐ. VI, 86, 88; VII, 300; ज. वा. बां रा. ए. सो. XVI, पृ. 223 तथा आगे की प्रतिकृतियों से।

325. मिला. इं. ऐ. X, पृ. 61 तथा आगे, 104, 166, 170; XI, 126; XX, 70; ए. क. III, 80, 87, 92 की प्रतिकृतियों से। (उनमें से अंतिम के लिए. देखि. ए. इं. VI, 54)

326. देखि. प्रतिकृति इ. ऐ. XIV, 200 पर।

327. देखि. इ. ऐ. XII, 92; XIII, 214, 248; ए. इं. III, 194 की प्रतिकृतियाँ।

1. ऋ--(फल. VII, 5, XVI) अति दुर्लभ है। मिला. इ, ऐ. 6, 23 के अंत की प्रतिकृति का प्राचीनतर अक्षर। यह फल. VI, 7, I, II के उत्तरी रूप का ही परिवर्तित रूप मालूम पड़ता है।

2. ख--(फल. VIII, 12, III–V)। अत्यंत घसीट रूप है। पुराने कन्नड़ ख और इसमें कोई फर्क नहीं। फ्लीट के मत से[328] सन् 800 से पूर्व कभी नहीं मिला। किन्तु सगोत्री पल्लव अभिलेखों में (फल. VII, 9, XXIII, मिला. आगे **31**, आ, 4) 7वीं शती से ही यह रूप मिलता है।

3. च--ञ्च में (फल. VII, 41, XIX; फल. VIII, 19, III, IV) 9वीं शती से खुलने लगता है।

4. द--9वीं शती से इसकी दुम ऊपर को उठने लगती है (फल. VIII, 27, II, IV, V)।

5. ब--ऊपर को खुला (फल. VIII, 32, V) यह रूप फ्लीट के मत से[329] सबसे पहले लग. 850 ई. में मिलता है।

6. म--(फल. VII, 31, XVII; VIII, 34, II–V) इसका ऊपरी भाग दाईं ओर को खिंच जाता है और उसी ऊँचाई पर आ जाता है जिस पर निचला भाग स्थित है। यह पुराने कन्नड़ म का आदि रूप हो जाता है।

7. ल--(फल. VII, 34, XVI) असामान्य घसीट रूप है। अन्यत्र ऐसा ल केवल संयुक्ताक्षरों में ही मिलता है (जैसे श्लो, फल. VII, 44 XVIII में)।

8. मात्राएं कभी-कभी व्यंजन के नीचे लगती हैं (जैसे घे, फल. VIII, 28, V में)।

9. विराम चिह्न : अंतिम म् (फल. VIII, 41, XVII; फल. VIII, 46, V) और अंतिम न् (फल. VIII, 45, V) के ऊपर खड़ी पाई होता है।

10. द्रविड़ ड (फल. VII, 45, XV, XVIII; 46, XXI; फल. VIII, 47, II, III) और ळ (फल. VII, 46, XV, XVIII; फल. VIII, 49, II, V) सबसे पहले सातवीं शती में मिलते हैं। इनमें ड में संभवतः दो गोले र सम्मिलित हैं और ळ संभवतः फल. VII, 40, XIV, XVI का कोई

---

328. ए. इं. III, पृ. 162 तथा आगे।

329. ए. इं. III, 163।

रूपान्तर है। इन दो चिह्नों के होने से सिद्ध होता है कि सातवीं शती में ही कन्नड़ में संयुक्ताक्षर आ चुके थे।

इ. पुरानी कन्नड़ लिपि

तेलुगु-कन्नड़ लिपि के तीसरे और अंतिम विभेद को बर्नेल 'संक्रांतिकालीन' और फ्लीट पुरानी 'कन्नड़' कहता है। फ्लीट द्वारा सुझाया नाम अधिक उपयुक्त है। पर यह विभेद आधुनिक कन्नड़-तेलुगू लिपियों से बहुत भिन्न नहीं है। पूरब में सबसे पहले यह लिपि 11 वीं शती के वेंगी के अभिलेखों में मिलती है। पश्चिम में इससे कुछ पहले सन् 978 ई. के एक गंग अभिलेख और इसके कुछ बाद के एक चालुक्य अभिलेख[330] में मिलती है। इसकी कुछ विशेषताएं, जैसे **म** के फंदे और **व** के सिर का खुलना, उपरि उल्लिखित ध्रुव द्वितीय के बड़ोदा ताम्रपट्टों पर उसके हस्ताक्षर में मिलती है। इस लिपि के नमूने[331] फल. VIII में हैं। इनमें स्त. VI और VII के नमूने 11वीं शती के, स्त. VIII के 12वीं शती के और स्त. IX के नमूने (हुल्श के मत से तेलुगू) 14वीं शती के हैं। इनमें क्रमिक विकास स्पष्ट दीखता है।

पुरानी कन्नड़ की एक खास विशेषता यह है कि इसमें सभी मात्रिकाओं के ऊपर कोण बनते हैं। इन मात्रिकाओं में ऊपर स्वर चिह्न नहीं लगते। ये कोण जो स्त. VI में आधुनिक तेलुगू से और स्त. VII और VIII में आधुनिक कन्नड़ से मिलते-जुलते हैं संभवतः कीलों को ही घसीट कर लिखने से बने हैं। इनकी ईजाद संभवतः इस वजह से हुई क्योंकि **स्टाइलस** से लिखने में कीलें बनाना उपयुक्त नहीं होता। छठी शती से ये कोण दूसरे जिलों के इक्के दुक्के अभिलेखों में जैसे सन् 559-60 के गुहसेन के दानपत्रों (फल. VII, स्त. IV) और रवि कीर्ति की ऐहोळ प्रशस्ति[332] में प्रायः और कभी-कभी कीलों के साथ मिलने लगते हैं। किन्तु ये इसी लिपि की विशेषता हैं।

---

330. बर्गेस और फ्लीट, पालि, संस्कृत ऐंड ओल्ड कनड़ीज इंस्क्रिप्शंस, सं. 211, 214; और देखि. गंग अभिलेख, इं. ऐ. VI, 102.

331. मिला. प्रतिकृतियों से। इं. ऐ. IX, 74; XIV, 56, ए. इं. III, 26, 88, 194, 228; ए. क. III, 116, 121; व. आ. स. रि. बे. इं., सं. 10, 100; और ज. रा. एं. सो. 1891; 135 (कृष्णा वर्णमाला का मूल जो पुरागत और पश्चगामी है : **अ, क, र, ल**।

332. इं. ऐ. VIII, 241; ए. इं. VI, 6.

अनेक अक्षरों में जो परिवर्तन हुए हैं उनमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :

1. **ए** (फल. VIII, 8, VI, VIII), **च** (16, VI–IX), **भ** (33, VI–IX), **व** 38, VII–IX) के सिरों का खुल जाना। **भ** स्त. IX में दोनों आधार लकीरें के मिल जाने से **ब** की तरह का हो जाता है। **म** का फंदा (34, VI, VIII) और **छ** का दायां हिस्सा भी खुल जाता है (17, VI–IX, स्त. V से भी तुलना कीजिए)।

2. **अ, आ** (1, 2, VII–IX), और **इ; ई** (3, 4, VI–IX) और **श** (39, VII–IX) के रूप घसीट कर लिखने से फंदेदार बन गये हैं। (मिला. **इ** और **ई** के पूर्व रूप, 3, II और 4, III, V)। **श** की अर्गला दाए भाग के भंग वाले किनारे से जुड़ गई है।

3. **क** (11, VI-IX) और **र** (36, VI-IX) के सुदृढ़ फंदे वृतों में बदल गये हैं।

4. **ण** (24, VI-IX), **न** 29, VI-IX) और **स** (41, VI-IX) के कोण घसीट लेखन के कारण गोले हो गये हैं।

5. **ऋ** (7, IX), **ङ** (15, VIII–IX) और **ज** (18, VI–IX) के दाईं ओर के सिरों पर नये फंदों या छल्लों की शक्ल के चिह्नों का उदय हो गया है। इस **ज** की तुलना स्त. V के **ज** से कीजिए।

6. **उ** की मात्रा का दाईं ओर ऊपर घूमना (उदाहरण के लिए देखिए **पु**, 30, IX)। पहले यह **गु तु**, **भु** और **शु** तक ही सीमित था। बाद में **सु** में भी (फल. VIII, 41, II, III) ऐसा मिलने लगता है।

7. अंत में, अनुस्वार का पंक्ति पर मिलना (देखिए **रं**, 36, VIII)। यह प्राचीन अवशेष नहीं है अपितु एक नया विकास है जिसका उद्देश्य पंक्तियों को और समान बनाना है। (मिला. ऊपर **26**, अ, 5)।[333]

30. उत्तरकालीन कलिंग लिपि : फलक VII और VIII

यह लिपि अभी तक केवल कलिंग नगर के गंग राजाओं के ताम्रपट्टों पर मिली है। कलिंग नगर प्राचीन काल में चेट राजा खारबेल और उसके उत्तराधिकारियों की राजधानी थी। (दे. ऊपर **18**) आधुनिक काल में यह स्थान

333. इस पैराग्राफ की तुलना ब., ए, सा. इं. पै., 15 तथा आगे से कीजिये।

कलिंगपत्तनम् नाम से प्रसिद्ध है जो गंजाम जिले में है। ये प्रलेख गांगेय संवत् 87 से मिलते हैं। इसकी शुरूआत कब से हुई इसका पता नहीं। पर फ्लीट ने दिखलाया है कि गंग दानपत्र संभवतः ईसा की सातवीं शती के हैं।[334]

गांगेय संवत् 183 तक के इन दानपत्रों के अक्षर कुछ तो मध्य भारतीय लिपि से मिलते हैं (दे. ऊपर **28, आ**) और कुछ पश्चिमी विभेद से जिसमें अजंता अभिलेखों सरीखी **औ** की मात्रा मिलती है (ऊपर, **28**, अ)। इनमें विलक्षण रूप बहुत कम ही हैं। इनमें दूसरे प्रकार की कलिंग लिपि का एक नमूना फलक VII के स्त. XIX में दिया गया है जो गांगेय संवत् 148 के चिकाकोल दानपत्र से लिया गया है। इनमें ग्रंथ शैली के **आ** (2, XIX) और **ग** (10, XIX) और **श** (36, XIX) के रूप ही ऐसे हैं कि जो वलभी के क्रमशः इन अक्षरों से काफी भिन्न हैं। इनमें बाई ओर को भंग है। गांगेय संवत् 87 के अच्युत्पुरम् पट्टों की लिपि[335] में कोणीय रूप मिलते हैं और अक्षरों के सिरों पर स्याही से भरे पिटक। यह मध्य भारतीय लिपि से बहुत मिलती-जुलती है। किन्तु इसका **न** आधुनिक नागरी की तरह का है। गांगेय संवत 128 के चिकाकोल के पट्टों की लिपि[336] भी सामान्यतया उसी प्रकार की है। पर उनमें उत्तरी और पश्चिमी का सामान्य फंदेदार **म** और पुरानी ग्रंथ लिपि का फंदेदार **त** मिलता है (22, XX तथा आगे)। अंतिम बात यह है कि संवत् 183 के चिकाकोल के पट्ट[337] फलक VII के स्त. X की लिपि के नजदीक हैं। किंतु इनका **न** बाद की नागरी का है और **आ** की मात्रा अधिकांशतया पंक्ति के ऊपर लगती है जैसा कि अनेक उत्तरी और ग्रंथ लिपि के 7वीं-8वीं शती के प्रलेखों में होता है।

गांगेय संवत् की तीसरी और चौथी शती के अभिलेखों और एक बाद के अतिथिक अभिलेख में अक्षरों की मिलावट और अधिक है। एक ही अक्षर प्रायः कई प्रकार से लिखे जाते हैं। इनके रूपों में भी काफी विभिन्नता रहती है। फलक VIII के स्त. X में, जो गांगेय संवत् 51 अर्थात् 251[338] के चिका-

---

334. इं. ऐ. XIII, 274; XVI, 133.
335. ए. इं. III, 128.
336. इं. ऐ. XIII, 120; मिला. XVI, पृ. 131 तथा आगे।
337. ए. इं. III, 132.
338. **संवत्सर** के अनन्तर **सितद्वय** शब्द संभवतः भूल से छूट गया है।

कोल पट्टों से निर्मित है और स्त. XI में, जो संवत् 254 के विजगापटम पट्टों से बना और स्त. XII में जो संवत् 304 के अलमंड पट्टों से निर्मित है हमें **अ**, **आ** (1, 2, X-XII), **इ** (3, XI), **उ** (5, X), **क** (44, XI, XII), **ख**, (12, XI), **ङ** (15, XII), **ज** (18, XII), **ञ** (ज्ञ में, 19, X), **ड** (22, XII), **ण** (24, XI, XII), **ध** (28, 45, XI), **न** (48, X) और **प्र** (47, XII) के उत्तरी रूप मिलते हैं। अन्य अक्षर दक्षिणी से निकले हैं। ये आंशिक रूप में मध्य कन्नड़ और आंशिक रूप में मध्य ग्रंथ के हैं या इनके अपने विलक्षण विकास हैं। फल. VII के सीमित स्थान में प्रत्येक अक्षर के सभी रूपों का देना असंभव था। किन्तु अकेले **ज** के तीन रूप (18, 46, 47, X) दिये गये हैं, जिनसे स्पष्ट हैं कि इनमें कितनी अधिक विभिन्नता है।

इनसे भी अधिक मिलावट और विभिन्नता के दर्शन गांगेय संवत् 351 के चिकाकोल पट्टों[339] और 11वीं शती के वज्रहस्त के अतिथिक दानपत्र में (कीलहार्न)[340] होते हैं। हमारे फलक में इनके अक्षर नहीं दिये गये हैं। फ्लीट के अनुसार इनमें से पहले प्रलेख में प्रत्येक अक्षर के कम-से-कम दो रूप हैं, किन्तु कभी-कभी एक ही अक्षर के तीन या चार रूप भी मिलते हैं। इनमें अधिकांश चिह्न दक्षिणी नागरी के हैं। किन्तु पुरानी कन्नड़ और उत्तरकालीन ग्रंथ लिपि के चिह्न भी इसमें मिलते हैं। कीलहार्न की गिनती के मुताबिक बज्रहस्त के दानपत्र में नागरी के 320 और अन्य विभिन्न प्रकारों के दक्षिणी अक्षरों की संख्या 410 है। प्रत्येक अक्षर के भी कम-से-कम दो और कभी-कभी तो चार या इससे भी अधिक रूप हैं। कीलहार्न ने बतलाया है कि इसके लेखक ने विभिन्न रूपों की टोलियाँ बनाने में एक खास कला का परिचय दिया है। और कीलहार्न का यह कथन ठीक है कि यह मिलावट राजकीय लिपिकारों के दिखावेपन के कारण है जो यह बताना चाहते थे कि वे अनेक लिपियों के जानकार हैं। इसी वजह से गांगेय संवत् 183

---

339. इं. ऐं. XIV, पृ. 10 तथा आगे। हुल्श का पाठ शुद्ध है। फ्लीट ने अपनी **डाइनेस्टीज आफ दि कनड़ीज डिस्ट्रिक्ट्स, बाम्बे गजटियर** जिल्द I, खंड II, पृ. 297 टि. 8 पर यही पाठ ग्रहण किया है। इसके छपे हुए पन्ने फ्लीट महोदय ने मुझे भेजने की कृपा की है। फ्लीट ने इस अभिलेख और फलक VIII, स्तं. X, XII के अभिलेखों को संदेहास्पद कहा है, पर मेरी राय में उन्होंने संदेह का पर्याप्त कारण नहीं दिया है।

340. ए. इं. III, 220.

के चिकाकोल पट्टों का लेखक अंक लेखन की तीन प्रणालियों का इस्तेमाल पट्टों की तिथि लिखने में करता है (देखि. आगे 34)। कलिंग के गंगों का राज्य उन जिलों के बीच में पड़ता था जिनके एक ओर नागरी का और दूसरी ओर तेलुगू-कन्नड़ लिपियों का प्रयोग होता था और वह ग्रंथ लिपि के क्षेत्र से भी बहुत दूर न था। संभवतः इसकी आबादी भी मिली-जुली थी। जनता इन सभी लिपियों का इस्तेमाल करती थी।[341] इसके पहले तो पुरानी पश्चिमी और मध्य भारतीय लिपियों का भी यहाँ प्रयोग होता था। पेशेवर लिपिकों और लेखकों को इन सभी लिपियों पर अधिकार पाना पड़ता था।

31. ग्रंथ लिपि : फलक VII और VIII

अ. पुरागत विभेद

तमिल जिलों में 350 ई. के बाद संस्कृत लिपियों के इतिहास की जानकारी के लिए हमें पूरबी तट के पल्लवों, चोलों और पाण्ड्यों के संस्कृत अभिलेख ही उपलब्ध हैं। इनमें पल्लवों के अभिलेखों का इतिहास पुराना है। तदनुरूप पश्चिमी तट के अभिलेखों का अभी तक पता नहीं मिला है। इसी वजह से और इस कारण भी कि अच्छे प्रतिरूपों वाले प्रकाशित पूर्वी प्रलेखों की संख्या बहुत कम है, इसके अक्षरों के क्रमिक विकास का लेखा-जोखा उपस्थित करना असंभव है।

तमिल जिलों की संस्कृत लिपियों को सामान्यतया 'ग्रंथ लिपि' कहते हैं। इसके सबसे पुरागत रूप पलक्कड़ और (? या) दशनपुत[342] के 5वीं या 6ठी शती (?) के पल्लव राजाओं के ताम्रपट्टों पर (फल. VII, स्त. XX, XXI) मिलते हैं। इनसे बहुत मिलते-जुलते रूप धर्मराजरथ के प्राचीन अभिलेख सं. 1 से 16 (फल. VII, स्त. XXII)[343] के हैं। इन अभिलेखों और ऐसे ही कुछ अन्य अभिलेखों[344] में वही लिपि है जिसे पुरानी ग्रंथ लिपि कह सकते हैं। इसका

341. बुगुडा पट्टों से उत्तरी अक्षरों का प्रयोग सिद्ध होता है, ए. इं. III, 41; मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 53 और फल. 22 *b*.

342. इं. ऐ. V, 50, 154; मिला. ब. ए. सा. इं. पै. 36 टिप्पणी 2.

343. इस अभिलेख के अतिरिक्त फल. VII, स्तं. XXIV और फल. VIII, स्त. XII के अभिलेखों की प्रतिकृतियों के लिए मैं श्री हुल्श का आभारी हूँ; देखि. उनकी सा इं. ई. III, खंड 3.

344. इं. ऐ. IX, 100; सं. 82, 102, सं. 85; XIII, 48; ए. इं. I, 397.

आखिरी उदाहरण बादामी अभिलेख है। फ्लीट की ताजी खोजों[345] से पता चलता है कि यह लेख पल्लव नरसिंह प्रथम ने 626 से 650 के बीच चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय (ई. 609 और लग. 642) के विरुद्ध अपने अभियान के बीच खुदवाया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके शीघ्र ही बाद इसका प्रचलन बंद हो गया, क्योंकि नरसिंह के बेटे परमेश्वर प्रथम के कूरम पट्टों के अक्षर इससे काफी विकसित हैं। जावा के जंबू नामक स्थान से मिले पत्थर पर खुदे अभिलेख में भी इस लिपि के दर्शन होते हैं। (देखि. इं. ऐ. IV, 356)।

पुरागत ग्रंथ-लिपि के अक्षर सामान्यतया पुरागत तेलुगू-कन्नड़ के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं (दे. ऊपर **29 अ**)। किंतु उनकी कुछ निजी विशेषताएं भी हैं जो उत्तरकालीन विभेदों में सदा मिलती हैं, जैसे :

1. थ---इसकी बीच की बिंदी फंदे में बदल गई है जो दाईं ओर को जुड़ता है (फल. VII, 23, XXI); इसे स्त. XX के **थ** से मिलाइए, जिसमें तेलुगू-कन्नड़ की सीधी लकीर दीखती है।

2. श---इसकी अर्गला भंग या फंदे में बदल गई है और जो दाईं ओर को जुड़ती है (फल. VII, 36, XX-XXII, 45, XXII); ऊपर **28, अ, 7** में उल्लिखित घसीट **श** से भी तुलना कीजिए।

3. ष---इसकी अर्गला की भी वही परिणति है (फल. VII, 37, XX)। स्त. XXI के **ष** से मिलाइए। जिसमें इससे पुराना रूप मिलता है।

फलक VII के स्त. XX और XXI के अक्षरों से पल्लवों के उन प्राकृत अभिलेखों का घना संबंध नहीं है जिनकी चर्चा ऊपर **20, ई** में की गई है।

आ. मध्य विभेद

पुरागत से काफी अधिक विकसित दूसरा विभेद या मध्य ग्रंथ लिपि है इस लिपि में लिखा प्राचीनतम अभिलेख पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम (ई.655-680) के प्रतिद्वन्द्वी परमेश्वर के राज्य काल का कूरम पट्ट (फल. VII, स्त. XXIV) हैं।[346] यह प्रलेख सच्चे लिपिक की कृति मालूम पड़ता है। इसकी तुलना में कैलाश नाथ मंदिर का स्मारक अभिलेख (फल VII, स्त. XXIII)

---

345. **डाइनेंस्टीज आफ दि कनड़ीज डिस्ट्रिक्ट्स, बांबे गज़ेटियर** जिल्द I, खंड II पृ. 328।

346. हुल्श, सा. इं. इं., I पृ. 144 तथा आगे; फ्लीट, **वही** (पूर्व टिप्पणी) पृ. 322 तथा आगे।

पश्चगामी हैं। इसमें पुरालिपि की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण अक्षरों के रूप पुरागत हैं। कैलाश नाथ मंदिर का निर्माण फ्लीट के मत से[347] परमेश्वर के पुत्र नरसिंह द्वितीय ने करवाया था। दूसरी ओर कशाकूडि ताम्रपट्ट (फल.VIII, स्त. XIII) हैं। इन पर नंदिवर्मन के समय में लेख खोदे गये थे। नंदिवर्मन नरसिंह द्वितीय के पुत्र महेन्द्र तृतीय का उत्तराधिकारी था। इसने पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय (ई. 733-749) से युद्ध किया था[348]। इन पट्टों की लिपि कूरम-पट्टों से बहुत मिलती-जुलती है और उसमें कुछ पुरागत रूपों के साथ-साथ अधिक विकसित रूप भी हैं।

ग्रंथ-लिपि के इस द्वितीय विभेद की कतिपय महत्त्वपूर्ण नवीनताओं का उल्लेख नीचे दिया जा रहा है। ये नवीनताएं या तो हमेशा मिलती हैं या यदाकदा।

1. **अ**, **आ**, **क**, और **र** (फल. VII, 1. 2. 8, 33, XXIII, XXIV; फल. VIII, 1. 2. 11. 36, XIII) तथा **उ** और **ऊ** की मात्राओं में प्राचीन हुक से एक दूसरी खड़ी रेखा का विकास। इं. ऐ. IX, 100; 102 की प्रतिकृतियों के संक्रान्तिकालीन रूपों से तुलना कीजिए।

2. **इ** की एक बिंदी का ऊपरी भंग वाली रेखा से जुड़ना (फल. VII, 3, XXIII, XXIV; फल. VIII, 3, XIII, *a*, *b*)।

3. **ए** के सिरे का खुलना (फल. VII, 5, XXIV) किंतु स्तं. XXIII और फल. VIII, 8, XIII में इसी अक्षर का ऊपरी हिस्सा बंद है।

4. **ख** के पैर में बाईं ओर एक फंदे का निकलना और अक्षर के दाएं भाग का खुलना (फल. VII, 9, XXIII) जैसा तेलुगू-कन्नड़ लिपि में होता है। देखि. ऊपर **29**, **आ** 2।

5. **ग** और **श** के बाएं हाथ की रेखाओं में शोशे का ऊपर को घूमना (फल. VII, 10, 36, XXIV; फल. VIII, 13, 39 XIII; फल. VII, स्त. XXIII में ऐसा नहीं होता)।

6. **छ** के फंदों का ऊपर की ओर खुलना (फल. VIII, 17, XIII) संभवतः कूरम पट्टों में पहले पट्ट की पांचवीं पंक्ति के अस्पष्ट **छ** में भी ऐसा ही हुआ है।

7. **ज** की खड़ी रेखा का अक्षर के ऊपरी डंडे के दायें किनारे को स्थानां-

---

347. फ्लीट, **वही**, पृ. 329।

348. फ्लीट, **वही**, पृ. 323 तथा आगे।

तरण और बीच के डंडे का फंदे में बदलना जो नीचे के डंडे में जुड़ता है (फल. VII, 15, XXIV; फल. VIII, 15, XXIV; फल. VIII, 18, XIII; किंतु फल. VII, स्त. XXIII में ऐसा नहीं हुआ है)।

8. **ध** और **त** के सिरों का पहली बार खुलना (फल. VII, 23, 25, XXIII, XXIV; फल. VIII, 26, 28, XIII)।

9. **ब** के सिरे का खुलना और इसकी मूल शिरोरेखा का बाएं हाथ की खड़ी रेखा के बाएं स्थानांतरण (फल. VII, 29, XXIV; फल. VIII, 32, XIII, किंतु फल. VII स्त. XXIII में ऐसा नहीं हुआ है)।

10. उत्तरकालीन उत्तरी **भ** (दे. ऊपर **24**, **अ**, 24) का ग्रहण या हूबहू वैसे ही किसी चिह्न का विकास (फल. VII, 30, XXIV; फल. VIII, 33, XIII; किंतु फल. VII, स्त. XXIII में ऐसा नहीं हुआ है)।

11. **स** के बाएं हाथ की खड़ी रेखा का पुराने पार्श्वांग के बाएं किनारे से और पार्श्वांग के दाएं किनारे का आधार रेखा से जुड़ना (फल. VII, 38, XXIV; स्त. XXII का संक्रान्तिकालीन रूप और फल. VIII, 41, XIII में एक अन्य घसीट रूप देखें)।

12. **आ, ए, ऐ, ओ, औ** की मात्राओं को मात्रिकाओं से प्रायः अलग रखना (व्यंजन फल. VIII, स्त. XIII में), और **आ** की मात्रा का पंक्ति के ऊपर रहना जैसा कि इस काल की उत्तरी लिपि और मध्य भारतीय लिपि में होता है। (तुलना कीजिए, फल. VII, 17, 19, 21, 31-33, XXIII; 8, 24, XXIV)।

13. विराम के लिए (तेलुगू-कन्नड़ लिपि की भाँति) खड़ी रेखा का ऊपर या कशाकुडि पट्ट में अंतिम व्यंजन के दाएं बनाना (फल. VII, 41, XXIII, फल. VIII, 47, XIII, और प्रतिकृतियों से मिलान कीजिए)।

14. अनुस्वार का मात्रिका के दाएं शिरोरेखा के धरातल के नीचे स्थानांतरण जैसा तेलुगू-कन्नड़ लिपि में होता है (फल. VII, 38, XXIV)।

15. खड़ी रेखाओं के सिरों पर कभी-कभी ऊपर को खुले कोणों का विकसित होना, फल. VIII, स्त. XIII में इसके बाएं भाग के लिए एक बिंदी दिखाई देती है।

कूरम पट्टों की लिपि पूर्णतया विकसित और एक ढर्रे की है। इससे इस बात की संभावना अधिक है कि इसका विकास बीस-तीस वर्षों में नहीं हुआ होगा। कूरम पट्टों के जारी होने और नरसिंह प्रथम द्वारा बादामी अभिलेख के

खुदवाये जाने में इतने ही समय का अंतर है। (देखिए ऊपर अ) । संभवतः कूरम लिपि का इतिहास इससे प्राचीन है।

इ. संक्रांतिकालीन ग्रंथ-लिपि

आठवीं शती के प्रकाशित पल्लव अभिलेखों की श्रृंखला—जिनकी तिथियाँ दी जा सकती हैं, कशाकुडि पट्टों से खत्म हो जाती है। आगे की शताब्दियों के प्रलेखों की प्रतिकृतियां मुझे नहीं मिल पाई हैं। इसलिये मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि तीसरे या ग्रंथलिपि के संक्रांतिकालीन विभेद का, जिसे बर्नेल चोल या मध्य ग्रंथ-लिपि कहता है, प्रयोग कब से शुरू हुआ। बाण-राजा विक्रमादित्य[349] (लग. 1150 ई.) के राज्यकाल के अभिलेखों (फल. VIII, स्त. XIV) और सुंदर पाण्ड्य[350] (ई. 1250) के अभिलेखों और अन्य प्रलेखों [351] में इस लिपि के दर्शन होते हैं। किंतु गंग-अभिलेखों (फल. VIII, स्त XI, XII) में ग्रंथ-लिपि के चिह्न मिलते हैं और 1080 ई. की बर्नेल की चोल-ग्रंथ लिपि[352] से भी यह प्रकट होता है कि नवीन विकासों में कुछ का उदय 8वीं शती में और कुछ का 9वीं-10वीं शती में हुआ। इसी समय के आसपास प्राचीन कन्नड़-लिपि (ऊपर **29**, इ) भी बनी।

संक्रांतिकालीन ग्रंथ-लिपि में मिलने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं :

1. इ की अंतिम अवशिष्ट बिंदी का लोप (फल. VIII, 3, XIV, XV, मिला. 3, XIII, *a*)।

2. कूरम के ए (फल. VII, 6, XXIV) से, उससे भी अधिक घसीट रूप का बनना (8, XIV)।

3. फल. VII, 9, XXIII के ख से उससे भी अधिक घसीट ख (फल. VIII, 12, XIV, XV) का निकलना जो उत्तरकालीन तेलुगू-कन्नड़ अक्षर (फल. VIII, 12, III और आगे) से बहुत मिलता-जुलता है।

---

349. ए. इं. III, 75।

350. ए. इं. III, 8.

351. मिला. इं. ऐं. VI, 142; VIII, 274; IX, 46 (ए. इं. III, पृ. 79); ए. इं. III, 228; ए. क. III, 166; II, फल. 2; अंतिम दोनों अभिलेख 11 वीं शती से पुराने हैं।

352. ब. ए. सा. इं. पै. फल. 13.

4. घ के बाएं इकहरे या दुहरे भंग का विकास (फल. VIII, 14, XIV, XV)।

5. च के सिरे का खुलना और इसके बाएं भाग का न्यून कोण में परिवर्तन (फल. VIII, 16, XIV, 15)।

6. ङ के दाएं किनारे एक और भंग का निकलना (फल. VIII, 22, XIV, XV)।

7. तमिल लिपि की प्रथा के अनुसार **ण** (फल. VIII, 24, XIV, XV) में एक अतिरिक्त फंदे का निकलना (दे. आगे, **32 अ**)।

8. थ और घ के सिरों का पूरी तरह खुल जाना (फल. VIII, 26, 28, XIV, XV)।

9. प के बाएं भाग में एक भंग का विकास (फल. VIII, 30, XIV, XV)।

10. म के सिरे का बंद होना (फल. VIII, 34, XIV, XV)। ई. 775 के आसपास के गंग अभिलेखों में पहले ही ऐसा होने लगा था (फल. VIII, 46, XI)।

11. य के दाएं भाग के वृत्त या फंदे का लोप (फल. VIII, 35, XIV, XV) इससे अक्षर पुरागत दीखने लगता है।

12. व के सिरे का खुलना और बाएं भाग में एक नए भंग का निकलना (फल. VIII, 38, XIV, XV)।

13. **आ, ए, ऐ, ओ** की मात्राओं को मात्रिकाओं से एकदम अलग रखना और **औ** की मात्रा के दूसरे अर्द्ध के लिए एक पृथक् चिह्न बनाना जिसमें दो छोटे भंग और दाएं एक खड़ी रेखा होती है।

ध्यान देने की बात यह है कि स्त. XV की उत्तरकालीन लिपियों में स्त. XIV से कुछ अधिक पुरागत रूप हैं। निस्संदेह इसकी वजह यह है कि स्त. XIV की लिपि में राजकीय कार्यालयों के लिपिकों की नकल की गई है जब कि स्त. XV में स्मारक रूप है जो सार्वजनिक भवनों के अनुकूल हैं। ग्रंथ-लिपि के सभी अभिलेखों में **स्टाइलस** से लिखे अक्षरों की नकल है।

32. तमिल और वट्टेळुत्तु लिपियाँ : फलक VIII

अ. तमिल लिपि

तमिल और इसका दक्षिणी और पश्चिमी घसीट विभेद, वट्टेळुत्तु या 'गोलाई-

दार' लिपि संस्कृत से भिन्न हैं। न इसमें केवल संयुक्ताक्षर ही नहीं होते अपितु महाप्राण, सघोष, ऊष्म, घर्ष वर्ण, अनुस्वार, विसर्ग के चिह्न भी नहीं होते। सघोष को तदनुरूप अघोष से व्यक्त करते हैं। ऊष्म ध्वनियों में तालव्य ऊष्म को **च** से व्यक्त करते हैं। इसमें कुछ नये वर्णों का विकास भी हुआ है, जैसे अंतिम हलंत **न, ड़,** ळ और ऴ अंतिम तीन अक्षर तदनुरूप तेलुगू-कन्नड़ के चिह्नों से नहीं मिलते। वर्णमाला की यह अति सरलता तमिल वैयाकरणों के सिद्धांतों से मेल खाती है और इसका खुलासा तमिल भाषा के विलक्षण ध्वनिशास्त्र से हो जाता है। सभी पुरानी द्रविड़ विभाषाओं की भाँति तमिल में भी महाप्राण और घर्ष वर्ण नहीं हैं। इसमें **ज** भी नहीं है। ऊष्म ध्वनि भी एक ही है जो काल्डवेल के मत से **श, ष** और **च** के मध्य पड़ती है। इसे दुहरा करके उच्चारण करने पर यह स्पष्ट ही **च्च** हो जाती है। सघोष और अघोष के लिए अलग-अलग चिह्न देना अनावश्यक था, क्योंकि इनका परस्पर विनिमय हो जाता है। तमिल में शब्दों के प्रारंभ में केवल अघोष का और मध्य में केवल दुहरे अघोष या एकल सघोष का इस्तेमाल होता है। इसलिए उन सभी शब्दों या प्रत्ययों के दो रूप हैं जिनका प्रारंभ कंठ्य, मूर्धन्य, दंत्य या ओष्ठ्य ध्वनियों से होता है।[353] इन सीधे-सादे नियमों के ज्ञान से **क, ट, त** और **प** के शुद्ध उच्चारण में त्रुटि हो ही नहीं सकती। संयुक्ताक्षरों के इस्तेमाल न होने का कारण संभवतः यह है कि तमिल में—यहाँ तक कि दूसरी भाषाओं से आये शब्दों में भी—किसी व्यंजन में केवल उसी के द्वित्व के अतिरिक्त दूसरा व्यंजन नहीं जुट सकता, और क्योंकि इस परिस्थिति में विराम का इस्तेमाल अधिक सुविधाजनक होता है।[354]

तमिल वर्णमाला में द्राविड़ी द्रव वर्ण है। इसकी ध्वनियाँ तो पुरानी कन्नड़ और तेलुगू के अनुरूप हैं, पर तेलुगू-कन्नड़ लिपि से इनके चिह्न भिन्न हैं। इससे प्रकट होता है कि तमिल लिपि का तेलुगू-कन्नड़ से स्वतंत्र अस्तित्व है और इसकी उत्पत्ति किसी अन्य स्रोत से हुई है। हुल्श ने कूरम पट्टों के रूप में एक महत्त्व-

353. काल्डवेल, **कंपरेटिव ग्रामर आफ द्राविडियन लैंग्वेजेज,** 21-27.

354. बर्नेल, ए. सा. इ. पै. 44, 47 में एक दूसरे मत का प्रतिपादन करता है। उसका विचार है कि वट्टेळुत्तु लिपि ब्राह्मी से स्वतंत्र है। इसका भी मूल सेमेटिक ही है। ग्रंथ लिपि से वट्टेळुत्तु का स्वर-प्रणाली के अनुरूप परिवर्तन कर ब्राह्मणों ने तमिल लिपि बनायी। इस मत के बारे में काल्डवेल (**वही,** 9) ने पहले ही कह दिया है कि "यह तथ्यों के अनुकूल नहीं।"

पूर्ण खोज की है।[355] इसका एक बड़ा अंश सातवीं शती की तमिल लिपि और भाषा में है। उनकी इस खोज से उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। इन पट्टों की तमिल-लिपि ग्रंथ से आंशिक रूप में ही मिलती है। इसके अनेक अक्षरों में उत्तरी लिपियों की विशेषताएं मिलती हैं।

खास ग्रंथ-रूप **उ** (फल. VIII, 5, XVI; मिला. फल. VII, 4, XXIV); **ओ** (फल. VIII, 9, 16, मिला. स्त. XV); **त** (फल. VIII, 25-28, XVI, मिला. फल. VII, 22, XXIV); **न** (फल. VIII, 29, XVI, मिला . फल. VII, 26, XXIV); **य** (फल. VIII, 35, XVI; मिला. फल. VII, 32, XXIV); **कु** की **उ** की मात्रा (फल. VIII, 14, XVI; मिला. 44, XIII); **ए** की मात्रा, **ते**, फल. VIII, 28, XVI में, मिला. खे, फल. VII, 9, XXIV) और विराम के लिए खड़ी लकीर में मिलते हैं। विराम की लकीर स्वरहीन व्यंजन के ऊपर किंतु हलंत **न** और **र** के दाएं रहती हैं (मिला. ङ, फल. VIII, 15, XVI; **म्**, 34; ळ 43; **न्** 49)। तमिल **ऐ की मात्रा** (उदाहरणार्थ **नै**, फल. VIII, 29 XVI) ग्रंथ **ऐ** से निकला एक अनोखा रूप है। इसमें दोनों मात्राएं एक-दूसरे पर नहीं बल्कि एक के पीछे दूसरी लगी हैं।

हूबहू वही या यत्किंचित परिवर्तित उत्तरी रूप इन अक्षरों में मिलते हैं: **अ** और **आ** में (फल. VIII, 1. 2. XVI), इनमें एक ही खड़ी लकीर है जिसके नीचे भंग नहीं है (मिला. फल. IV, 1, 2, I तथा आगे) और बाईं ओर फंदा है, जो अभी हाल में मिले स्वात के अभिलेखों तथा ग्रंथ लिपि में मिलता है; **क** में (फल. VIII, 11-14, XVI; मिला. फल. IV, 7, I तथा आगे); **च** में (फल. VIII, 16-18, XVI; मिला. फल. III, 11, III); **ट** में (फल. VIII, 20-22, XVI; मिला. फल. IV, 17, VII, VIII); **प** में (फल. VIII, 30-33, XVI; मिला. फल. IV, 27, I तथा आगे); र में (फल. VIII, 36, XVI; मिला. फल. IV, 33, I तथा आगे); **ल** में (फल. VIII, 37, XVI; मिला. फल. IV, 34, VII तथा आगे); **उ** की मात्रा में जैसे, **पु**, **मु**, **यु**, **वु** (फल. VIII, 32, 40, XVI; मिला. फल. IV, 27, II) और **रु** में (फल. VIII, 36, XVI, मिला. फल. IV, 33, III); और ळू

355. सा. इ. इं. I, 147; मिला. II, फल. 12; बल्लम् गुफा अभिलेख **वही**, 2, फल. 10 के अक्षर हूबहू ऐसे ही हैं।

और ऴ की ऊ की मात्राओं में (फल. VIII, 44, 46, XVI; मिला. पू, फल. IV, 27, IV)।

हलंत ङ (फल. VIII, 15, XVI) का रूप और भी परिवर्तित हो गया है, क्योंकि यह ङ के उत्तरी कोणीय रूप (फल. IV, 11, I तथा आगे) से उसमें दाईं ओर को ऊपर जाती एक लकीर जोड़ कर बना है। म (फल. VIII, 34, XVI) संभवतः तथाकथित गुप्त म (फल. IV, 31, I तथा आगे) से घसीट कर लिखने से बना है।

द्राविड़ द्रव वर्णों को भी हम उत्तरी रूपों का विकास मान सकते हैं। ळ (फल. VIII, 43, 44, XVI) का ऊपरी हिस्सा लघु घसीट उत्तरी ल की तरह दीखता है। ड़ को (फल. VIII, 47, 48, XVI) एक लघु तिरछा उत्तरी र और उसके सिर पर एक हुक लगाकर प्रकट कर सकते हैं। ऴ (फल. VIII, 45, 46, XVI) संभवतः उत्तरी ऴ (फल. IV, 40, II) से निकला है। इसमें आड़ी रेखा के किनारे फंदा बनाकर उसे नीचे की लटकन से जोड़ दिया गया है। अमरावती अभिलेख (ज. रा. ए. सो. 1891, पृष्ठ 142 के फलक) के फंदेदार ळ (इसे भ्रमवश ढ़ पढ़ लिया गया) से भी तुलना कीजिए।

शेष चिह्नों की उत्पत्ति संदेहास्पद है। इनमें कुछ चिह्न, जैसे व (फल. VIII, 38-40,XVI) और आ की मात्रा (देखि. का, फल. VIII, 12,XVI) उत्तरी और दक्षिणी दोनों लिपियों में मिलते हैं। अन्य चिह्न उन चिह्नों के रूप-परिवर्तन हैं जो उत्तरी और दक्षिणी दोनों लिपियों में समान रूप से मिलते हैं। अंतिम हलंत न (फल. VIII, 49, XVI) दो हुकों वाले उत्तरी और दक्षिणी ण का ही रूप परिवर्तन है (फल. III, 20, V, XX; फल. IV, 21, VII तथा आगे; फल. VII, 21, IV, तथा आगे) और इसी से तमिल ण (फल. VIII, 24, XVI) एक और भंग जोड़कर बना। विलक्षण रूप ए (फल. VIII, 8, XVI) या तो फल. IV, 5, X तथा आगे वाले ए से निकला या फल. VII, 5, XXIII वाले रूप से। इसी प्रकार, तु (फल. VIII, 27, XVI) और रु (फल. VIII, 48, XVI) में उ की कोणीय मात्रा दाईं ओर ऊपर उठते उस भंग का विलक्षण रूप-परिवर्तन है जो उत्तरी और दक्षिणी दोनों अक्षरों में मिलता है (दे. शु फल. IV, 36, III, XVII और फल. VII, 36, II, IV)। अंत में, अति घसीट इ (फल. VIII, 3 XVI) उन तीन भंगों के विलक्षण संयोग से बना प्रतीत होता है जो पुराने बिंदियों के स्थान पर बने थे। लेकिन इस प्रकार के इ का पता अभी तक नहीं चल पाया है।

सातवीं शती की तमिल लिपि के इस विश्लेषण से यही संभावना प्रकट होती है कि यह चौथी या पांचवीं शती की किसी उत्तरी लिपि से निकली है, जिस पर कालांतर में उन्हीं जिलों में संस्कृत के लिए प्रयुक्त ग्रंथ लिपि का भी काफी प्रभाव पड़ा था।

अगली सबसे पुरानी तमिल लिपि का नमूना कशाकूडि पट्टों में मिलता है।[356] ये पट्ट सन् 740 ई. के आसपास के हैं (फल. VIII में इनके अक्षरों का इस्तेमाल नहीं है)। इन पट्टों में उत्तरकालीन तमिल **म** को छोड़कर और कोई मौलिक परिवर्तन नहीं है।

किन्तु 10वीं, 11वीं और बाद की शताब्दियों के अभिलेखों में[357] (फल. VIII, स्त. XVII-XX) एक नये विभेद के दर्शन होते हैं, जिसका ग्रंथ-लिपि के प्रभाव से काफी रूप परिवर्तन हो चुका है।

ट, **ष**, और **ब** के विलक्षण रूप ग्रंथ के रूप हैं। अलावा, 11वीं शती में **क**, **ङ**, **च**, **त**, और **न**, के सिरों के बाईं ओर नीचे लटकती नन्हीं लकीरें निकल आती हैं। 15वीं शती में (फल. VIII, स्त. XIX, XX) इन लटकनों का पूर्ण विकास हो जाता है और **क** में बाईं ओर एक फंदा दीखता है। ध्यान देने की बात यह है कि उत्तर कालीन तमिल अभिलेखों में विराम (**पुल्लि**) पहले तो दुर्लभ हो जाता है, फिर एकदम गायब।[358] आधुनिक युग में तमिल में विराम फिर आ गया है। इसके लिए अब एक बिंदी लगती है।

आ : वट्टॆळुत्तु

वट्टॆलुत्तु अभिलेखों में भास्कर रविवर्मन के यहूदियों (फल. VIII, स्त. XXI, XXII) और कोचीन के सीरियनों[359] के नाम जारी किये गये

356. सा. इ. इं. II, फल. 14-15।

357. मिला. 10 वीं और 11वीं शती की प्रतिकृतियों से जो. ए. इं., III, 284; सा. इं. इ. II, फल. 2-4 पर हैं, 15 वी शती की प्रतिकृति से जो सा. इं. इं. II, फल. 5 पर हैं; सा. इं. इं. II, फल. 8 अनिश्चित : इं. ऐ. VI, 142; वर्णमाला ब. ए. सा. इं. इं. फल. 18, 19.

358. मिला. वेंकैय्य, ए. इं. III, पृ. 278 तथा आगे।

359. **मद्रास जन. लिट. सोसा.** XIII, 2, 1; इं. ऐ. III, 333; ब., ए. सा. इं. पै. फल. 32 *a*; ए. इं. III, 72; वर्णमाला, इं. ऐ.. I, 229; ब., ए. सा. इं. पै. फल. 17.

शासनों और उसी राजा के तिरुनेल्लि ताम्रपट्टों का प्रकाशन[360] इनकी प्रतिकृतियों के साथ हो चुका है। बर्नेल ने इनमें प्रथम दो प्रलेखों को 8वीं शती का बतलाया है,[361] पर उन्होंने इस मान्यता के जो आधार दिये हैं, वे कमजोर हैं। यहूदियों के शासन के अक्षर ग्रंथ-लिपि के तीसरे और अंतिम विभेद के हैं। इस प्रलेख के अंत में आये नागरी शा या शी (शायद **श्रीः** के लिए) की ओर हुल्श ने ध्यान आकर्षित किया है।[362] यह चिह्न 10वीं-11वीं शती के नागरी रूपों से मिलता है (मिला. फल. V, 39, 47, VIII; 48, X)।

पुरालिपि-शास्त्र की दृष्टि से हम वट्टेळुत्तु को घसीट लिपि कह सकते हैं। इसका तमिल से वही संबंध है जो क्लर्कों और सौदागरों की आधुनिक उत्तरी लिपि का अपनी मूल लिपि से है; जैसे मराठों की मोड़ी का बालबोध से और डोगरों की टाकरी का शारदा से है।[363] केवल **ई** अक्षर को छोड़कर, जो संभवतः ग्रंथ-लिपि से उधार लिया गया है, शेष सभी अक्षर एक ही बार में हाथ को बिना उठाये बायें से दायें को लिखे जाते हैं। अधिकांश अक्षर बाईं ओर को झुके हैं। इनमें अनेक में जैसे **ङ** में (फल. VIII, 15, XXI) जिसमें बाईं ओर को भंग और हुक है; **व** में जिसका सिरा खुला है और बाईं तरफ हुक है (फल. VIII, 38, XXI, XXII; मिला. स्त. XVII--XX), और गोल **र** में (फल. VIII, 45, 46, XXI, XXII; मिला. 47, XVII-XX), 11वीं और बाद की शताब्दियों की तमिल के दूसरे विभेद की विशिष्टताएं दिखलाई पड़ती हैं। उत्तरकालीन तमिल अभिलेखों की भाँति इसमें भी विराम का लोप मिलता है। कुछ दूसरे अक्षर जैसे गोल **ट** (फल. VIII, 20-23, XXI, XXII; मिला. स्त. XVI), दाईं ओर भंग वाला **म** (फल. VIII, 34, XXI, XXII; मिला. स्त. XVI), और बाईं ओर फंदे वाला **य** (फल. VIII, 35, XXI, XXII; मिला. स्प. XVI) भी पूर्वकालीन तमिल अक्षरों की तरह हैं। और तीन अक्षरों, गोल **उ** (फल. VIII, 5, XXI), नुकीला **ए** (फल. VIII, 8, XXI) और अकेली गांठ वाले

---

360. इं. ऐ. XX, 292।

361. इं. ऐ. I, 229; ब., ए. सा. इं. पै, 49; हुल्श नहीं मानता, इं. ऐ. I, 289।

362. ए. इं. III, 67.

363. मिला. ऊपर **25**, टिप्प. 270.

ण (फल. VII, 26, XXI, XXII) में संभवतः इससे भी पहले की विशेषताएं मिलती हैं। अनुमान है कि 'गोलाईदार' लिपि का उदय 7वीं शती से पहले हो चुका था पर तमिल और ग्रंथ-लिपि के विकास के साथ-साथ कालान्तर में इसका भी रूप-परिवर्तन हो गया। अद्यावधि प्राप्त अभिलेखों की संख्या बहुत कम है। इसलिए इस अनुमान को अभी तक निश्चय का रूप नहीं मिल पाया है।

वट्टेळुत्तु **क** (फल. VIII, 11-14, XXI, XXII) किसी फंदेदार रूप से निकला प्रतीत होता है। इसका रूप-परिवर्तन भी वैसा ही है जैसा कि अंक-लेखन की दाशमिक प्रणाली में अंक 4 का (मिला. फल. IX, B 4, V-VII, और IX)। तमिल **त** (मिला. स्त. XVII, XVIII) के फंदे को गांठ में बदलकर और इसकी दुम को सिर तक खींच देने से वट्टेळुत्तु का विचित्र **त** (फल. VIII, 25-28, XXI, XXII) बना है। इससे भी असाधारण अक्षर **न** (फल. VIII, 29, XXI) है। यह भी उत्तरकालीन तमिल **न** से निकला दिखाया जा सकता है। इसमें सिर से एक लकीर नीचे को लटका दी गई है।

VI संख्यांक-लेखन

33. खरोष्ठी के संख्यांक : फलक I[364]

ई. पू. पहली शती और ईसा की पहली और दूसरी शती के शकों, गोंडोफरस और कुषानों के खरोष्ठी अभिलेखों में और संभवत: बाद के भी प्रलेखों में हमें संख्यांक-लेखन की एक प्रणाली मिलती है (फल. I, स्त. XIV)[365]। सबसे पहले डाउज़न ने तक्षशिला ताम्रपट्ट[366] की सहायता से इसका स्पष्टीकरण किया था।

इसके मूलभूत चिह्न हैं : (क) 1, 2, और 3 के लिए क्रमश: एक, दो और तीन खड़ी रेखाएं; (ख) 4 के लिए एक झुका क्रास, (ग) 10 के लिए खरोष्ठी **अ** जैसा चिह्न, (घ) 20 के लिए दो भंग जो देखने में 10 के चिह्न को घसीट में दो बार लिखने से बना मालूम पड़ता है (बेली), (च) 100 के लिए ब्राह्मी त या त्र का चिह्न जिसके दाएं एक खड़ी लकीर है। इसी प्रकार पूरा चिह्न=1 सौ हो जाता है।

इन अवयवों के बीच की संख्याएं समूहों से प्रकट करते हैं। अतिरिक्त संख्या को हमेशा बाएं रखते हैं। जैसे 5 के लिए 4(+) 1; 6 के लिए 4(+)2; 8 के लिए 4 (+) 4; 50 के लिए 20 (+) 20 (+)10; 60 के लिए 20(+) 20(+) 20; 70 के लिए 20(+) 20 (+)20 (+) 10 लिखते हैं। 10(+) 1 से 10 (+) 9 और 20 (+) 1 से 20(+) 9 और इसी तरह आगे समूह बनाकर 11 से 19 और 21 से 29 और आगे की संख्याएं बतलाते हैं।

---

364. मिला. ई. सी. बेली, **दि जीनिओलाजी आफ दि माडर्न न्यूमरल्स**, ज.ए. सो.बं. (न्यू. स.), XIV, 335 तथा आगे; XV, पृ. 1 तथा आगे।

365. स्तं. XIV के चिह्न से. नी. ए. इं. 3, फल. 1 (ज. ए. 1890 I फल. 15); ज. ए. सो. ब. LVIII, फल. 10; तक्षशिला तामपट्ट की फ़ोटो-प्रति (ए. इं. IV, 56); और वार्डक कलश की एक जिलेटिन प्रति के आधार पर बनाये गये हैं जो मुझे ओल्डनबर्ग ने दी थी।

366, ज. रा. ए. सो. XX, 228।

100 से आगे की संख्याएं भी इसी सिद्धांत से प्रकट करते थे। जैस; 103 के लिए 100 (+) 3 या I सौ III। 200 का चिह्न बनाने में सौ का चिह्न बनाकर उसके दाएं दो खड़ी लकीरें बना देते थे। खरोष्ठी की सबसे ज्ञात बड़ी संख्या है II सौ XX XX XX X IV यानी 274[367]।

अशोक के शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के आदेशलेखों में जो कुछ थोड़े संख्यांकों के चिह्न मिले हैं (फल. I स्त. XIII)[368] उनसे विदित होता है कि ई. पू. की तीसरी शती में खरोष्ठी की संख्यांक लेखन-प्रणाली उत्तरकालीन प्रणाली से कम-से-कम एक महत्त्वपूर्ण बात में भिन्न थी। शाहबाजगढ़ी में 1, 2, 4, 5 के अंक हैं और मनसेहरा में 1, 2 और 5 के। इन दोनों में 4 के लिए झुका क्रास नहीं है। 4 की संख्या दिखलाने के लिए चार समानांतर खड़ी लकीरें बना दी गई हैं, इसी प्रकार 5 के लिए पांच लकीरें हैं। इस बात का पता अभी तक नहीं चल पाया है, कि अन्य अंक कैसे लिखे जाते थे।

बर्नेल और दूसरे विद्वानों ने बहुत पहले ही कहा था[369] कि खरोष्ठी के संख्यांक सेमेटिक से निकले हैं। इसके आगे अब यह भी कहा जा सकता है कि शायद वे अरामियनों से उधार लिये गये। क्रास की आकृति वाले 4 के चिह्न को छोड़कर इनका इस्तेमाल अरमैक अक्षरों के साथ-साथ शुरू हुआ। यूटिंग के प्राचीन अरमैक संख्यांक के फलक[370] के अनुसार अशोक के आदेशलेखों की भाँति 1 से 10 तक के चिह्न खड़ी लकीरों से बनाते थे। ये भारतीय प्रथा के प्रतिकूल तीन के समूहों में विभाजित हैं। खरोष्ठी 10 तीमा अभिरेख के ㄱ के नजदीक है। और 20 का चिह्न क्षत्रप सिक्कों के 3 से मिलता-जुलता है जो पेपाइरस ब्लैकास[371] में (ई. पू. पाँचवीं शती) और कुछ परिवर्तित रूप में

367. कनिघंम का पाठ यही है, सेनार, **वही**, 17 में 84 पड़ता है। उसे 200 के अस्तित्व पर संदेह है (ज. ए. सो. बं. LVIII, फल. 10 की आटोटाइप प्रति में यह स्पष्ट है)। बार्थ इसे 284 पढ़ते हैं। 200 के साथ कम से कम एक अभिलेख है जो अभी अप्रकाशित है। ब्लाख़ ने सूचित किया है कि एक अभिलेख में 300 भी हैं।

368. शाहबाजगढ़ी आदेशलेख सं. I-III, XIII की छाप के आधार पर बनाया गया है।

369. ब., ए. सा. इं. पै. 164; ज. ए. सो. ब. XXXII, 150।

370. *Nabatische Inschriften* पृ. 96 तथा आगे।

371. *Gorpus Inscre. Sem P. Aram*, 145 *A* (यूटिंग ने बताया)।

पेपाइरस वैटिकानस में भी मिलता है। 30, 40 और इसी प्रकार की संख्याओं के लिए अरामियन और फोनेशियन लोग भी हिंदुओं की भाँति 10 और 20 के चिह्नों का इस्तेमाल करते थे।

100 के चिह्न के लिए यूटिंग के फलक में कोई संगत चिह्न नहीं है। उनके सक्कारा अभिलेख के संस्करण में[372] जो चिह्न है वह भी निश्चित नहीं है, जैसी सूचना उन्होंने मुझे दी है। इसलिए तुलना के लिए फोनेशियन चिह्न ।०, ৮, ही बच रहते हैं। किंतु फोनेशियन और अरमैक अंकन-पद्धति में बड़ा घनिष्ट संबंध है। इसलिए यह संभव प्रतीत होता है कि अरमैक में भी प्राचीन समय में 100 के लिए सीधे खड़ा एक चिह्न रहा होगा। खरोष्ठी में 100 के पहले 1, 2 के चिह्न लगाने की प्रथा थी। यह प्रथा सभी सेमेटिक संख्यांक-लेखन प्रणालियों में मिलती है।

4 के लिए झुका क्रास बनाने का रिवाज उत्तरकालीन खरोष्ठी अभिलेखों में मिलता है। यह ढंग नेबेशियन अभिलेखों में भी मिलता है जो ईस्वी सन् के प्रारंभ के हैं। बड़ी संख्याओं के प्रदर्शन में इसका इस्तेमाल बहुत कम होता था। भारतीय और सेमेटिक अभिलेखों में यह चिह्न बहुत बाद में मिलता है। संभवतः हिंदुओं और सेमाइटों ने एक साथ ही मूलभूत चारों लकीरों को जल्दी से लिखने के लिए इस क्रास की ईजाद की।

34. ब्राह्मी के संख्यांक : फलक IX

अ. प्राचीन अक्षर—संख्यांक[373]

ब्राह्मी के अभिलेखों और सिक्कों के-लेखों में संख्यांक-लेखन की एक विचित्र प्रणाली मिलती है। इसके स्पष्टीकरण का श्रेय मुख्य रूप से जे. स्टीवेंसन, ई. टामस, अले. कनिंघम, भाऊदाजी, और भगवानलाल इन्द्राजी को है।[374]

---

372. *Palaeographical Society*, *Or. Ser.*, फल. 63।

373. मिला. भगवान लाल, इं. ऐ. VI, 42 तथा आगे; ब. ए. सा. इं. पै. पृ.59, 40 और फल. 23, बेली, **आन दि जीनिओलाजी आफ दि माडर्न न्यूमरल्स,** ज. ए. सो. बं. (न्यू. स.) XIV, पृ 335 तथा आगे; XV, पृ. 1 तथा आगे।

374. ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. V, 35 फल. 18; प्रि. इं. ऐ. II, 80; क: आ. स. रि. I, XLII, और ज. ए. सो. ब., XXXIII, 38; ज. बां. ब्रा. रा. ए. सो. VIII, पृ. 225 तथा आगे; अंतिम लेख के निष्कर्ष भगवान लाल के हैं, यद्यपि वहाँ उनका नामोल्लेख नहीं।

ई. 594-95 तक तो इसी प्रणाली का प्रचलन था। बाद में यह दाशमिक प्रणाली के साथ भी इस्तेमाल में आती रही।[375] बावर की हस्तलिखित प्रति और काशगर के अन्य हस्तलिखित ग्रंथों में[376] इसी प्रणाली का इस्तेमाल हुआ है। पश्चिम भारत के प्राचीन जैन हस्तलिखित ग्रंथों और नेपाल के बौद्ध ग्रंथों में 16वीं शती तक[377] इस प्रणाली का प्रयोग विशेषकर पृष्ठांकन में मिलता है। मलयालम हस्तलिखित ग्रंथों में तो अब भी यह प्रथा सुरक्षित है।[378]

इस प्रणाली में 1 से 3 के लिए आड़ी लकीरें या उसके घसीट संयोग बनाये जाते हैं, 4 से 9, 10 से 90, 100 से और 1000 में प्रत्येक के लिए एक अलग चिह्न (सामान्यतया कोई मात्रिका या संयुक्ताक्षर) बनाया जाता है, मध्य की या बृहत्तर संख्याओं के लिए मूलभूत चिह्नों के समूह या संयुक्ताक्षर बनते हैं। ऐसी संख्याओं के लिए जिन में दहाइयां और इकाइयां या सैंकड़े, दहाइयां और और इकाइयां या इसी तरह और भी हों तो अल्पतर संख्याओं के लिए चिह्न

---

375. देखि. आगे **34 आ.** अक्षर अंक में अंतिम अभिलेखीय तिथि संभवत: नेवार वर्ष 259 है जो बेंडेल, **जर्नी इन नेपाल**, 81, सं. 6 में है। मिला. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं 209, टिप्प.।

376. देखि० हार्नली, **बाबर मनुस्क्रिप्ट**; वी. त्सा. कुं, मो. VII, 260. बावरप्रति में कभी-कभी दहाई 3 मिलती है।

377. मिला. भगवान लाल फल० इ. ऐ. VI, 42; कीलहार्न, **रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स**, 1880-81, VIII तथा आगे; पीटरसन, **फर्स्ट रिपोर्ट**, 57 और **थर्ड रिपोट**, परि० I; ल्यूमन, शीलांक्स **केमेन्टरी आन विशेषावश्यक** (विशेषकर फल० 35); कॉवेल और एगलिंग, कै. से. बु. म. 52 (ज. रा. ए. सो, 1875); बेंडेल, कै. कै. बु. म. LII, और अंकों का फलक। बेंडेल के सं. 1049 और 1161 में तिथियों के लिए अक्षर-अंकों का भी प्रयोग हुआ है। नेपाल में अक्षर- अंक में अंतिम तिथि 1583 ई. की है (जो बेंडेल का अंकों के फलक में है)। अक्षर अंकों का केवल जैन: ताड़ पत्रों पर सन 1450 ई. तक मिलता है। किन्तु बर्लिन की कागज की हस्तलिखित पुस्तक. सं. 1709 (*Weber Verzeichnis d. Skt. and Prak Hdschrft* II, 1, 268; मिला D W A XXXVII, 250) में इसके कुछ चिह्न हैं।

378. बेंडेल, ज. रा. ए. सो. 1896; प्र. 789 तथा आगे।

वृहत्तर संख्याओं के चिह्नों से अलग उनके दायें या ठीक नीचे रखे जाते हैं। इनमें पहला सिद्धांत सभी अभिलेखों और अधिकांश सिक्कों में और दूसरा कुछ सिक्कों[379] और हस्तलिखित पुस्तकों के पृष्ठांकन में काम में आया है। 200 और 2000 दिखलाने के लिए 100 और 1000 के दायें एक छोटी-सी लकीर जोड़ देते हैं। इसी प्रकार 300 और 3000 के लिए इन्हीं अवयवों में क्रमशः 2 लकीरें बना देते हैं। साथ ही 100 और 1000 के संयुक्ताक्षरों के साथ 4 से 9 और 4 से 70के चिह्नों को जोड़ कर 400 से 900 और 4000 से 70000 की संख्याएं दिखाते थे (70000 सबसे बड़ी ज्ञात संख्या है)। लघुतर अंक बृहत्तर अंकों के दायें जोड़े जाते हैं।

जैन हस्तलिखित ग्रंथों में एक अपवाद 400 के लिए है। अपनी पोथियों के पृष्ठांकन में जैन और बौद्ध प्रायः 1 से 3 के लिए दाशमिक अंकों का प्रयोग करते हैं (फल. IX, A स्त. XIX--XXVI)। पुस्तकों में संख्यांक सूचक अक्षर ए **(एक)**, **द्वि**, **त्रि** या **स्व** (1), **स्ति** (2); **श्री** (3) मिलते हैं पर दाशमिक अंकों से कम। स्वस्ति श्री प्रसिद्ध मंगल वाचक पद है जिससे प्रलेखों का प्रारंभ होता है। कभी-कभी एक ही प्रलेख में दाशमिक प्रणाली के शून्य और अन्य संख्यांकों[381] के साथ-साथ प्राचीन संख्यांक सूचक चिह्न भी मिलते हैं। बाद के कतिपय अभिलेखों में भी इस प्रकार की मिलावट है। जैसे, देवेन्द्र वर्मन के चिकाकोल पट्टों में संवत् 183 को पहले शब्दों में, फिर 100 का चिह्न, दहाई 8 और **लो**=**लोक**=3 (देखि. आगे **35, अ**) से द्योतित किया गया है। मास की तिथि 20 को केवल दहाई अंक से प्रकट किया गया है।[382]

हस्तलिखित ग्रंथों में इस प्रणाली के चिह्न जिस लिपि में पुस्तक होती है

---

379. मिला. ज. रा. सो. 1889, 128।

380. इ. ए. VI, 44; कीलहार्न, **रिपोर्ट फार** 1880-81, X; पीटरसन, **रिपोर्ट**, 57.।

381. कीलहार्न, **वही**; बेंडेल **कैटलाग्री**, LIII।

382. मिल. ए. इं. III, 133, प्रतिकृति और उस जिल्द के परिवर्द्धन और संशोधन देखिए। चिह्न फल. IX, स्त. XV 2, 3, 8b, 100 a के अंतर्गत दिये गये हैं। मिश्रण के अन्य उदाहरणों के लिए देखि. फ्ली. गु. इ. (का इ. इ. III) सं. 292, और इं. ए. XIV, 351, किंतु जहाँ तिथि 800 4 9=849 दी गई है।

उसके अक्षर या पद होते हैं, पर ये हमेशा एक ही नहीं होते। अक्सर इनमें कुछ भेद कर दिये जाते थे। इसका कारण शायद संख्या-मानों से अक्षर-मानों के चिह्नों को दिखलाना रहा हो। कभी-कभी भेद काफी बढ़ जाते हैं। इनका कारण पुराने चिह्नों का गलत ढंग से पढ़ना या उच्चारण के विभाषागत भेद प्रतीत होते हैं। ये चिह्न अक्षर ही हैं। इसकी पुष्टि जैनों द्वारा इस प्रणाली के लिए रखे गये नाम **अक्षरपल्लि** से भी होता है। दाशमिक प्रणाली–**अंकपल्लि** से इसे अलग करने के लिए जैन इसे **अक्षरपल्लि** कहते थे।[383] जैन टीकाकार मलयगिरि (12वीं शती)[384] 4 के चिह्न को **ङ्क** शब्द कहता है। इससे प्रकट होता है कि वह सचमुच में **चतुः** नहीं, बल्कि ङ्क ही उच्चारण करता था।

फलक IX, A स्त. XIX-XXVI[385] के चिह्नों और अन्य चिह्नों के बेंडेल (बे.), भगवानलाल इन्द्राजी (भ.), कीलहार्न (की.) लूमान (लू.) और पीटरसन (पी., देखि. ऊपर की टिप्पणी 377) द्वारा दिये गये उच्चारण-मूल्य निम्नलिखित हैं :

4=ङ्क (XIX; मिला. लू. पृष्ठ 1); इसे ही जानबूझ कर भेद करने से ङ्कं (लू. पृ. 1) और ङ्का (XXV) ; **ङ** के स्थान पर **ण** समझकर **ण्क** (XXVI; बे., भ.), **र्ण्क** (XXIV; मिला. की.) या **ष्क** (XX, XXI) या ःक (XXIII; बे.) से भी व्यक्त करते हैं।

5=तृ (XIX, XXI, XXV, XXVI, बे., भ., की.)। इसे ही जानबूझ कर अलग करने से तृं (भ., की.) से; ऊपर की लकीर को गलती से **आ** की मात्रा मानकर **तृा** (XXIV) से; **त** के भंग के एक गलत निर्वचन

383. मौखिक सूचना।

384. इ. ऐ. VI, 47.।

385. फलक IX. V, स्त., XIX-XXVI निम्नलिखित ढंग से तैयार किये गये हैं:

स्त. XIX. हार्नली की **बावर की हस्तलिखित प्रति** की प्रतिकृतियों से।

स्त. XX-XXIII और XXVI, बेंडेल के **टेबुल ऑफ न्यूमरल्स**, सं. 1049, 1702, 866, 1643, 1683 से अंक काटकर।

स्तं. XXIV. भगवान लाल, कीलहार्न, और लूमान के फलकों के आधार पर।

स्तं. XXV, उन्हीं ग्रंथों से, किंतु 8, 9, 100 जकरिया के **साहसांकचरित**, **रायल एशियाटिक सोसायटी** के फोटोग्राफों से लिये गये हैं।

से (मिला. बे. के सं. 1464 के चिह्न से); ह्ह (मिला. बे. के सं. 1645, और आगे के चिह्न से) या ह्व (XXIII) से भी प्रकट करते हैं।

6=फ्र (XIX, XXI, XXVI[386]; भ., बे.) या फु (की.)। इसे जान-बूझकर अलग करने से र्फु या र्फ्रु (XXIV; की.) से; पुराने फ के एक गलत निर्वचन से, ध्र (XXII) से भी; अनुच्चारित व्यंजन के विभाषागत कोमलीकरण से, भ्र (XXIII; मिला. बे. पृ. LIV) से व्यक्त करते हैं।

7=ग्र (XIX, XXI, XXVI; भ.) या ग्रा (XXV; बे., भ., की.)। इसे ही जानबूझ कर भेद करने और 'रेफ' की लकीर के गलत निर्वचन से र्ग्रा (XXIV; पी.) से; ग के गलत निर्वचन से भ्र से (XX; मिला. बे. पृ. LIV) या भ्रा (XXIII, मिला. बे. पृ. LIV) से प्रकट करते हैं।

8=ह्र (XIX, XXI, XXIII, XXVI; बे., भ. अंशतः 'रेफ' की लकीर को ह के हुक में जोड़ कर) या ह्रा (XXV; बे. भ. की.)। जान-बूझ कर अलग करने से र्ह (की.) या र्हा से भी प्रकट करते हैं।

9=ओ (XIX, XXI, XXIII, XXIV, XXVI; बे., भ.) या ओम् (XXV; की.)।

10=ङ् (XIX) जो प्राचीन ठू (स्त.IV-V) में ठ के वृत्त के खुलने से बना है। इसे ही डा (XX, XXIII, बे. भ.) से जो पुराने ळ (स्त. X, XI; मिला. इं. ऐ. 6, 47) का नेपाली प्रतिनिधि है, प्रकट करते हैं। यह नेपाली ळ भी थू से निकला है। विशेषकर नागरी में इसे ळ को गलत ढंग से लिखने के कारण ळ् (XXI, XXV, XXVI; भ., की.) से और जानबूझ कर अलग करने से ळं (XXIV; की.) से भी प्रकट करते हैं।

20=थ[387] या था (XIX-XXI, XXIII, XXIV, XXVI; बे., भ., की.) या जानबूझ कर भेद करने से र्थ और र्था (XXV; की.) से भी प्रकट करते हैं।

30=ल या ला (XIX, XXI, XXIII, XXIV, XXVI;

---

386. फ के लिये मिला. फल. VI, 36, V.।

387. बावर की प्रति में भी साधारणतया। पीटरसन का घ पुराने थ के गलत पाठ के कारण हैं।

बे., भ., की. और पी.); या जानबूझ कर भेद करने से र्ल और र्ला (XXV; की.) से भी व्यक्त करते हैं।

40=प्त और प्ता (XX, XXI, XXIII, XXIV, XXVI; बे., भ., की.) या जानबूझकर भेद करने से र्प्त, र्प्ता (XXV; की.) से भी व्यक्त करते हैं।

50=अनुनासिक (? भगवानलाल), किंतु केवल स्त. XXIV का रूप इस अनुनासिक के सचमुच ज्ञात रूप के अनुरूप है (इ. ऐ. VI, 47); कभी-कभी घुमाकर भी रखा जाता है (XX; बे., XXIII; की.)।

60=ःचु जो नेपाली हस्तलिखित पुस्तकों में अक्सर मिलता है (XX, XXI, XXIII) या थु जो नागरी के हस्तलिखित ग्रंथों में नियमित रूप से मिलता है (XXV, XXVI; भ., की.) और जानबूझकर भेद करने को र्थु[388] (XXIV; की.) भी मिलता है।

70=चू जो नेपाली हस्तलिखित ग्रंथों में अक्सर मिलता है (XX, XXI, XXIII; बे. भ.) या थू जो नागरी हस्तलिखित ग्रंथों में नियमित रूप से मिलता है (XXV, XXVI); जानबूझकर भेद करने को र्थ (XXIV; की.) भी मिलता है।

80=उपध्मानीय, जिसके मध्य में डंडा है (XXIII, XXVI, बे., भ. मिला. फल IV, 46, III) या उसके उत्तरकालीन संशोधित रूप (XXI, XXIV; भ., की.) जो हस्तलिखित ग्रंथों (की.) और अभिलेखों में भी मिलते हैं (फल. IV, 46, XXIII)।

90=उपध्मानीय, जिसके मध्य क्रास की शक्ल के दो डंडे हैं (XXI, XXIII, XXVI; मिला. फल.VII, 46, V, VI); और इसके घसीट रूप (XXIV) या संभवतः जिह्वामूलीय (XXV; भ.) जो फल. VII, 46, III, XIII के म की भाँति के चिह्न से निकला है।

100=नागरी हस्तलिखित ग्रंथों में सु (XXIV, XXV; भ., की.) या नेपाली हस्तलिखित ग्रंथों में अ जो सु के गलत निर्वचन का परिणाम है (XX, XXIII, बे., भ.) या नेपाली और बंगला हस्तलिखित ग्रंथों में लु जो एक-दूसरे गलत निर्वचन का परिणाम हैं।

200=नागरी हस्तलिखित ग्रंथों में सू (XXIV, XXV; भ., की.)

---

388. पीटरसन का र्घु गलत पाठ है।

या नेपाली हस्तलिखित ग्रंथों में आ (XX, XXIII, बे., भ.) या नेपाली और बंगला हस्तलिखित ग्रंथों में लू (XXVI, भ., बे.)।

303=नागरी हस्तलिखित ग्रंथों में सूा (XXIV, XXV; भ., की. ने स्ता पढ़ा है) या नेपाली हस्तलिखित ग्रंथों में आा (XX)।

400=नागरी हस्तलिखित ग्रंथों में सूो (XXV; की. ने स्तो पढ़ा)।

अभिलेखों में चिह्नों के उच्चारणगत मूल्य बहुधा हस्तलिखित ग्रंथों से भिन्न होते हैं। यह भिन्नता भी पर्याप्त होती है। लगभग प्रत्येक खड़े और आड़े स्तम्भ में (फल. IX, A, I-XVIII)[389] कम-से-कम एक—कभी-

---

389. फलक IX. A स्त. I-XVIII, निम्नलिखित ढंग से तैयार किये गये हैं :

स्तं. I : 4 की संख्या कालसी आदेशलेख XIII, ए. इं. II, 465 की वर्गेस की प्रतिकृति से काटकर, 6, 50, 200 की संख्याएं सहसराम और रूपनाथ के आदेशलेखों की प्रतिलिपि के अनुसार हाथ से बनाकर। देखि. इं. ऐ. VI, पृ. 155 तथा आगे।

स्तं. II : शिद्दापुर आदेश लेख, ए. इं. III, 138 की प्रतिकृति से काटकर।

स्तं. III: नानाघाट अभिलेखों की प्रतिकृतियों से काटकर, ब. आ. रि. वे. इं. V, फल. 51

स्तं. IV: नासिक अभिलेखों की प्रतिकृतियों से काटकर, ब, आ. स. रि. वे.इं. IV,फल. ५२ सं० 5, 9, 18, 19; फल. 53, सं० 12-14: 70 गिरनार प्रशस्ति, ब. आ. सा. रि. वे. इ. II फल. 14 के आधार-पर हाथ से बनाई गयी है.।

स्तं. V: क्षत्रप सिक्कों की प्रतिकृतियों के आधार पर बनाया गया है, ज. रा. ए. सो. 1890, फ़लक पृ. 639 पर।

स्तं. VI-VII. ए. इ. I, 381; II, 201 की प्रतिकृतियों से काटकर।

स्तं. VIII; ब., आ. सं. रि. वे. इं. I फल. 62, और ए. इं. I, 2 की प्रतिकृतियों से काटकर।

स्तं. IX. X: फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 2, 3' 5, 7, 9, 11, 19· 23, 26, 59. 63 ,70, 71 की प्रतिकृतियों से काटकर।

स्तं. XI. फ्ली. गु. इं. (का.इं. इं. III) सं. 38, 39; इ ऐ. VI, पृ. 9 और अन्य वलभी अभिलेखों की प्रतिकृतियों से अंक काटकर।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कभी तो बहुत-से---घसीट या जानबूझकर संशोधित किये रूप मिलते हैं जिनमें अक्षरों से किसी प्रकार की रूपसमता नहीं होती :—

4=क (I), कि (III, 400, 4000 में, IV, A; V, A; VI, B); क्रि (V, B; IX, A), ष्क (III, A; VI, A; VIII, A; IX, B), ङ्क (X, A), ल्क (प्रतिकृति इ. ऐ. V, 154) ष्क।

5=त्र जिसमें र की लकीर त की खड़ी लकीर में बेतरतीब लगती है (V, A; VIII, A, B; IX, B; X, A; XV, A), त्रा (VII, A), तु (IX, A), नु (IV, B), न, ना (XI, A, B), तृ (XIII, A), हृ (XIII, B; XIV, A; XVII, A), ह्न (XVI, A), V, A. B के दो घसीट रूप जिनका कोई उच्चारणगत मूल्य नहीं है।

6=ज, स[390] (I, II; मिला. फल. II, 15, III; 39, VII), फ्र (III, 6000 में; IV, V), फ्रा (IX, XI); फा (XIII), फ (XIV), तथा चार घसीट चिह्न (VI-VIII, XV) जिसमें पहला संभवतः ज से, दूसरा स से, और तीसरे और चौथे फ से निकले हैं।

7=ग्र या गु (III-VI, IX-XI, XIII, XV), ग (VII) इसके साथ एक घसीट चिह्न (XII) भी है जो स्तं. XIII जैसे ग्र के चिह्न से निकला है।

(पूर्व पृष्ठ से)

स्तं: XII: ज. बा. ब्रां. रा. ए. सो. XVI, 108 की प्रतिकृति के आधार पर।

स्तं: XIII, XIV: इं. ऐ. IX, पृ. 164 तथा आगे की प्रतिकृतियों के आधार पर।

स्तं: XV: इ. ऐ. XIII, पृ. 120; ए. इं. III, 127 की प्रतिकृतियों के आधार पर।

स्तं: XVI; फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) से. 40, 41, 55, 56, 81 की प्रतिकृतियों से काटकर।

स्तं: XVII: इं. ऐ. XV, 112, 141 की प्रतिकृतियों से काटकर।

स्तं: XVIII, ज. ए. सो. ब्रं. XL. फल. 2 की प्रतिकृति के आधार पर।

390. संभवतः इसी प्रकार पढ़ना चाहिए; यह फ्र या फु का संशोधित रूप नहीं है।

8=ह्र जिसमें ह के अखीर में र की एक बेतरतीब लकीर जुड़ी है (IV, A, B; VI; A), ह (VI, B), हा (VII, A; X), ह्ला (XI, XVII, XVIII) या पूर्वी अभिलेखों में पु (VIII, B; XV, A; XVI) जो संभवतः ह्र का ही घसीट रूप है, और पांच घसीट चिह्न जिनका उच्चारणगत कोई मूल्य नहीं है (V, A; VIII, A; IX, A, B; XV, B), जिनमें दूसरे और पाँचवें चिह्न पु से और पहला, ह्र से, तीसरा ह्ला से और चौथा चिह्न हा से निकला है।

9=ओ; अक्षर रूप स्त. V (मिला. फल. IV, 6, IX), स्त. VI, (मिला. औ, फल. VII, 7, X), स्त. IX (मिला. फल. VI, 13, I) स्तं. XI, XII (मिला. फल. V, 47, IX), स्त. XIV (मिला. फल. V, 9, XV), स्त. XVII (मिला. फल. VI, 13, V तथा आगे) में हैं। ये रूप स्त. VII, XIII वाले सबसे प्राचीन रूपों से (III, IV) भिन्न हैं। स्त. X, XVI के रूप घसीट रूप हैं।

10=ठू[391] (III, 10000 में; IV, A, B; V, A; VI, A), इसी से ठ के वृत्त को खोल देने से एक घसीट रूप निकला (V, B; VI, B; VII, A; VIII, IX) जो आगे चलकर व्यंजनस्थ अ (X, XI, A, B) या र्य (XVI, A) या जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में होता है, ळ् (XIII, A, B; XVII, A) या ख और चे (XV, A, B) निकले।

20=ठ (III, 20000 में; XV) या जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में होता है थ, था के तत्कालीन रूप मिलते हैं।

30=ल, जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में होता है; कभी-कभी यत्किंचित परिवर्तित रूप में भी।

40=प्त, जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में होता है, जिसके लिए प्रायः एक घसीट क्रास (V, A) या त के स्थान-परिवर्तन से स (V, B; XI, B; XV) मिलता है।

50=अनुनासिक (? भगवान लाल) जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में होता है, यह दायें या बायें मुंह होता है और प्रायः यत्किंचित परिवर्तित रूप में भी मिलता है।

60=पु (IX), और चार विभिन्न घसीट रूप जिनका उच्चारण-गत कोई मूल्य नहीं।

---

391. बेली संदिग्ध रूप में; IV, B की ऊ की मात्रा के लिए तुलनीय नू. फल. III, 25-6.

70=पू (IV–VI; IX, XI,A), या प्रा (XII) एक घसीट क्रास के साथ (VII) और एक अन्य घसीट रूप (XI,B),दोनों शायद पू से निकले हैं।

80=विकर्णी डंडे के साथ उपध्मानीय और उपध्मानीय के घसीट रूप, हूबहू हस्तलिखित ग्रंथों जैसे।

90=बीच के क्रास के साथ उपध्मानीय, जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में मिलता है।

100=सु (I, 200 में; III; IX,A, B; X, XIII, 300 में; XIII, 400 में; XIV,400 में) जिसके लिए सातवीं-आठवीं शती के नेपाल के अभिलेखों में गलत पाठ के कारण अ (XIII, A, B, XIV, 300 में) और छठी और बाद की शताब्दियों में पूरब के अभिलेखों में[392] लु (X, 200 में, XVIII, 200 में) या पश्चिम[393] और कलिंग के अभिलेखों में शु (संभवतः श और स के विभाषागत क्रमचय के कारण) मिलता है (IV; V; XI; XII, 400 में; XV A, B)। इस शु के स्थान पर उत्तरकालीन उत्तरी अभिलेखों में ओ भी मिलता है जो पाठ की गलती के कारण है।

200 और 300 को व्यक्त करने में 100 के लिए जो अक्षर बनता है उसके दायें क्रमशः एक और दो आड़ी लकीरें बनाते हैं। पर रूपनाथ में (I) स की खड़ी लकीर को और लंबा कर ये लकीरें लगाते हैं। जैसा कि हस्तखित ग्रंथों में होता है ऊ की एक स्पष्ट मात्रा स्तं. XVIII के केवल २०० में मिलती है।

400=सु–कि (III), या सु-प्क (X; XIII; XIV) किंतु शु–प्क (XI) भी है। 500-शु=त्र (IV), 600-शु=फ्र (XII), 700=सु-ग्र (III), मिलते हैं।

1000=रो (III), या चु (IV में संभाव्य, XV में स्पष्ट, 8000 में), या धु (IV, 2000 में; IV, 70000 में), 2000 और 3000=धु जिसमें एक या दो आड़ी लकीरें हैं (IV)।

392· महानामन के अभिलेख में सबसे प्राचीन उदाहरण है, फ्ली. गु. इं. (का· इं. इं. III), सं. 71; 200, स्तं X में।

393· मिला, गुजरात के चालुक्यों के अभिलेख की तिथि से, **सातवीं ओरियंटल कांग्रेस**, पृ. 211; ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. XVI, 1 और ए. इं. III, 320, 1, 14 के वलभी रूप, जिसमें बाएं को इस काल का खंडित श प्रयोग में आया है; कोटा अभिलेख की तिथि, इं. ऐ. XIV, 351 जिसमें नवीं शती का श स्पष्ट है। उदयपुर के पश्चिमी अभिलेख में जिसकी खोज हाल ही में गौ. ही. ओझा ने की है शु, का रूप सू,, या सूा=300 मिलता है।

4000=**रो–कि** (III), या **धु–कि** (IV), 6000=**रो–फर** (III), 8000=**धु–ह** (IV), या **चु–पु** (XVI)।

10000=**रो–ठू** (III), 20000=**रो–ठ** (III), 70000=**धु**, जिसमें 70 के लिए एक घसीट चिह्न है।

ऊपर के व्योरों से पता चलता है कि (1) 100 के लिए सभी कालों के अभिलेखों में, यहाँ तक कि अशोक के आदेशलेखों में भी हस्तलिखित ग्रंथों से भिन्न चिह्न मिलते हैं। इनमें स्पष्ट अक्षरों के साथ-साथ इसके अनेक घसीट रूप या इरादतन रूपांतर मिलते हैं और कि 50 और 60 के लिए पुराने अभिलेखों में कोई वास्तविक अक्षर नहीं मिलते।

(2) शुरू से ही 7, 9, 30, 40, 80, 90 को छोड़कर अक्षरों के उच्चारणगत मूल्य बदलते हैं और अनेक बार, जैसे 6, 10, 60, 70, 100, 1000 में तो परिवर्तन काफी बढ़ जाते हैं।

(3) अनेक बार, जैसे 10, 60, 70 में, अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रंथों में अक्षर उन चिह्नों से निकलते हैं जिनका उच्चारणगत कोई मूल्य नहीं होता।

एक ओर तो तथ्य की ये बातें हैं, और दूसरी ओर यह बात भी है कि प्राचीनतम रूपों के बारे में हमारा ज्ञान अपूर्ण है। अतः इस समय इस प्रणाली की उत्पत्ति का खुलासा देना अत्यंत कठिन हो जाता है। भगवानलाल इन्द्राजी ने सबसे पहले इस समस्या के समाधान का यत्न किया था। उनका अनुमान था कि ब्राह्मी के संख्याकों का मूल भारतीय है। इनके ये रूप संकेत के लिए मात्रिकाओं के विलक्षण इस्तेमाल और कतिपय संयुक्ताक्षरों की वजह से हैं। किन्तु उन्होंने यह भी कह दिया था कि इस प्रणाली की कुंजी उन्हें नहीं मिल पायी है। 1877 में मैंने उनसे सहमति प्रकट की थी। मेरी तरह कर्न ने भी उनसे सहमति प्रकट की[394] पर उन्होंने बतलाया कि 4 और 5 के अंक लकीरों को इस प्रकार जोड़ देने से बने हैं ताकि अक्षर बन जाय। किंतु, बर्नेल ने इनसे पूर्ण मतभेद प्रकट किया है। वे यह नहीं मानते कि पुराने 'गुफा-संख्यांक'—बिरले अपवादों को छोड़कर—अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि ऐसा कोई सिद्धांत ढूंढ़ निकालना असंभव है जिससे यह दिखलाया जा सके कि हस्तलिखित ग्रंथों के अक्षरों से संख्यांक कैसे बने। उन्होंने यह भी बतलाया है कि हिंदुओं की भारतीय प्रणाली और मिस्रियों की

---

394. इं· VI, 143

'डिमोटिक' प्रणाली के सिद्धांतों में सामान्य रूप से एकता है। फिर, 1 से 9 के डिमोटिक चिह्न तदनुरूप भारतीय चिह्नों से मिलते हैं। इन बातों से उन्होंने अनुमान लगाया है कि 'गुफा-संख्यांक' मिस्र से उधार लिये गये हैं। उनमें और रूपांतरण करके उन्हें अक्षर बना दिया गया है। अंत में, ई. सी बेली ने अपने लंबे निबंध में यह दिखलाने की कोशिश की है कि यद्यपि भारतीय प्रणाली के सिद्धांत मिस्र के गूढ़ाक्षरी लेखन-प्रणाली से लिये गये हैं, पर भारतीय प्रतीकों का बहुलांश फोनेशियन, बैक्ट्रियन, अक्कादियन आकृतियों या अक्षरों से लिया गया है। कुछ ही प्रतीक ऐसे हैं जिनकी विदेशी उत्पत्ति नहीं दिखलायी जा सकती।

बेली के स्पष्टीकरण में कई बड़ी कठिनाइयाँ हैं। उन्होंने माना है कि हिंदुओं ने चार-पाँच स्रोतों से इसे उधार लिया। इनमें कुछ तो अति प्राचीन स्रोत हैं और कुछ अधिक आधुनिक। पर अपने निबंध में उन्होंने भारतीय और मिस्री चिह्नों की जो तुलनात्मक तालिका दी है और सैंकड़ों के लिखने में इनकी एकता पर जो टिप्पणी दी है उससे तो मेरा मन भगवानलाल इन्द्राजी के मत को छोड़कर कुछ संशोधनों के साथ बर्नेल के मत को अंगीकार करने को हो गया है। बर्नेल के मत से बार्थ भी सहमत हैं।[395] मुझे तो ऐसा लगता है कि ब्राह्मी के अंक मिस्र की गूढ़ाकृतियों से निकले हैं। हिंदुओं ने इन्हें अक्षरों में बदल लिया क्यों कि पहले से ही वे संख्याओं को शब्दों से व्यक्त करने के अभ्यस्त थे। (मिला. आगे 35, अ)।

इस व्युत्पत्ति के व्योरों में अभी कठिनाइयाँ हैं। अभी तक इन्हें निश्चय नहीं माना जा सकता है। मैंने इन्हें अपनी Indian Studies No. III के दूसरे संस्करण के परिशिष्ट II में दिया है। किंतु दो अन्य महत्वपूर्ण बातें निश्चित मानी जा सकती हैं (1) अशोक के आदेश-लेखों में इन संख्यांकों के विभिन्न रूप मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि ई. पू. तीसरी शती में इनका इतिहास काफी पुराना था और (2) इन चिह्नों का विकास ब्राह्मण अध्यापकों ने किया क्योंकि वे उपध्मानीय के दो रूप प्रयोग में लाते हैं जो निःसंदेह शिक्षा के अध्यापकों की ईजाद हैं।

आ. दाशमिक प्रणाली

दाशमिक अंक-लेखन-प्रणाली को आज कभी-कभी **अंकपल्लि** कहते हैं।

---

395. ब; ए. सा. इं. पै. 65, टिप्पणी 1।

हिंदू इसके लिए सबसे पहले शून्य के साथ अंकों[396] का प्रयोग करते थे। शून्य मूल में शून्य-बिंदु था, इसके संक्षिप्त नाम थे शून्य और बिंदु (दे. **35**)। अधिक संभवतः यह प्रणाली हिंदू गणितज्ञों और खगोलशास्त्रियों की ईजाद है जिस में गिनतारे से सहायता ली गई थी (बर्नेल, ब्रेली)। हार्नली ने बख्शाली के हस्त-लिखित ग्रंथों में रक्षित गणित-पुस्तक की प्राचीनता का संभवतः सही अनुमान किया है। यदि उसका यह अनुमान सही है[397] तो इसकी ईजाद ईसाई सन् के आस-पास या उससे भी पहले हुई होगी। इस पुस्तक में सर्वत्र दाशमिक अंक-लेखन का प्रयोग हुआ है। चाहे जो हो, वराहमिहिर (6ठी शती) इससे परिचित था, क्योंकि वह 9 के लिए अंक शब्द का प्रयोग करता है (**पञ्चसिद्धांतिका**, 18, 33; मिला. आगे **35, अ**) शून्य इस प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है। सुबंधु की **वासवदत्ता** में इसका उल्लेख आया है। बाण (लग. 620 ई.) ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है। सुबंधु ने अंधकारयुक्त आकाश में स्थित तारों को स्याही से काले किये हुए चमड़े पर चंद्रमारूपी खड़िया के टुकड़ों से बनाये शून्य-बिंदुओं की उपमा दी है।[398] सुबंधु का शून्य बख्शाली हस्तलिखित ग्रंथों की भाँति बिंदी ही था (फल. IX, B, स्त. IX)।

पुरालेखों में दाशमिक अंक-लेखन प्रणाली के इस्तेमाल का सबसे प्राचीन प्रमाण चेदि संवत् 346 अर्थात् 595 ई. के गुर्जर अभिलेख में मिलता है।[399] इस लेख के चिह्न वही हैं (फल. IX, B, स्त. I) जो उस देश और काल के अंकों के प्रतीक हैं (मिला. फल. IX, A का वलभी का स्तंभ[400]) ऊपर पृष्ठ 160 पर उल्लिखित चिकाकोल पट्ट की तिथि में आये 2 पर भी यह बात लागू है। इस प्रलेख में हमें उत्तरकालीन गोला शून्य और **पु** से निकला एक घसीट चिह्न दहाई 8 के लिए मिलता है। 8वीं शती के एक अन्य अभिलेख शक संवत् 675=574 ई. के सम्मनगढ़ पट्टों में केवल अति रूपांतरित घसीट चिह्न ही मिलते हैं (फल. IX, B, स्त. II)।

---

396. मिला. हार्नली का स्पष्टीकरण, **सातवीं ओरियंटल कांफ्रेंस, आर्यन सेक्शन**, 132; इं. ए. XVII, 35

397. इं. ऐ. XVII, 36

398. **वासवदत्ता** (सं. एफ. ई. हाल), पृ. 182

399. मिला. ए. इं. II, 19; देखि. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), संa 209, टिप्पणी 1.

400. 6 के बारे में जो अंतर दिखता है, वह छाप के दोष के कारण है।

9वीं और बाद की शताब्दियों में दाशमिक अंकों का इस्तेमाल आम बात है। इस काल के अभिलेखों से जो नमूने लिये गये हैं[401] (फल. IX, B, स्त. III-VIII, XIII) उनमें घसीट चिह्न मिलते हैं। 11वीं और 12वीं शती के चिह्नों में (मिला. स्त. VII, VIII, और XIII) पश्चिम, पूरब और दक्षिण में स्थानीय भेद मिलते हैं। किन्तु इनके सभी अंक या तो पुरानी प्रणाली के अक्षर-अंकों से निकले हैं या उन अक्षरों से जिनका उच्चारणगत वही मूल्य था। अंतिम टिप्पणी स्त. III, V, VI तथा आगे के 9 पर भी लागू है जो उत्तरकालीन अभिलेखों में प्रयुक्त **ओम्** के **ओ** के चिह्न के साथ अद्वैत है (मिला. इं. ऐ. VI, 194 तथा आगे सं 3-6)।

हस्तलिखित ग्रंथों से लिये गये नमूनों में (फल. IX, B, स्त. IX-XII) बख्शाली के हस्तलिखित ग्रंथ के दाशमिक के अंकों में 4 और 9 के लिए प्राचीन अक्षर-अंक मिलते हैं।

तमिल के संख्यांक सामान्य संख्यांकों से बहुत भिन्न हैं। इनमें 10, 100 और 1000 के पुराने चिह्नों का प्रयोग होता है। बर्नेल ने ए. सा. इं. पै. फल.

---

401. फलक IX, B, स्तं. III-XIII (स्तं. I, II के लिए ऊपर देखि.); सभी हाथ से खींचकर।

स्तं. III. कण्हेरी सं. 15, 43 A, B, के राष्ट्रकूट अभिलेखों की प्रतिकृतियों से।

स्तं. IV. तोरखेडे के राष्ट्रकूट ताम्रपट्ट की प्रतिलिपि से, ए. इं.III, 56

स्तं. V. 3 और 6 के अंक हड़ाला ताम्रपट्ट की एक छाप से (इं. ऐ. XII,190); 4, 7, 9, 0 के अंक असनी अभिलेख, इं. ऐ. XVI, 174 की प्रतिकृति से; 5 और 8 के अंक मोर्बी ताम्रपट्ट, इं. ऐ. II, 257 की प्रतिकृति से।

स्तं. VI, सावंतवाडी ताम्रपट्ट, इं. ऐ. XII, 266 की प्रतिकृति से।

स्तं. VII. चालुक्य ताम्रपट्ट, इं. ऐ. XII, 202 की प्रतिकृति से।

स्तं. VIII. 1, 3, 8 के अंक गया अभिलेख, इं. ऐ. X, 342 से; 5 क., म. ग. फल. 28, A से।

स्तं. IX, X, हार्नली के बख्शाली के अंक।

स्तं. XI, XII. बेंडेल के कै. कैं. सं. बु. म. के टेबुल आफ न्यूमरल्स से।

स्त. XIII. ब, ए. सा. इ. पै. फल. 23, 11वीं शती के तेलुगु-कन्नड़ अंक।

23 (मिला. **वही** पृ. 68) में ये चिह्न दिये हैं। काबुल के सख्यांक ई. सी. बेली के निबंध, **न्यूमिस्मैटिक क्रानिकल** तीसरी सिरीज, II, 128 तथा आगे, मिलेंगे।

35. शब्दों और अक्षरों के माध्यम से संख्यांकों का द्योतन

अ. शब्द-संख्यांक

खगोल, गणित और छंद-शास्त्र की अनेक पुस्तकों तथा अभिलेखों और हस्त-लिखित पुस्तकों की तिथियों में संख्यांकों की अभिव्यक्ति वस्तुओं, प्राणियों या भावों के नामों से होती है। ये नाम प्रकृत्या वा शास्त्रवचनों के अनुसार संख्यांकों के द्योतक माने जाते हैं। इस प्रथा के प्राचीनतम चिह्न ए. वेबर ने कात्यायन और लाट्यायन के **श्रौतसूत्रों** में पाये हैं[402]। कुछ उदाहरण वैदिक ज्योतिष और बख्शाली हस्तलिखित ग्रंथ के गणित भाग में भी मिलते हैं। और अधिक उदाहरण पिंगल के छंदशास्त्र में हैं। 500 ई० के आसपास से हमें पहले वाराहमिहिर की **पंच-सिद्धान्तिका** में ऐसी पद्धति के दर्शन होते हैं जो शनै, शनैः पूर्ण होती हुई शून्य और 1 से 49 के बीच की सभी संख्याओं के लिए बन जाती है। इसके बाद के काल में संख्याओं के लिए प्रयुक्त शब्दों के किसी भी पर्याय का इस्तेमाल हो सकता था। कभी-कभी तो एक ही शब्द कई संख्याओं को प्रकट करता है। समस्त शब्दों को उनके प्रथम या द्वितीय अंशों से प्रकट कर सकते थे।

इस प्रथा की ईजाद निश्चय ही खगोल आदि की छंदोबद्ध पुस्तकों के लिए हुई थी। संख्याओं के लिए प्रयुक्त होने वाले महत्वपूर्ण शब्द निम्नलिखित हैं :[403]

0=(क) शून्य [404] (वरा., बेरू.); (ख) अंबर, आकाश आदि (वरा., बेरू., ब्राउ.), अनन्त (ब्राउ.)।

---

402. वे. इं. स्ट्रा. VIII, पृ. 166 तथा आगे।

403. संक्षिप्त शब्द रूप उन ग्रंथों के सूचक हैं जिनसे शब्द लिये गये हैं।
ज्यो.= **ज्योतिष**, बेबर का संस्करण।
पिंग= **पिंगल**, वेबर, *Indische Studies*. VIII, पृ. 167 तथा आगे।
बख्शा. =**बख्शाली की हस्तलिखित प्रति,** हार्नेली 130.
बर्ने.=बर्नेल के परिवर्द्धन, ए. सा. इं. पै. पृ. 77 तथा आगे।
बेरू=बेरूनी का इंडिया, सचाऊ I, 178.
ब्राउ.=ब्राउन की सूची, जिस रूप में ब., ए. सा. इं. पै. 77 पर उद्धृत है।
वरा.=वराहमिहिर की **पञ्चसिद्धान्तिका**, थिबो संस्करण।

404. 'शून्य' का अर्थ 'गिनतारे की खाली जगह' हो सकता है या फिर यह 'शून्य विंदु' का संक्षिप्त रूप होगा (देखि. ऊपर 34, B).

1—(क) रूप (ज्यो., बख्शा., पिंग., वरा.); (ख) इंदु, शशि, शीतरश्मि आदि (वरा., बेरू., ब्राउ.) या संक्षेप में रश्मि (बेरू.); (ग) भू. मही, आदि (वरा., बेरू., ब्राउ.); (घ) आदि (बेरू.); (च) पितामह (बेरू.); (छ) नायक (ब्राउ.); (ज) तनु (ब्राउ.) अर्थात् शरीर ।

2=(क) यम, यमल (वरा., बर्ने.); (ख) अश्विन, दस्र (वरा., बर्ने); (ग) पक्ष (वरा., बेरू.); (घ) कर आदि (वरा., बर्ने); (च) नयन आदि (वरा. बेरू., बर्ने); (छ) बाहु (ब्राउ.); (ज) कर्ण (ब्राउ.); (झ) कुटुंब यानी पति-पत्नी (ब्राउ.); (ट) रविचन्द्रौ (बेरू.) ।

3=(क) अग्नि, होतृ[405] आदि (वरा., बेरू., बर्ने.,); (ख) रामाः =तीन राम (वरा., ब्राउ.); (ग) गुण (वरा.), त्रिगुण (बर्ने.); (घ) त्रिजगत्, लोक (बेरू.); (च) त्रिकाल (बेरू.); (छ) त्रिगत[406] (बेरू.); (ज) सहोदराः[407] (ब्राउ.); (झ) त्रिनेत्र आदि (ब्राउ.) ।

4=(क) अय, आय (ज्यो.), कृत[408] (वरा., बेरू.); (ख) वेद, श्रुति (पिंग., वरा., बेरू.); (ग) अब्धि, जलधि आदि (पिंग., वरा., बेरू., बर्ने.), संक्षिप्त रूप में जल (वरा.), दधि (बेरू.); (घ) दिश् (बेरू.); (च) युग (ब्राउ.),(छ) बंधु (ब्राउ.)[409]; (ज) कोष्ठ (ब्राउ.)?; (झ) वर्ण (हस्त. ग्रं.)।

5=(क) इन्द्रिय आदि (पिंग., वरा., बर्ने.); (ख) अर्थ, विषय आदि इंद्रियों के (वरा., बेरू.); (ग) भूत (पिंग., वरा., बेरू); (घ) इषु (काम के वाण) आदि (वरा., बेरू., बर्ने.); (च) पाण्डव, संक्षिप्त रूप में (पाण्डु)—सुत, —पुत्र (ब्राउ.); (छ) प्राण (ब्राउ.); (ज) रत्न[410] (बेरू.) :

6=(क) रस (बख्शा., पिंग, वरा.; बेरू.); (ख) ऋतु (पिंग., वरा., बेरू.); (ग) अंग (वेदांग) (बेरू.); (घ) मासार्द्ध (बेरू.); (च) दर्शन

---

405. देखि. **पञ्चसिद्धान्तिका** 8, 6. यह अग्नि का पर्याय होगा क्योंकि देवों के होतृ-पुरोहित वही हैं ।

406. देखि. व्यो. रो., व्यो., इसी शब्द के अंतर्गत ।

407. युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ।

408. व्यो. रो., व्यो. भी इसी भाँति, इसी शब्द के अंतर्गत । संभवतः कृत शब्द **कृतादियुग** के लिए आया है ।

409. राम, लक्ष्मण आदि ।

410. देखि. आप्टे, **संस्कृत-डिक्शनरी**, इसी शब्द के अंतर्गत ।

आदि (ब्राउ.); (छ) राग (ब्राउ.); (ज) अरि (ब्राउ.); (झ) काय[411] (अभिलेख) ?

7=(क) ऋषि, मुनि (पिंग., वरा.) या अत्रि, इनमें प्रथम (ब्राउ.); (ख) स्वर (पिंग., वरा., ब्राउ.); (ग) अश्व (वरा., ब्राउ.); सूर्य के घोड़े (घ) अग आदि (वरा. बेरू., बर्ने.); (च) धातु शरीर के तत्त्व (ब्राउ.); (छ) छंदस (ब्राउ.); (ज) धी (बेरू.) ? (झ) कलत्र (ब्राउ.) ?

8=(क) अनुष्टुभ (पिंग ⊙); (ख) वसु (पिंग., वरा.) ; (ग) अहि आदि (बेरू., बर्ने.); (घ) गज--आठ दिशाओं के हाथी आदि (बेरू., बर्ने.; (च) मङ्गल, भूति (बेरू., ब्राउ.)[412]; (छ) सिद्धि (हस्त. ग्रंथ)।

9=(क) अंक (वरा., ब्राउ.); (ख) नंद (वरा., बेरू.); (ग) छि आदि (बेरू.); (घ) गो, ग्रह (बेरू. ब्राउ., बर्ने.); (च) निधि (बर्ने.); (छ) पवन (बेरू.) (?)।

10=दिशः आदि (पिंग., वरा., बर्ने); (ख) रावणशिरस् (बेरू.); (ग) अवतार (ब्राउ.); (घ) कर्मन् (बेरू.) दस गृह्य कर्म; (च) खेन्दु, (बेरू.) ख-- आकाश=0, इन्दु=1=10[413]।

11=(क) रुद्र (पिंग., वरा., बेरू.) या ईश, शिव आदि (वरा., बेरू.), एकादश रुद्रों में प्रथम; (ख, ग) अक्षौहिणी, लाभ (ब्राउ.) (?)।

12=(क) आदित्य, अर्क, आदि (पिंग., वरा., बेरू.); (ख) व्यय (ब्राउ.) (?)।

13=(क) विश्वेदेवाः, संक्षिप्त रूप में विश्व (वरा., बेरू.)[414], या काम जो उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है (ब्राउ.); (ख) अतिजगती (वरा.),—एक छंद जिसमें प्रत्येक पद में 13 वर्ण होते हैं; (ग) अघोष (जगडूचरित)[415] =अघोष व्यंजन।

14=(क) मनु (वरा., बेरू.); (ख) इन्द्र (वरा., बेरू.); (ग) लोक (ब्राउ.)।

15=(क) तिथि (वरा., बेरू.); (ख) अहन् (ब्राउ.); (ग) पक्ष (ब्राउ.) अर्थात् 15 दिन।

---

411. मिला. ए. इं. 324, पंक्ति 48.
412. मिला. **अष्टमङ्गल**।
413. देखि. कोनो, *Deutsche. Litt. Int.* 1897
414. मिला. एफ. ई. हाल, **विष्णुपुराण**, III, 192.
415. जि. बे, बी. आ. CXXVI, 5, 58

16=(क) अष्टि (वरा., बेरू.) एक छंद जिसमें प्रत्येक पद में 16 वर्ण होते हैं; (ख) भूप आदि (वरा.,बेरू.)[416]; (ग) कला (ब्राउ.) =चन्द्रमा की कलाएं।

17 से 19=अत्यष्टि (बेरू.), धृति, अतिधृति (वरा. बेरू.), ये छंद हैं जिनमें क्रमशः 17 से 19 वर्ण होते हैं।

20=(क) कृति (वरा., बेरू.), प्रत्येक पद में 20 वर्णों का एक छंद; (ख) नख (वरा., बेरू.)।

21=(क) उत्कृति (बेरू.);[417] (ख) स्वर्ग (ब्राउ.)।

22=जाति (ब्राउ.) (?)।

23=विकृति=प्रत्येक पद में 23 वर्णोंवाला एक छंद।

24=जिन (वरा., बेरू.)।

25=तत्त्व (बेरू.), सांख्य के सिद्धांत।

26=उत्कृति (वरा.), एक छंद जिसके प्रत्येंक पद में 26 वण होते हैं।

27=भसमूह (ज्यो.), नक्षत्र (ब्राउ.)।

32=दंत आदि (वरा., ब्राउ.)।

33=सुर अर्थात् देवता आदि।

40=नरक (वरा., **पञ्चसिद्धान्तिका**, 4, 6)।

49=तान (ब्राउ.)

ज्योतिष और बख्शाली हस्त. प्रति के गणित अंश में एक संख्या के लिए एक ही शब्द का प्रयोग मिलता है।

पिंगल और छंदशास्त्र के अन्य ग्रंथों में संख्यावाची शब्द (कभी-कभी सामान्य संख्याओं के साथ भी) प्रायः द्वन्द्व समास बनाते हैं जिनका विच्छेद 'वा' से करना चाहिए। जैसे **वेदर्तुसमुद्राः** का अर्थ 4 या 6 या 4 है।

वराहमिहिर तथा अन्य खगोल शास्त्रियों के ग्रंथों में हमें शब्द संख्याओं वाले (चाहे स्वतंत्र शब्द हों या संख्याओं के साथ) इससे भी लंबे द्वन्द्व समास मिलते हैं, जिनका विच्छेद 'और' लगाकर करते हैं। इन्हें दाएं से बाएं को पढ़ने से अभीष्ट संख्या प्राप्त होती है।[418] जैसे, **पञ्चसिद्धान्तिका**, 4, 44 में :

---

416. **महाभारत** VII, 65-71 के **षोलशराजकीय** पर्व में वर्णित।

417. संभव है : प्रकृति के लिए गलती से लिखा गया है, प्रकृति छंद के प्रत्येक पद में 24 वर्ण होते हैं।

418. वर्नेल के मतानुसार कतिपय आधुनिक अभिलेखों में संख्यांक उसी प्रकार लिखे जाते हैं जैसे दाशमिक संख्याएं।

0 0 4 4 1
ख—ख—वेद—समुद्र—शीतरश्मयः = 14400 और वही 9. 9 में :
खखाष्टियमाः में–

0 0 16 2
ख—ख—आष्टि—यमा-: = 21600

ऐसे द्वन्द्व समासों में दाशमिक संख्यांक प्रणाली पूर्वाधिष्टित है। ऐसे समास अभिलेखों की तिथियों में भी मिलते हैं। इस ढंग से अभिव्यक्त तिथियाँ 7वीं शती के कंबोज और चंपा के अभिलेखों में भी मिलती हैं।[419] जावा में ये आठवीं शती में मिलती हैं।[420] किसी भारतीय प्रलेख में ऐसे लेखन का चिह्न इसी समय के आसपास के चिकाकोल ताम्रपट्ट में मिलता है जिसका उल्लेख पृष्ठ 160 पर किया जा चुका है। इस लेख में लोक का संक्षिप्त रूप लो = 3 है। इसके बाद के 813 ई. के कड़ब पट्ट[421] और सन् 842 ई. का घोलपुर का प्रस्तर अभिलेख है।[422] इनमें तिथियां शब्द-संख्याओं में दी हैं। इसकी अगली शती के सन् 945 ई. के पूर्वी चालुक्य अम्म द्वितीय के पट्ट हैं।[423] इसके बाद तो अभिलेखीय उदाहरण और प्रचुर हो जाते हैं। जैनों की ताड़पत्रों की प्राचीन पोथियों[424] और कागज के हस्तलिखित ग्रंथों में इनके बहुत-से उदाहरण मिलेंगे। ऐसी विधि के प्रयोग का कारण क्लर्कों और लिपिकारों की आत्म-प्रदर्शन की भावना है जो यह दिखलाना चाहते थे कि वे ज्योतिषियों और खगोल शास्त्रियों की प्रणालियों से परिचित हैं। इसका एक दूसरा कारण श्लोकों में तिथियों का उल्लेख भी है।

आ. अक्षरों से संख्यांकों का द्योतन

संख्यांकों के प्रकट करने की दो और प्रणालियों का उल्लेख शेष है। पुरालिपि की दृष्टि से ये प्रणालियां भी महत्त्वहीन नहीं हैं। बर्नेलके मत से ये दोनों

---

419. बार्थ, इंस्कि. संस्कृ. डू, कंबोज, सं. 5 तथा आगे; वर्गेग्ने-बार्थ, इंस्कि. संस्कृ. डे चंपा, एट डू कम्बोज सं. 22 तथा आगे।

420. इं ऐ. XXI, 48, सं. 2.

421. इं. ऐ. XII, 11; फ्लीट ने इन्हें संदेहास्पद बतलाया है, देखि. **कनरीज डाइनेस्टीज, बॉम्बे गजेटियर** 1, II, 399, टिप्पणी सं. 7.

422. त्सा. डे. मी. गे. XL, 42, छंद 23; इस ओर कीलहार्न ने ध्यान दिलाया है।

423. इं. ऐ. VII, 18.

424. कीलहार्न, **रिपोर्ट**, 1880-81, सं. 58, पीटरसन, **थर्ड रिपोर्ट**, परिशिष्ट I, सं. 187. 6, 251, 253, 256, 270 आदि।

प्रणालियाँ दक्षिण-भारतीय हैं। इन दोनों प्रणालियों में ध्वन्यात्मक दृष्टि से विन्यस्त अक्षरों का प्रयोग होता है। पहली प्रणाली[425] में केवल हलन्त व्यंजनों का ही महत्त्व है। इनका संख्यांकों में मूल्य निम्नलिखित है।

क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् = 1 2 3 4 5 6 7 8 9 0
ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् = 1 2 3 4 5 6 7 8 9 0
प् फ् ब् भ् म् ... ... = 1 2 3 4 5
य् र् ल् व् श् ष् स् ह् ळ्... = 1 2 3 4 5 6 7 8 9

व्यंजनों का इस्तेमाल स्वतंत्र रूप से नहीं होता। इनका इस्तेमाल तिथि-पत्रों के निर्माण में होता है जिनमें स्वर और संयुक्त व्यंजन भी होते हैं। इनमें अंतिम का ही संख्यात्मक मूल्य होता है। इन तिथि-पत्रों से जो अंक मिलते हैं उनमें इकाइयाँ हमेशा बाईं ओर रहती हैं और पूरी संख्या को घुमाना पड़ता है। इस लेखन प्रणाली का एक मनोरंजक उदाहरण **सर्वानुक्रमणी** की षड् गुरुशिष्य टीका के अंत में मिलता है जो संभवतः इसका सबसे प्राचीन उदाहरण है। (मैकडोनेल, पृष्ठ 168)। कील हार्न का इस तिथि-लेख का संशोधन भी निश्चय ही ठीक है। तिथि लेख निम्नलिखित है :[426]

2 3 1 565 1

खगो = न्त्यान = मेषम् = आप

लेखक के मत से ही इसका मूल्य 1565132 है। इसके ही अनुसार यह संख्या उतने दिनों की है जितने कलियुग के प्रारंभ से अब तक बीत चुके हैं। इसी संख्या से हमें 24 मार्च 1184 की वासंतिक विषुव तिथि प्राप्त होती है जिस दिन ग्रंथ पूरा हुआ था। तिथि-लेख के शाब्दिक अर्थ से भी यही विषुव तिथि प्राप्त होती है : "अंतिम (राशि) से सूर्य मेष राशि में पहुँचा"।

दूसरी प्रणाली जिस पर अब विचार करना है[427] अभी तक लंका, स्याम और बर्मा में हस्तलिखित ग्रंथों के पृष्ठांकन में काम में आती है। बर्नेल के मत से पहले दक्षिण भारत में भी इसका प्रचलन था। इसमें ब्राह्मणों की **बाराखड़ी** (देखि. ऊपर पृष्ठ 6) का इस्तेमाल होता है। बर्नेल के मत से क से ळ तक अक्षर 1 से 34 के बराबर हैं और इसी प्रकार का से ळा तक 35 से 68; कि

---

425. मिला. ब, ए. सा. इं. पै., 79; वे., इं. स्ट्रा. VIII, 160; इं. ऐ. IV, 207.

426. इं. ऐ. XXI, 49, सं. 4.

427. ब., ए. सा. इं. पै. 80.

से ळि 69 से 102 के बराबर हैं। इसी प्रकार आगे भी गिनती होती है। किन्तु बर्मा के वियनी राजपुस्तकालय की पालि के हस्तलिखित ग्रंथों में मुझे क से कः तक=1 से 12; **ख** से **खः** तक=13 से 24 और इसी प्रकार आगे भी मिला। लंका की बाराखड़ी में ऋ, **ॠ**, ऌ और **ॡ** भी हैं। वहां **क** से **कः** तक=1 से 16 के बराबर और **ख** से **खः** तक 17 से 32 के बराबर होता है। और इसी प्रकार आगे भी गिनती होती है। इससे अक्षरों के मूल्य बदल जाते हैं।[428] फासबोल ने मुझे यह सूचना देने की कृपा की है कि पालि के हस्तलिखित ग्रंथों में जिनका पता उन्हें है केवल अंतिम दो प्रणालियाँ ही प्रचलित हैं। (बर्नेल द्वारा उल्लिखित प्रणाली नहीं मिलती।) उनका यह भी कहना है कि सारी **बाराखड़ी** समाप्त हो जाने पर लंका की पोथियों में 2 **क**, 2 **ख** से गणना होती है। और यह कि **स्यामी** पोथियों के पृष्ठांकन की प्रणाली वही है जो बर्मा के ग्रंथों की है।

---

428. मिला. **गुरुपूजाकौमुदी**, 110.

VII. अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रन्थों का बाह्य विन्यास

36. पंक्तियां, शब्दसमूह, विरामादि चिह्नांकन और अन्य बातें

अ. पंक्तियां

पत्थरों को चिकना कर खोदे गये प्राचीनतम अभिलेखों में भी हिन्दुओं ने सिलसिले से सीधी पंक्तियाँ बनाने और मात्रिकाओं के ऊपरी सिरों को बराबर ऊँचाई पर रखने की कोशिश की है। अशोक के कारीगरों को स्तंभलेखों और गिरनार, धौली और जौगड़ में भी ऐसे क्रमबद्ध शब्दों में जो अधिकांश में एक ही समूह के हैं पंक्ति बनाने में बहुत कम सफलता मिली है। (दे. आगे आ) किंतु उसी काल के अन्य प्रलेखों में जैसे घसुंडी प्रस्तर अभिलेख में बाद में[129] प्रचलित साधु सिद्धांत का अधिक सतर्कता से प्रयोग मिलता है जिसके मुताबिक स्वरचिह्न, रेफ और ऐसे ही जोड़ ऊपरी पंक्ति से बाहर निकल आ सकते हैं। यह नियमबद्धता संभवतः ऊपरी पंक्ति को खड़िया से निशान लगाकर बना लेने से संभव हुई। यह प्रक्रिया भारत में अभी तक प्रचलित है। हो सकता है इसके लिए कोई दूसरी यांत्रिक प्रक्रिया भी काम में लायी गयी हो।

हस्तलिखित ग्रंथों में पंक्तियाँ सीधी और समानांतर हैं। पुराने से पुराने ग्रंथों, जैसे खोतन के **धम्मपद** में भी ऐसा ही मिलता है। ये पंक्तियाँ संभवतः किसी रूलर की सहायता से बनायी गयी हैं (दे. आगे **37**, औ)। ताड़पत्रों पर लिखे प्राचीन ग्रंथों में और बाद के अनेक उन ग्रंथों में जो कागज पर लिखे गये हैं पंक्तियों के अंत को दिखलाने के लिए दो खड़ी लकीरें पन्ने के ऊपर से नीचे तक खींच दी गई हैं। हस्तलिखित ग्रंथां में पक्तियाँ आड़े बनायी जाती हैं और सिरे-से निचले भाग तक रहती हैं। अधिकांश अभिलेखों में भी ऐसा ही होता है। किंतु कुछ अभिलेख ऐसे भी हैं जिन्हें नीचे से पढ़ना पड़ता है।[430]

---

429. पश्चिमी गुफाओं, अमरावती, मथुरा आदि से मिले अभिलेखों में ऐसा ही होता है। मिला. ब., आ. स. रि. वे. इं. जिल्द IV, और V; **वही**, जिल्द I; ए. इं. II, 195 और दूसरी प्रतिकृतियों से।

430. बी. त्सा. कु. मो. V, पृ. 230 तथा आगे। इस माला में स्वात से हाल ही में प्राप्त एक अभिलेख और जुट जाएगा।

कभी-कभी सिक्कों पर पंक्तियाँ खड़े बल मिलती हैं विशेषकर कुषानों और गुप्तों के सिक्कों पर।[431] संभवतः इसकी वजह स्थान की कमी रही होगी।

आ. शब्द-समूह

आधुनिक काल में लिखने का तरीका यह है कि जब तक बात, छंद, या छंद का पद खत्म न हो पंक्ति के अखीर तक लिखते चले जाते हैं। प्राचीन काल में भी यही परंपरा थी। पर इसके अलावा पुराने से पुराने प्रलेखों में, जैसे अशोक के कतिपय आदेश लेखों में[432] ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं, जहाँ एक ही वर्ग के शब्द या शब्द-समूह तोड़ दिये गये हैं। ऐसा भाव की दृष्टि से किया गया है या लिपिक के पढ़ने के ढंग की वजह से। आंध्रों और नासिक के पश्चिमी क्षत्रपों के कतिपय गद्य अभिलेखों में ऐसे ही शब्द-समूह मिलते हैं। मिला. अभिलेख सं. 5, 11 A, B और 13। बाद के छंदोबद्ध अभिलेख अधिक सतर्कता से लिखे गये हैं। इनमें पदों के बीच में प्रायः खाली जगह[433] छोड़ दी गयी है। प्रत्येक पंक्ति में छंदार्ध या पूरा छंद ही लिखा गया है।[434]

इसी प्रकार खोतन के खरोष्ठी **धम्मपद** में प्रत्येक पंक्ति में एक गाथा लिखी गयी है और पादों को अलग करने के लिए रिक्त स्थान छोड़ दिया गया है। दूसरे प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में; जैसे बावर की प्रति में शब्द और शब्द-समूह प्रायः, अलग-अलग लिखे गये हैं। स्पष्ट ही इसके पीछे कोई सिद्धांत न था।

अभिलेखों में मङ्गल, विशेषकर जब इसके लिए केवल **सिद्धम्** शब्द ही लिखते थे, अकेले ही हाशिये में रहता है।[435]

इ. विरामादि चिह्न[436]

खरोष्ठी के अभिलेखों में विरामादि चिह्नों का इस्तेमाल नहीं होता। किन्तु

---

431. ज. रा. ए. सो. 1889, फल. I; न्यू. क्रानि. 1893, फल. 8-10.

432. स्तंभ लेखों में (प्रयाग को छोड़कर), कालसी आदेशलेख सं. I-XI (देखि. ए. इं. II, 524 में प्रतिकृति) और निग्लीव और पड़ेरिया में।

433. मिला. उदाहरणार्थ फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 50, फल. 31. B; अजंटा सं. 4; घटोत्कच अभिलेख आदि की प्रतिकृतियों से।

434. उदाहरणार्थ फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 1. 2, 6, फल. 4 A और 10 फल. 5. की प्रतिकृतियों से मिला.

435. **वही** सं. 6, फल. 4 A, और 15, फल. 9 A

436. मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 82, § 3.

खोतन के धम्मपद में प्रत्येक गाथा के अंत में एक गोल चिह्न, प्रायः लापरवाही से बनाते हैं। यह चिह्न आधुनिक शून्य से मिलता है।[437] प्रत्येक वग्ग के अंत में एक ऐसा चिह्न मिलता है जो विभिन्न अभिलेखों, जैसे फ्ली. गु. इ. (का. इ. इं. III), सं. 71, फलक 41 A के अंत में मिलता है। संभवतः यह कमल का प्रतीक है।

ब्राह्मी में शुरू से ही विरामादि चिह्न मिलते हैं। ये चिह्न निम्नलिखित हैं :

1. अशोक के आदेश-लेखों में[438] शब्द या शब्द-समूहों को पृथक् करने के लिए (बे-सिलसिले और कभी-कभी गलत ढंग से) एक दंड बनता है। बाद में यही चिह्न गद्य को पद्य से पृथक् करने[439] या वाक्यांश[440] वाक्य[441], पद[442] या छंद[443] के अंत में आता है। कभी-कभी प्रलेख की समाप्ति का सूचक होकर भी यह चिह्न लगता है।[444] पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों में[445] दंड के सिरे पर एक आड़ा डंडा भी बनता है। तब इस चिह्न का रूप ⸆ हो जाता है।

2. जुनार अभिलेख सं. 24-29 में अंकों और एक बार तो दाता के नाम के बाद भी दो खड़ी लकीरें ॥ मिलती हैं। बाद में वाक्यों[446], पदों[447], छंदों[448],

---

437. ओल्डेनबर्ग, *Predvaritelnā Zamjetkao Buddhiiskoi rukopisi, napisannoi pismenami Kharoṣṭhī*, St. Petersburg, 1897 की प्रतिकृति से मिला.

438. कालसी आदेशलेख XII-XIII, 1; साहसाराम.

439. देखि. उदाहरणार्थ प्रतिकृति, फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 21, पंक्ति 16.

440–441. देखि. उदाहरणार्थ प्रतिकृति वही. सं. 80, फल. 44.

442. ,, वही. सं. 42 फल. फल. 28.

443. ,, ,, सं. 38, फल. 24, पंक्ति 35.

444. ,, ,, सं. 19, फल. 12 A.

445. ,, ,, इं. ऐ. XII, 92; XIII, 213.

446. ,, ,, अमरावती सं. 28; इं. ऐ. VI, 23, 1, 9, (काकुत्स्थ वर्मन का ताम्रपट्ट).

447. ,, ,, फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), सं. 17, फल. 10.

448. ,, ,, सं. 17 फल. 10; और 18, फल 11.

वृहत् गद्य खंडों और प्रलेखों[449] के अंत में यही चिह्न आता है। 5वीं शती से पहली लकीर के सिरे पर एक हुक लग जाता है। इस प्रकार यह चिह्न हो जाता है ｢[450]। या दोनों लकीरों में ऐसे जोड़ लगते हैं, जैसे [451]। एक या दोनों लकीरों के नीचे भंग या हुक लगते हैं।[452] 8वीं शती के अंत से बाईं ओर पहली लकीर के मध्य में एक डंडा लगता है। फिर चिह्न हो जाता है।[453] पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों में डंडे लकीरों के सिरों पर लगते हैं, जैसे । कलिंग के एक अभिलेख में चिह्न मिलता है[454]।

3. तीन लकीरें बनाना कभी-कभी अभिलेख की समाप्ति का सूचक होता है।[455]

4. अशोक के धौली और जौगड़ के आदेशलेखों में लेख का अंत बतलाने के लिए अंतिम पंक्ति के प्रथम चिह्न के नीचे बाईं ओर एक छोटी-सी आड़ी लकीर बनी है। ई. पू. दूसरी शती से[456] ईसा की 7वीं शती तक यह चिह्न जो बहुधा भंग रूप में मिलता है या इसके एक किनारे हुक होता है, खड़ी लकीर का काम करता है।[457]

5. दो खड़ी लकीरों के स्थान पर पहली से आठवीं शती तक दो आड़ी

---

449. देखि. उदाह. प्रतिकृति **वही**. सं. 26, फल. 16, 1. 24; सं. 33, फल. 21B, 1, 9.

450. ,, ,, ,, **वही** सं. 17, फल. 10, 1. 32, 1. 38; सं. 35, फल. 22, अंतिम पंक्ति; बावर की प्रति में सर्वत्र,

451. ,, ,, ,, नेपाल अभिलेख, सं. 4, इं. ऐ. IX, 168, अंतिम पंक्ति.

452. ,, ,, ,, इं. ऐ. IX, 100, अंतिम पंक्ति.

453. ,, ,, ,, इं. ऐ. XII, 202, I, 1 के आगे; XIII, 68

454. देखिए ए. इं. III, 128, अंतिम पंक्ति

455. ,, ,, इं. ऐ. VII, 79.

456. नानाघाट अभिलेख, व, आ. स. रि. वे. इं. 5, फल. 5I. पंक्ति 6 में **वनो** के उपरांत।

457. देखि. उदाहरणार्थ, प्रतिकृति, नासिक सं. 11 A, B, में **सिद्धम** और **सिद्ध** के उपरांत; फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 1, अंत में, सं. 3, फल. 2B, 9, फल. 4 D, और 10 फल. 5

लकीरें मिलती हैं जो प्रायः झुकी रहती हैं।[458] कुषान अभिलेखों और उनके बाद के कुछ अभिलेखों में इसके बदले दो बिंदियाँ मिलती हैं[459] जो हूबहू विसर्ग की भाँति दीखती हैं।

6. कभी-कभी अभिलेख के अंत की सूचना देने के लिए दो खड़ी लकीरों के बाद एक आड़ी लकीर मिलती है।[460]

7. एक अर्ध चन्द्राकार चिह्न ↄ अशोक के कालसी के आदेशलेखों में (सं. I-XI) अंत को प्रकट करता है।

8. कुषान अभिलेखों में दो बार मङ्गल **सिद्धम्** के बाद एक अर्ध चन्द्राकार चिह्न है जिसके बीच में एक डंडा मिलता है जैसे -ↄ।[461]

अलावा, कभी-कभी छंदों के अंत में अंक ही उनके अंत के द्योतक होते हैं, जैसे फ्ली. गु. इ. (का. इ. इं. III) सं. 1, 2 और इसी प्रकार मङ्गल प्रतीक (दे. आगे ई) अभिलेखों या प्रकरणों के अंत में, विशेषकर हस्तलिखित ग्रंथों में जैसे बावर की प्रति में, मिलते हैं।

अंत में, अशोक के गिरनार के आदेश लेख और जौगड़ और धौली के पृथक् आदेश लेखों में उनके चारों ओर के फ्रेम की ओर ध्यान आकर्षित करना जरूरी है।

अभिलेखों से भारतीय विरामादि चिह्नों के इतिहास पर जो कुछ प्रकाश पड़ता है उसे संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से कह सकते हैं। प्राचीन काल में ईसाई सन् के प्रारंभ तक एक लकीर सीधी या सभंग ही इस्तेमाल में आती थी। इसका प्रयोग भी बहुत कम होता था। ईस्वी सन् के प्रारंभ के बाद से हमें और अधिक जटिल चिह्न मिलने लगते हैं। किन्तु 5वीं शती तक इनका इस्तेमाल अनियमित

---

458. देखि. उदाहरणार्थ, प्रतिकृति, ए. इं. I, 389, सं. 14; फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 3 फल. 2 B, 40, फल. 26, 41, फल. 27, और 55, फल. 34; इं. ऐ. VI, 17 (**आददीता** के उपरांत).

459. ए. इं. I, 395, सं. 28, 29 (**दानम्** के उपरांत); फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 38, फल. 24, 1, 35; सं. 55, फल. 34 (अंत में); इं. ऐ. V, 209 (अंत में), इन अभिलेखों में और अन्यत्र भी इस चिह्न को गलती से विसर्ग के रूप में पढ़ा गया है।

460. देखि. उदाहरणार्थ, प्रतिकृति, इं. ऐ. VI, 76; ए. इं. III, 260.

461. ए. इं. II; 212, सं. 42, और टिप्पणी.

ही रहता है। इसके बाद तो विशेषकर पत्थरों पर खुदी प्रशस्तियों में हमें विरामादि चिह्न अधिक नियमित रूप में मिलते हैं। सन् 473-74 की मंदसोर प्रशस्ति में फ्ली. गु., इ., (का. इं. इं. 3) सं. 18, फल. 11 में सबसे पहले उस सिद्धान्त का प्रमाण मिलता है जिसमें प्रत्येक पद के के अंत में एक और छंद के अंत में दो लकीरें लगती हैं। यही पद्धति आज तक चली आती है। किन्तु 8वीं शती तक के अनेक ताम्र पट्ट और प्रस्तर अभिलेख विशेषकर दक्षिण भारत में प्राप्त, ऐसे मिलते हैं जिनमें कि विरामादि चिह्न का प्रयोग नहीं हुआ है।[462] इस पद्धति का करीने से विकास हिंदू आचार्यों ने किया। सरकारी दफ्तरों में विरामादि चिह्न कभी पसंद नहीं किये गये। यदि एक ही काल के एक ही राजवंश के विभिन्न प्रलेखों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो विदित होगा कि विरामादि चिह्नों का प्रयोग शासनों के काल पर नहीं अपितु लेखकों की निजी प्रकृति, उनके पांडित्य और उनकी सतर्कता की सीमा पर निर्भर है।

इ. मङ्गल और अलंकरण

ब्राह्मण परंपरा में किसी कृति के आदि, मध्य और अंत में उसकी सफल पूर्णाहुति और रक्षण के लिए मङ्गल रखने का विधान है। मंगल लोक के रूप में हो सकता है या शब्द या प्रतीक चिह्न के रूप में भी। अशोक के दो आदेश-लेखों[463] और उसके बाद की चार शतियों के सभी अभिलेखों[464] के आदि, मध्य, और अंत में मङ्गल चिह्न मिलते हैं। स्वस्तिक, या धर्मचक्र पर त्रिरत्न, और चैत्य वृक्ष का चिह्न इस कार्य के लिए सर्वाधिक प्रचलित थे।[465] इनके

---

462. उदाहरणार्थ देखिए प्रतिकृति, इं. ऐ. VI, 88; VII, 163; VIII, 23; X, 62-64, 164-171.

463. जौगड के पृथक आदेश लेखों की प्रतिकृति देखिए।

464. उदाहरणार्थ देखि. सोहगौरा फलक की प्रतिकृति भाजा सं. 2, 3, 7; कुड़ा सं. 1, 6, 11, 15, 16, 20, 22, 24, 25; महाड; बेडसा सं. 3; कार्ले सं. 1-3, 5, 20; जुन्नार सं. 2-15, 17, 19; नासिक सं. 1, 11, A, B, 14, 21, 24; कण्हेरी सं. 2, 12, 3; ए. इं. II, 368, स्तूप 1. सं. 358 और भगवानलाल, **छठीं ओरियंटल कॉंग्रेस**, III, 2, 136 की प्रतिकृतियां।

465. इन चिह्नों के असांप्रदायिक राष्ट्रीय स्वरूप के लिए देखि. भगवानलाल, **वही**; और ए. इं, II, 312.

अतिरिक्त दूसरे प्रतीक भी मिलते हैं जिनके नाम अभी तक अज्ञात हैं। एक बार तो स्वस्तिक का चिह्न **सिद्धम्** के बाद भी मिला है।[466]

बाद में मङ्गल चिह्नों के रूपों में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। कुछ प्रतीक तो वृहद् प्रकरणों के अंत में मिलते हैं और कुछ प्रलेख या ग्रंथ के अंत में। ऐसा ही एक सर्वाधिक प्रचलित चिह्न वह है जिसमें वृत्त और उसके भीतर एक उससे छोटा वृत्त या एक या एकाधिक बिंदियाँ मिलती हैं।[467] यह धर्म-चक्र का प्रतीक हो सकता है जो फ्लीट के गु. इ. (का. इ. इं. III) सं. 63, फल. 39A पर स्पष्ट दीखता है। यह कमल का भी प्रतीक हो सकता है। यह प्रतीक भी अभिलेखों में मिलता है। यतः वृत्त के केन्द्र में बिंदी ⊙ से प्राचीन **थ** अक्षर बनता था, अतः इस प्रतीक के स्थान पर **थ** अक्षर से मिलते-जुलते चिह्न भी बाद में मिलते हैं।[468] आधुनिक हस्तलिखित ग्रंथों में **छ** अक्षर भी मिलता है जो मध्य-काल के **थ** के अनेक रूपों में एक है पर आज कल इसे **छ** पढ़ते हैं।

पाँचवीं शती से हमें नये चिह्न भी मिलने लगते हैं। ये **ओम्** के प्राचीन **ओ** के अति अलंकृत रूप हैं। (फल. IV, 6, XVIII, फल. V, 47, IX) ओम् को महामङ्गल माना जाता है। ये चिह्न अभिलेखों के आदि और अंत में और कभी-कभी ताम्र-पट्टों के हाशियों पर भी मिलते हैं।[469]

---

466. नासिक सं. 6.

467. देखि. उदाहरणार्थ, बावर की प्रति, खंड 1, फल. 3, 5; खंड 2, फल. 1 तथा आगे; प्रतिकृतियाँ इं. ऐ. VI, 17; IX, 168, सं. 4; XVII, 310; XIX, 58; ए.इं. I, 10 पर हैं। सियाडोणी अभिलेख में विष्णु का कौस्तुभ बारंबार आया है, ए. इं. I, 173; मिला. ए. इं. II, 124.

468. देखि. उदाहरणार्थ प्रतिकृतियों फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 71 (अंत में); इ. एं. VI, 67, फल. 2, पंक्ति 1 (इसे गलती से 20 पढ़ा गया है); इ. ऐ. VI, 192, फल. 29, पंक्ति 10; ए. इं. I, 77 (अंत में); III, 273, पंक्ति 39; III, 306. वेरावल प्रतिमा अभिलेख (अंत में)

469. देखिए उदाहरणार्थ प्रतिकृतियाँ फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 11 फल. 6A (टिप्पणी 197 भी), 20, फल. 12 B, 26, फल. 16, आदि; इं. ऐ. VI, 32 (पांच बार), ए. इं. III, 52 (अंत में); बावर की प्रति खंड 1, फल. 1; मिला. बेरूनी, **इंडिया**; 173 (सचाऊ)।

प्रस्तर अभिलेखों के साथ बहुत-सी मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। ये भी मङ्गल प्रतीक ही है । भगवानलाल जी के नेपाल अभिलेखों[470] में ऐसे अनेक चिह्न उकेरे हुए हैं। इनमें शंख (सं. 3), कमल (सं. 5, 10), नंदी (सं. 7, 12), मीन (सं. 9), सूर्य-चक्र और तारक (सं. 10) प्रमुख हैं। सं. 15 का अभिलेख रजत-कमल के दान को लिपिबद्ध करता है। इस अभिलेख के साथ एक कमल का चिह्न भी उकेरा गया है। संभवतः यह चिह्न दान वाले कमल का ही प्रतीक है। दान-लेखों में बहुधा दान के 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' सुरक्षित रहने की कामना का वर्णन आता है। सं. 10 के सूर्य-चक्र और तारक सूर्य और चन्द्र के प्रतीक हो सकते हैं।

अभिलेखों में उनकी अंतर्वस्तु, और कामनाओं के प्रतीक रूप में चित्रण के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं।[471] पर ताम्रपट्टों में अनुरूप उत्खचन इससे कम प्रचलित हैं। साथ ही पृथक मुद्रा के स्थान पर कभी-कभी ताम्रपट्टों पर उनके नीचे या कभी-कभी लेख की बगल में राजा का कुल-चिह्न (वंश-लांछन) मिलता है। प्रस्तर अभिलेखों में भी यही युगत मिलती है।[472] हस्तलिखित ग्रंथों में नेपाल के बौद्ध और गुजरात के जैनों के ग्रंथ खूब अलंकृत और चित्रों से भरे होते हैं।[473] ब्राह्मण ग्रंथों में चित्रण के उदाहरण भी कम नहीं।

उ. भूल-सुधार, छूटें और संक्षिप्तियां[474]

अशोक के आदेश लेखों में (उदा. कालसी आदेश लेख XII, पं. 31) गलत

470. इं. ऐ. I, 163.

471. दान की अवधि के बारे में कामना सूर्य और चंद्र के प्रतिरूप बनाकर प्रकट करते हैं।

472. उदाहरणार्थ देखि. ब., आ.स.रि.वे.इं.सं. 10, 'गुफा मंदिर अभिलेख', प्रतिकृति पृ. 101 पर और कीलहार्न की टिप्पणी, ए. इं. III, 307; इं. ऐ. VI, 49, 192, ए. इं. III, 14 की प्रतिकृतियों में लांछन मिलते हैं।

473. उदाहरणार्थ देखि. वेबर, *Verzeichn. d. Berlin Sansk. und Prāk. Hdschriften.* II, 3 फल. 2; **पाँचवीं ओरियंटल कांग्रेस,** II, 2, 189, फल. 2; Pal, *Soc. Or. Ser.* फल. 18, 31; राजेन्द्रलाल मित्र, **नोटिसेज आफ संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स** III, फल. I; मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 82, § 4 से भी।

474. मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 83, §5.

अंशों को रेखांकित कर देते हैं। बाद में, लेखन-त्रुटि को दिखाने के लिए पंक्ति के ऊपर या नीचे बिंदियां या छोटी लकीरें बना देते थे। हस्तलिखित ग्रंथों में भी यही विधि अपनाई गई है। इनमें बाद में जिस अंश को निकालना होता था उसे हल्दी या किसी पीली लेई से ढक देते थे। ताम्रपट्टों पर यह अंश हथोड़े से पीट-कर मिटा देते थे और उस स्थान को चिकना बना कर उस पर सही इबारत खोद देते थे। ऐसे भी ताम्रपट्ट हैं जिन पर सारी इबारत मिटाकर फिर से लेख खोदा गया है।[475]

अशोक के आदेश-लेखों और अन्य प्राचीन अभिलेखों में भूल से छूटे अक्षर या शब्द पंक्ति के ऊपर या नीचे बनाये गये हैं। इनमें इस बात का ध्यान नहीं कि जहाँ छूट हो वहीं इन्हें लिखा जाय।[476] कभी-कभी तो छूटा हुआ अक्षर दो अक्षरों के बीच के थोड़े से स्थान में ही बना दिया गया है। बाद के अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रंथों में जहाँ छूट होती थी वहाँ एक खड़ा या झुका हुआ क्रास बना दिया गया है जिसे **काकपद** या **हंसपद** कहते थे। फिर छूटा हुआ अक्षर या शब्द हाशिये में[477] या पंक्तियों के बीच में ही बना दिया गया है।

कभी-कभी **काकपद** या **हंसपद** के स्थान पर स्वस्तिक भी मिलता है।[478] दक्षिण भारतीय हस्तलिखित ग्रथों में **हंसपद** का इस्तेमाल सभाष्य सूत्रों में अभीप्सित छूट दिखलाने के लिए भी हुआ है।[479] दूसरे स्थानों पर अभीप्सित छूट के लिए या जहाँ मूल प्रति में दोष था वहाँ स्थान छोड़ देते थे। ऐसी छूटों के लिए पंक्ति पर बिंदु बना देते थे या उसके ऊपर नन्हीं रेखाएं खींच देते थे।[480] आधुनिक काल में आद्य **अ** का लोप कर देते हैं। इसे अवग्रह कहते हैं। इसका

---

475. इं. ऐ. VII, 251 (सं. 47); XIII, 84, टिप्पणी सं. 23; ए. इं. III, 41 टिप्पणी 6.

476. उदाहरणार्थ देखि. कालसी आदेशलेख XIII, 2, पंक्ति 11; बाद में इसी तरह का दृष्टांत ए. इं. III, 314, पंक्ति 5 पर मिलेगा।

477. देखि. उदाहरणार्थ प्रतिकृतियाँ, ए. इं. III, 52, फल. 2, पंक्ति 1; ए. इं. III, 276, पंक्ति 11.

478. प्रतिकृति, इं. ए. VI, 32, फल. 3.

479. **आपस्तंब धर्मसूत्र**, 2. 2 (10).

480. उदाहरणार्थ मिला. इं. ऐ. VI, 19, टिप्पणी पंक्ति 33; 20, टिप्पणी, पं. 11; कश्मीर की हस्तलिखित पुस्तकों में पर्याप्त सामान्य है।

पहला उदाहरण राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के सन् 834-35 के बड़ोदा ताम्रपट्ट में मिलता है।[481] अस्पष्ट अंश बताने के लिए कुंडल या स्वस्तिक बनाते थे; देखि. **कश्मीर रिपोर्ट**, 71, और कीलहार्न, **महाभाष्य** 2, 10, टिप्पणी।

पश्चिमी भारत में संक्षिप्तियों का सबसे पुराना प्रमाण आंध्र-राजा सिरि पुळमायि के एक अभिलेख में (नासिक, सं. 15) जिसकी तिथि लग. 150 ई. है और उसके प्रायः समकालिक सिरिसेन या शकसेन माढरीपुत के अभिलेख (कण्हेरी, सं. 14) में मिला है। उत्तर-पश्चिम के कुषानकालीन अभिलेखों में ऐसी संक्षिप्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इनके सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण हैं: **संव, सव, सं** और **स=संवत्सर**; **ग्रि, गृ** या **गि=ग्रीष्माः** या **गिम्हानं**; **व=वर्षाः**; **हे=हेमन्तः**; **प=पखे**; और **दिव** या **दि=दिवस**। ये तभी मिलती हैं जब तिथियाँ अंकों में दी जाती हैं। इस प्रसंग में ये बाद के अभिलेखों में ही नहीं अपितु आज भी प्रयोग में आती हैं। किंतु उत्तर कालों में हमें **संवत्** के बाद वर्ष की संख्या फिर मास का नाम फिर पक्षनाम और तब **तिथि** मिलती है। **संवत्** कभी-कभी अंतर्वक्रित भी रहता है।[482] शुक्ल पक्ष की तिथि से पूर्व **शु** या **सु दि=**शुद्ध या **शुक्ल-पक्ष-दिन** या कश्मीर में **शु** या **सु ति** (**तिथि**) और कृष्ण पक्ष की तिथि से पूर्व **ब** या **व**, **दि=बहुल** या **बहुल-पक्ष** दिन या कश्मीर में **ब ति** मिलता है।

छठी शती से पश्चिम भारत के अभिलेखों में यत्र-तत्र दूसरे शब्दों की भी संक्षिप्तियाँ मिलने लगती है। जैसे **दूतक** के लिए **दू**, **द्वितीय** के लिए **द्वि**।[483]

बाद में, विशेषकर 11वीं शती से कबीलों, जातियों आदि के नामों की संक्षिप्तियाँ बहु-प्रचलित हो जाती हैं। हस्तलिखित ग्रंथों में तो संक्षिप्तियाँ अति प्राचीन समय से मिलती हैं। जैसे खोतान के **धम्मपद** (पेरिस वाले टुकड़े) में एक वग्ग के अंत में **गाथा 30** के लिए **ग 30** आया है,और बावर की प्रति के फल. II में **श्लोक** के लिए **श्लो.** और **पाद** के लिए **पा** प्रत्येक खंड के अंत में आता है। 12वीं शती के अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रंथों में नामों के साथ—तिथियों के

---

481. इं. ऐ. XIV, 196; मिला. फ्लीट, ए. इं. III, 329; और कीलहार्न, ए. इं. IV, 244, टि. 7.

482. कीलहार्न के एक पत्र के आधार पर।

483. इं. ऐ. VII, 73, फल. 2, पंक्ति 20; XIII, 84, पंक्ति 37, 40; XV, 340, पंक्ति 57.

नहीं---एक छोटा-सा वृत्त या बिंदु[484] मिलता है जिसका इस्तेमाल आज भी संक्षिप्तियों के प्रकट करने के लिए होता है, उदाहरणार्थ **ठ°** या **ठ. ठक्कर**। यही चिह्न प्राकृत के हस्तलिखित ग्रंथों में एक या अनेक ऐसे अक्षरों के लोप के लिए इस्तेमाल में आता है जिन्हें आसानी से पूरा किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, **अ°तभवं---अत्तभवं, दि°ठा = दिट्ठा**[485]।

उ. पृष्ठांकन

हिंदुओं में हस्तलिखित पोथियों में पत्रों की ही संख्या लिखने की परंपरा है। द्रविड़ प्रदेश में प्रत्येक पत्रे के पहले पृष्ठ पर यह संख्या लिखी जाती है जब कि भारत के अन्य भागों में पत्रे की संख्या दूसरे पृष्ठ (**साँकपृष्ठाः**)[486] पर देने की प्रथा है। यही नियम ताम्रपट्टों पर भी लागू है। ताम्रपट्टों पर कभी-कभी (पर बिरले ही) संख्या देते हैं।[487]

ऊ. मुद्राएं

धर्मशास्त्रों[488] के अनुसार सभी शासनों पर राजा की मुद्रा अवश्य होनी चाहिए। इसलिए अधिकांश दान-पत्रों को पट्ट के साथ ही वेल्डिंग करके या उसके छल्लों के साथ या उनसे कीलें लगाकर मुद्राएं लगी रहती हैं। इनमें राजा का कुल-चिह्न (प्रायः कोई जानवर या देवता की शक्ल) या ऐसे चिह्न के साथ लघु वा दीर्घ अभिलेख होता है जिसमें राजा का नाम या राज-वंश के आदि-पुरुष का नाम या उसका पूरा पितृ-वंश या कभी-कभी केवल एक अभिलेख होता है।[489]

---

484. देखि. उदाहरणार्थ इ.ऐ. VI, 194; सं. 4; ए. इं. 317, पंक्ति 9.

485. मिलाइए पण्डित, **मालविकाग्निमित्र**, II, 5 जो बर्नेल की भाँति दि° ठ = **दिठ्ठा** कहते हैं, देखि. पिशेल, *Nachr. Gött. Gel. Ges.*, 1873, 206.

486. इसके एक स्पष्ट अपवाद के लिए देखि. वी. त्सा. कु. मो. VII, 261.

487. मिला. उदाहरणार्थ, ब. ए. सा. इं. पै. फल. 24; ए. इं. I, 1; III, 156, 300 की प्रतिकृतियाँ।

488. जॉली, *Recht und Sitte*, Grundriss, II, 8, 114

489. मिला. उदाहरणार्थ ब. ए. सा. इ. पै. 16 की मुद्राएं और ए. इं. III, 104; IV, 244; और फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) फल. 30, 32, 33, 37, 43.

VIII. लेखन-सामग्री, पुस्तकालय और लिपिक

37 लेखन-सामग्री[490]

अ. भूर्ज-पत्र (भोज पत्र)

भूर्जपत्र भूर्ज नामक वृक्ष की भीतरी छाल है जो हिमालय में बहुतायत से होता है। क्यू. कर्टिस ने इशारा किया है (दे. अन्यत्र पृष्ठ 12) कि यह सिकंदर के हमले के समय हिंदुओं द्वारा लेखन-सामग्री के रूप में इस्तेमाल में आता था। बाद में उत्तरी बौद्ध और ब्राह्मणों के संस्कृत ग्रंथों में इसके लेखन-सामग्री के रूप में इस्तेमाल का अक्सर वर्णन आता है।[491] इसे तो **लेखन** नाम भी दे दिया गया था। इस पर लिखे प्रलेखों को **भूर्ज** कहा गया है। बेरूनी का कहना है कि[492] भारतीय उसके प्रायः एक गज लंबे और एक बालिश्त चौड़े पत्रे लेते हैं और उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से तैयार करते हैं। उनको मजबूत और चिकना बनाने के लिए वे उन पर तेल लगाते हैं और उसे घोटते हैं। मुगल-काल में कागज के रूप में जब लिखने के लिए इससे अच्छी सामग्री हाथ में आ गयी तो कश्मीर में भूर्ज-पत्र तैयार करने की कला लुप्त हो गयी।[493] किंतु अब भी कश्मीरी पंडितों के पुस्तकालयों में भोजपत्र पर लिखी पोथियां बड़ी संख्या में मिलती हैं। भाऊ दाजी ने मुझे बतलाया था कि भोजपत्र पर लिखी पुस्तकें उड़ीसा में भी मिलती हैं और भोज-पत्र पर लिखे ताबीज तो हिंदुस्तान भर में मिलते हैं।[494] इसमें कोई शक नहीं कि भोज-पत्र का प्रयोग सबसे पहले उत्तर-पश्चिम में शुरू हुआ, किंतु

490. मिला. ब., ए. सा. इं. पै. 84–93; गाऊ के **पेपर्स रिलेटिंग टु दि कलेक्शन ऐंड प्रिजर्वेशन आफ ऐंशियंट संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स**, पृ. 15 में राजेन्द्रलाल मित्र के विचार; *Führer Zeitschrift f. Bibliothekswesen*, I, 429, II, 41.

491. ब्यो. रो. व्यो. **भूर्ज** के अंतर्गत।

492. **इंडिया**, I, 171 (सचाऊ), विवरण खोतन के खरोष्ठी **धम्मपद** पर फिट बैठता है।

493. **कश्मीर रिपोर्ट**, ज. बा. ब्रा. रा. ए. सो. XII, परिशिष्ट, 29

494. राजेन्द्रलाल मित्र, गाफ के **पेपर्स**, 17; **कश्मीर रिपोर्ट**, 29, टिप्पणी 2.

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में ही इसका प्रचार बढ़ गया था, क्योंकि मध्य, पश्चिमी और पूर्वी भारत में जो ताम्रपट्ट मिलते हैं वे भुर्ज के आकार के कटे मालूम पड़ते हैं जो कश्मीर में अंग्रेजी क्वार्टो या चौथाई ताव कागज के आकार का होता है (बर्नेल) लौकिक संस्कृत के अनेक ग्रंथों में लिखा है और बरूनी भी कहता है कि कम-से-कम उत्तरी, मध्य, पूर्वी और पश्चिमी भारत में सभी चिट्ठियाँ भोज-पत्र पर लिखी जाती थीं।

भूर्ज-पत्र पर लिखी सबसे प्राचीन कृति खोतान से मिली है जो खरोष्ठी में लिखे **धम्मपद** का कुछ अंश है। इसी के आसपास की अफगानिस्तान के स्तूप से मैसन को मिली धागे से बंधी पुड़िया भी है। (दे. ऊपर पृ. 37 और पाद-टिप्पणी 100) इसके बाद के गाडफे संग्रह के टुकड़े और बावर का हस्तलिखित ग्रंथ है जिसके पन्ने ताड़-पत्रों के आकार के हैं। ताड़पत्रों की ही भाँति इन्हें बांधने के लिए बीच में छेद हैं, जिन में कोई छल्ला डाल कर इन्हें बांधा गया होगा।[495] काल की दृष्टि से इसके बाद का बख्शाली का हस्तलिखित ग्रंथ है और इसके बाद एक बड़े व्यवधान के उपरांत के भोजपत्रों वाले वे कश्मीरी ग्रंथ हैं जो पूना, लंदन, आक्सफोर्ड, वियना, बर्लिन आदि के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इनमें शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ हो जो 15वीं शती से पुराना हो।

आ. रूई का कपड़ा

कुंदी किये कपड़े का उल्लेख निआर्कस (दे. ऊपर पृ.12) कई स्मृतियों और आंध्र-कालीन अनेक अभिलेखों में मिलता है। इनमें कहा गया है कि सरकारी- और गैर-सरकारी सभी प्रकार के प्रलेख **पट, पट्टिका या कार्पासिक पट** पर लिखे जाते थे।[496] बर्नेल और राइस के मत से (**मैसूर और कुर्ग गजेटियर**, 1877, I, 408) कन्नड़ व्यापारी आज भी अपनी बहियों के लिए एक प्रकार के कपड़े का इस्तेमाल करते हैं जिन्हें **कडतम्** कहते हैं। इन्हें इमली के बीज की लेई से पोत देते हैं और बाद में कोयले से काला कर देते हैं। इन पर खड़िया या सेतखड़ी की पेंसिल से लिखते हैं। जैसलमेर के **वृहज्ज्ञान-कोष** में मुझे रेशम की एक पट्टी पर लिखी जैन-सूत्रों की एक सूची मिली थी। इस पर रोशनाई से लिखा

---

495. ज. ए. सो. बं. LXVI, 225, हार्नली की बावर की प्रतियों की प्रतिकृतियाँ, वी. त्सा. कु. मो. V, 104.

496. जॉली, *Report und Sitte* Grundriss, II, 8. 114; नासिक अभिलेख सं. 11, A, B. ब. आ. स. रि. वे. इ. IV, 104 में।

गया था। हाल ही में पीटरसन को अणहिलवाद पाटण में वि. सं. 1418 (=1361-62 ई.) की कपड़े पर लिखी एक हस्तलिखित पुस्तक मिली है। (**पांचवीं रिपोर्ट**, 113)।

इ. काष्ठ का फलक

विनय-पिटक के वे प्रकरण (दे. पृ. 11) जिनमें बौद्ध-भिक्षुओं को धार्मिक आत्म-हत्या के उपदेश 'खोदने' की मनाही की गई है स्पष्ट ही इस बात के साक्षी हैं कि लेखन-सामग्री के रूप में काष्ठ या बाँस के फलकों का प्रयोग अति प्राचीन है। इसी प्रकार जातकों और बाद के ग्रंथों में लिखने की पटिया का उल्लेख मिलता है, जिन पर प्राथमिक पाठशालाओं के विद्यार्थी लिखते थे। बाँस की **शलाकाएं** बौद्ध भिक्षु पासपोर्ट के रूप में इस्तेमाल करते थे। (*Burnouf: Introd. á l'historic du Bouddhisme*, 259, टिप्प.)। पश्चिमी क्षत्रप नहपान के समय के एक अभिलेख में[497] एक ऐसे फलक का उल्लेख आया है जो निगम-सभा में टँगा रहता था। इस पर लेन-देन का ब्योरा लिखा जाता था। कात्यायन की व्यवस्था है कि वादों का विवरण फलक पर पांडुलेख यानी खड़िया से लिखना चाहिए।[498] दंडिन के **दशकुमार चरित** में इस बात का उल्लेख है कि अपहार वर्मन ने सोये हुए राजकुमारों के नाम अपनी घोषणा एक रोगन लगे फलक पर लिखी थी।[499] बर्मा में ऐसे हस्तलिखित ग्रंथ खूब मिलते हैं जो रोगन लगे फलकों पर लिखे गये हैं। भारत में ऐसे किसी ग्रंथ का उदाहरण नहीं मिला। किंतु ऐसे वर्णन अवश्य मिलते हैं जिनसे ऐसे ग्रंथों का यहाँ भी होना इंगित होता है। विंटरनित्स ने मुझे सूचना दी है कि बोडलीन पुस्तकालय में फलकों पर लिखी एक पुस्तक है। यह पुस्तक असम की है। राजेन्द्रलाल मित्र ने **गाउज पेपर्स** पृ. 18 पर लिखा है कि उत्तरी पश्चिमी प्रांतों में लोग धार्मिक पुस्तकों की नकल पट्टियों पर खड़िया से कर लेते हैं।

ई. पत्तियां

दक्षिणी बौद्ध आगमों के अनुसार प्राचीन काल में लेखन सामग्री के रूप में **पण्ण** (=पर्ण अर्थात् पत्ती) का सर्वाधिक प्रचार था। यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में[500]

---

497. नासिक अभिलेख सं. 7 पंक्ति 4, बं. आ. स. रि. वे. इं. IV, 102 में।

498. ब., ए. सा. इं. पै. 87 टिप्पणी 2.

499. **दशकुमारचरित**, उच्छ्वास II, अंत के पास।

500. बु. इं. स्ट. III, 2, 7, 120.

इसका उल्लेख नहीं कि ये पत्तियाँ किस वृक्ष की थीं, पर इसमें कोई शक नहीं कि ये पत्तियाँ आज की ही भाँति मुख्यतया **ताड़ या ताल** और **ताड़ी** या **ताली** की ही थीं। ये वृक्ष मूलतः तो दक्षिण के हैं पर आज पंजाब में भी पाये जाते हैं। सारे भारत में ताड़पत्र के प्रयोग का सवसे प्राचीन साक्षी युवाङ च्वाङ (सातवीं शती) है।[501] किंतु हमारे पास स्पष्ट प्रमाण है कि इससे भी काफी पहले उत्तरी-पश्चिमी भारत में इनका प्रयोग होता था। होरयूजि की हस्तलिखित प्रति निश्चय ही छठी शती की है और अभी हाल में प्राप्त गाडफे संग्रह के काशगर के पत्रे जैसा कि पुरालिपिक प्रमाणों से हार्नली ने सिद्ध किया है कम-से-कम चौथी शती के हैं। ये वावर की प्रति से प्राचीन हैं।[502] बावर की हस्तलिखित प्रति के **भूर्जपत्र** ताड़पत्रों के आकार के ही काटे गये हैं। यही बात तक्षशिला ताम्रपट्ट (दे. ऊपर पृ. 48) के बारे में भी सत्य है। यह पट्ट निश्चय ही पहली शती के बाद का नहीं है। । इसके कारीगर ने ताड़पत्र को अपना आदर्श चुना। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पंजाब में भी लेखन-सामग्री के रूप में ताड़पत्रों का प्रयोग सामान्य था। **युवाङ च्वाङ की जीवनी**[503] में सुरक्षित एक परंपरा के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के तत्काल बाद हुई प्रथम संगीति में आगम ताड़पत्र पर ही लिपिबद्ध किये गये थे। संघभद्र की विनय की विंदु ंकित हस्तलिखित पोथी' की कहानी तककुसु ने ज. रा. ए. सो. 1896, पृष्ठ 436 और आगे प्रकाशित की है। इससे ज्ञात होता है कि यह परंपरा इससे करीब दो सौ वर्ष प्राचीन है। इससे यही अनुमान होता है कि 400 ई. के आसपास में बौद्धों का विश्वास था कि ताड़पत्रों का प्रयोग चिरंतन काल से चला आ रहा है।

राजेन्द्रलाल मित्र का मत है कि [504] लिखने के लिए काम में आने वाले ताड़पत्रों को पहले सुखा लेते थे। फिर इन्हें उबालते या पानी में भिगो देते थे। तब इन्हें दुबारा सुखाते थे। सूखे पत्तों को चिकने पत्थर या शंख से घोंट कर चिकना करते थे। और फिर एक निश्चित आकार में पत्तियों को काट लेते थे। नेपाल और पश्चिमी भारत से ताड़पत्र की जो पुस्तकें मिली हैं उन पर अक्सर ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनके परीक्षण से पता चलता है कि इनके पत्रे इसी ढंग के बनाये गये हैं। इससे

---

501. सियुकि II, 225 (बील).
502. ज. ए. सो. बं. LXVI, 225 तथा आगे।
503. **लाइफ आफ युवाङ च्वाङ**, 117 (बील).
504. देखि. गाफ के पेपर्स में पृ. 17 पर राजेन्द्रलाल मित्र के विचार

भी मित्र महाशय के कथन की पुष्टि होती है। इनकी लंबाई एक से तीन फुट और चौड़ाई चार इंच से सवा फुट तक होती है।[505] इसके विरुद्ध बर्नेल[506] का कथन है कि दक्षिण भारत वाले ताड़पत्रों की तैयारी में इतना परिश्रम नहीं करते। कभी-कभी तो वे पत्रों की काट-छाँट भी नहीं करते। किंतु मुझे दक्षिण भारत के जितने हस्त-लिखित ग्रंथ देखने को मिले हैं उनसे बर्नेल की यह अंतिम बात सही नहीं मालूम पड़ती। हाँ, क्लर्क और व्यापारी अपने दफ्तरों या चिट्ठियों में जैसे पत्ते इस्तेमाल करते थे उससे तो बर्नेल की बात की ही पुष्टि होती है।

होरियूज़ि की हस्तलिखित प्रति और गाडफ्रे संग्रह के पत्रे तथा नेपाल बंगाल, राजस्थान, गुजरात और उत्तरी डेक्कन से प्राप्त 9वीं और उसके बाद की शतियों के हजारों हस्तलिखित ग्रंथों से सिद्ध है कि ताड़पत्रों पर अत्यंत प्राचीन काल से सारे उत्तरी, पूर्वी मध्य, और पश्चिमी भारत में रोशनाई से लिखते थे। जब से कागज का प्रयोग होने लगा है बंगाल में **चंडीपाठ** को छोड़ कर अब कहीं और ताड़पत्रों पर नहीं लिखते।[507]

द्रविड़ देश और उड़ीसा में चिट्ठियां **स्टाइलस** से खोदी जाती थीं और फिर कालिख या लकड़ी के कोयले से उन्हें काला कर देते थे। आज तक यही प्रक्रिया काम में लायी जाती है। दक्षिण में जो सबसे प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ मिला है वह बर्नेल के मत से 1428 ई. का है।[508]

ताड़पत्रों पर लिखे ग्रंथों में पत्रों के बीचों-बीच छेद कर देते थे। कभी-कभी बाईं ओर भी छेद करते थे। काशगर से ऐसे नमूने मिले हैं। कभी-कभी एक छेद बाएं और एक छेद दाएं भी मिलते हैं। पत्रों के छेदों में एक **सूत्र** या **शरयंत्रक**[509] डाल कर इन्हें बांध देते थे।

दक्षिण भारत में चिट्ठी-पत्रियों, निजी या सरकारी प्रलेखों और स्थानीय स्कूलों में पहले की तरह आज भी ताड़पत्रों का प्रयोग होता है। बंगाल में भी

---

505. देखि. गाफ के **पेपर्स**, 102, और कीलहर्न की **रिपोर्ट फार** 1880-81, और पीटरसन्स की **तीसरी रिपोर्ट** के माप।

506. ब. ए. सा. इं. पै. 86.

507. राजेन्द्रलाल के विचार गाफ के **पेपर्स** पृ. 102 पर।

508. ब. ए. सा. इं. पै. 87; आगे के अनुसंधानों से शायद सिद्ध हो जायेगा कि इससे पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें वर्त्तमान है।

509. **वासवदत्ता**, 250 (हाल)।

स्कूलों में इनका इस्तेमाल होता है।[510] ऐडम्स के मत से[511] **टोलों** के विद्यार्थी केलों और साल के वृक्षों पर चिराग की कालिख से लिखते हैं।

उ. जानवरों के चमड़े आदि

डी' आलविस[512] की राय है कि बौद्ध ग्रंथों में लेखन-सामग्री के रूप में चमड़े का वर्णन है। पर इन्होंने वे स्थल नहीं बतलाये हैं जहाँ ऐसे उल्लेख हैं। **वासवदत्ता** के एक प्रकरण का उल्लेख ऊपर (**34**, आ) आया है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि सुबंधु के समय में चमड़े पर भी लिखते थे। किन्तु चमड़ा धार्मिक दृष्टि से अपवित्र माना जाता है। इसलिए यह अनुमान खतरनाक होगा। अभी तक चमड़े पर लिखी कोई पुस्तक भी भारत में नहीं मिली है। कहते हैं कि काशगर से मिले चमड़े के कुछ टुकड़े पीटर्सवर्ग के संग्रहों में हैं जिन पर भारतीय लिपि में लेख हैं। जेसलमेर में '**बृहज्ज्ञान कोष**' नामक जैन-पुस्तक-भंडार से हस्तलिखित पुस्तकों के साथ एक कोरा चर्म-पत्र मिला है।

पतले हाथी दाँत के चौकोर टुकड़ों पर लिखे ग्रंथ बर्मा में मिलते हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में इसके दो नमूने हैं।[513]

ऊ. धातु

जातकों में कभी-कभी धनी व्यापारियों के घरों में कुटुम्ब-संबंधी आवश्यक प्रलेखों, श्लोकों और सदाचार-सूत्रों को सोने के पत्रों पर खुदवाये जाने का उल्लेख मिलता है।[514] बर्नेल[515] का कथन है कि राजकीय पत्रों और भूदान-लेखों के लिए सोने के पत्रों का प्रयोग होता था। तक्षशिला के खंडहरों के पास गंगू में सोने का एक पत्र मिला था जिस पर खरोष्ठी में एक लेख है।[516] इसी प्रकार छोटी पुस्तकें और सरकारी प्रलेख चाँदी पर भी खुदवाये जाते थे[517]। ऐसा एक लेख भट्टिप्रोलु

---

510. ब. ए. सा. इं. पै. 89, 93, राजेन्द्रलाल मित्र **वही** 17.

511. **रिपोर्ट्स आन वर्नाक्युलर एजुकेशन**, 20, 98 (सं. लांग)

512. **इन्ट्रोडक्शन टु कच्चायन**, XVII.

513. **जर्न. पालि. टेक्स्ट सोसा**. 1883-135.

514. बु. इ. स्ट- III, 2, 10.

515. ब., ए. सा. इ. पै. 90, 93.

516. क; आ. स. रि. II, 129, फल. 59.

517. ब. ए. सा. इ. पै. 87; री. आ. सं. इं. न्यू. इम्पीरियल सिरीज सं. 15, पृ. 13, और फल. 6. सं. 22; ज. **पालि टेक्स्ट सोसा**. 883, पृ. 134.

के प्राचीन स्तूप से मिला था। ब्रिटिश संग्रहालय में गिलट और चांदी की कलई किये ताड़पत्रों पर लिखी हस्तलिखित पुस्तकें हैं।

मानी हुई बात है कि बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग बहुत कम ही होता था। सबसे अधिक संख्या में ताम्रपट्ट ही मिले हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जब किसी प्रलेख को चिरस्थायी रखना होता था, विशेषकर भूदान-पत्र जो प्राप्ता के लिए स्वत्व-लेख का कार्य करता था, तो उसे ताम्रपट्टों पर ही खुदवाते थे।

फाहियान (लग. 400 ई.) के अनुसार बौद्ध-विहारों में ताँबे पर खुदे दान-पत्र थे। इनमें सबसे पुराना बुद्ध के समय का था।[518] यद्यपि फाहियान के इस कथन की पुष्टि होनी शेष है, पर सोहगौरा पट्ट (दे. पृ. 65) बतलाते हैं कि मौर्य-काल में सरकारी आदेश ताँबे पर खोदे जाते थे। युवाङ्ग च्वाङ्ग के वर्णन में एक अन्य बौद्ध परंपरा भी सुरक्षित है[519] जो यह बतलाती है कि कनिष्क ने बुद्ध के वचन ताँबे के पत्रों पर खुदवाये थे। **सायण** के वेद-भाष्यों के बारे में भी ऐसी ही एक कहानी प्रचलित है, जिसे बर्नेल अविश्वसनीय ठहराता है।[520] किंतु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्यिक कृतियों को सुरक्षित रखने के लिए ताँबे का प्रयोग करते थे। त्रिपती में ऐसे पट्ट मिले हैं। बर्मा, और लंका के नमूने (इनमें कुछ मुलम्में भी हैं) ब्रिटिश-संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[521] काशगर से सेंट पीटर्सबर्ग को भेजे गये कुछ काफी आधुनिक ताम्रपट्टों के फोटोग्राफ एस. वान ओल्डेनबर्ग की कृपा से मुझे प्राप्त हुए हैं। इन पर गुरुमुखी और नागरी में सामानों की सूचियाँ हैं।

जहाँ तक इनके निर्माण की प्रक्रिया का प्रश्न है सोहगौरा का सबसे पुराना ज्ञात **ताम्रशासन** (दे. ऊपर पृ. 65) रेत के एक सांचे में ढाला गया है। इस सांचे में ही पहले से अक्षर और प्रतीक-चिह्न **स्टाइलस** या नुकीली लकड़ी से खरोंच दिये गये थे। इसीलिए अक्षर और प्रतीक उभरे हुए हैं। दूसरे सभी ताम्र-पट्ट हथौड़ों से पीटकर बनाये गये हैं। कुछ पर तो हथौड़ों की चोटें भी दीखती हैं। इनकी मोटाई और चौड़ाई में भी काफी अंतर है। कुछ बहुत पतले हैं। इन्हें

---

518. सियुकि (बील) 1, XXXVIII.

519. देखि. ब, ए. सा. इं. पै. 86.

520. मै. मू. ऋग्वे. I, 17.

521. **ज. पालि. टेक्स्ट सोसा**. 1883, 136.

दुहरा-तिहरा कर सकते हैं। इनका वजन भी कुछ औंस ही होगा। अन्य काफी भारी भरकम है; वजन भी आठ-नौ पौंड या इससे भी अधिक होगा।[522] इनका आकार कुछ तो इस बात पर निर्भर था कि जहाँ से ये जारी किये गये थे वहाँ कौन-सी लेखन-सामग्री इस्तेमाल में आती थी और कुछ इस बात पर भी कि लेख कितना बड़ा है और लिपिक किस आकार के अक्षर लिखता है, आदि-आदि। कारीगर हमेशा दिये हुए नमूनों के आधार पर ही पट्ट बनाते थे। यदि नमूना ताड़पत्र का होता तो पट्ट पतले और लंबे होते। यदि नमूना भोजपत्र का होता तो पट्ट काफी बड़े और प्रायः वर्गाकार होते। दक्षिण भारत के सभी ताम्र-पट्ट पहले प्रकार के हैं। इसके अपवाद विजयनगर के यादवों के ताम्रपट्ट हैं जो पत्थर की पटिया के आकार के होते थे।[523] इसके उत्तर के **शासन**, तक्षशिला के को छोड़ कर दूसरे वर्ग के हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है तक्षशिला-पट्ट ताड़पत्र के आकार का है। वलभी के बहुसंख्य ताम्रपट्टों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होगा कि प्रशस्ति के आकार के साथ कैसे ताम्रपट्टों का आकार भी बढ़ता जाता है।

एक ही प्रलेख के लिए बहुधा अनेक पट्टों की आवश्यकता होती थी। ऐसे पट्टों को तांबे के छल्ले या छल्लों से जोड़ देते थे। ये छल्ले उन छेदों में होकर गुजरते थे जो ताम्रपट्टों में बनाये जाते थे। दक्षिण भारत के ताम्रपट्टों में एक ही छल्ला मिलता है। यदि दो छल्लों का इस्तेमाल होता तो पहला छल्ला पहले पट्ट के नीचे और दूसरे के ऊपरी भाग के छेद से होकर गुजरता था और दूसरा भी इसी प्रकार रहता था। ये छल्ले पुस्तकों के सूत के स्थान पर लगते थे जो उन्हें एक साथ बांधे रखते थे। इस प्रकार अनेक **ताम्रशासन** एक साथ बंधे रहते थे।[524] इन्हें आसानी से खोल कर पढ़ा जा सकता था। विजयनगर के अपवाद को छोड़-कर ताम्र-पट्टों पर रेखाएं समानांतर होती थीं। ये सबसे चौड़े बल खींची जाती

---

522. तक्षशिला पट्ट का वजन 3. 75 औंस था, यह मुड़कर दुहरा हो गया था: बलभी के छठें शिलादित्य के अलीना पट्टों का वजन 17 पौंड 3.75 औंस था, देखि. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), 172, इससे भी भारी पट्ट हैं, ब. ए. सा. इं. पै. 92, किन्तु इसमें ऐतिहासिक टिप्पणी में सुधार की आवश्यकता है।

523. ब., ए. सा. इं. पै. 92, मिला. प्रतिकृति ए. इं. III, 26, 38 आदि.

524. कशाकुडि दानपत्र (8वीं शती) में 11 पट्ट हैं, और हिरहडगल्लि दानपत्र (चतुर्थ शती) ए. इं. I, 1, में आठ।

थीं। अक्षर प्रायः टांकी से खोदे जाते थे। उत्कीर्णक (engraver) का इस्तेमाल बहुत कम हुआ है। (मिला. ऊपर पृ. 38) लेख की रक्षा के लिए फलकों के किनारे प्रायः मोटे और उठे हुए बनाये जाते थे।[525] पहले पट्ट का पहला पृष्ठ और अंतिम पट्ट का अंतिम पृष्ठ कोरा छोड़ देते थे। पट्टों के साथ लगी तांबे की मुद्रा प्रायः ढलाई की होती थीं। इनके ऊपर लेख के अक्षर और राज-चिह्न उभरे होते हैं। वाण के अनुसार[526] हर्ष की राज-चिह्न-युक्त मुद्रा सोने की थी।

तांबे की अनेक मूर्त्तियों पर उनके आधारों में दान-लेख खुदे हुए हैं। लोहे पर भी एक अभिलेख खुदा है। यह अभिलेख दिल्ली के पास मेहरौली के लोह-स्तंभ पर है।[527] ब्रिटिश संग्रहालय में टिन पर लिखी एक बौद्ध पुस्तक भी है।[528]

ए. पत्थर और ईंट

प्रलेखों को अशोक के शब्दों में **चिरठितिक**—चिरस्थायी बनाने के लिए अत्यंत प्राचीन काल से पत्थरों पर लिखवाते थे। ये पत्थर नाना प्रकार के बैसाल्ट या ट्रैप के खुरदरे या चिकने खंड, या वालुकाश्म के कलापूर्ण स्तंभ होते थे। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं कि ये प्रलेख सरकारी हैं या गैर-सरकारी, इनमें कोई राजकीय विज्ञप्ति है या दो राजाओं के बीच हुई संधि या दो सामान्य व्यक्तियों के बीच हुए किसी करार का विवरण ही, ये दानलेख या काव्य-वर्णन हैं इसका भी महत्त्व नहीं। चाहे जो भी वर्ण्य हो वह चिरस्थायी होना चाहिये। कभी-कभी तो बड़ी-बड़ी साहित्यिक कृतियाँ भी पत्थरों पर खुदवायी गयी हैं। चाहमान राजा विग्रहराज चतुर्थ और उसके राजकवि सोमदेव के नाटकों के अंश अजमेर में पत्थर पर खुदे मिले हैं।[529] विझौली में एक पूरा जैन स्थल-पुराण ही पत्थर पर खुदा है। इसके कई सर्ग हैं। इसकी एक छाप मुझे फुहरेर और गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने दी थी।

ऐसी ईंटें तो बराबर मिलती रहती हैं जिन पर एक अक्षर या कुछ अक्षर लिखे हैं। ऐसे कई नमूने कनिंघम[530] फुहरेर और दूसरे विद्वानों को भारत के

525. देखि. फ्ली. गु. इं. (का. इं. III) 68, टिप्पणी 6.
526. **हर्षचरित**, 227 (निर्णय सागर प्रेस)।
527. फ्ली गु इं (का इं इं III), 139.
528 देखि, सूची, **जर्न. पालि टेक्स्ट सोसा.** 1883, 134.
529. इ. ऐ. XX, पृ. 201 तथा आगे।
530. क., आ. स. रि. I, 97, V, 102.

विभिन्न भागों में मिले थे। लेकिन हाल ही में उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत में **होई** ने ईंटों पर बौद्ध-सूत्र लिखे पाये हैं। आर्द्र कच्ची ईंटों पर अक्षर खोद दिये जाते थे और बाद में उन्हें आंच में पका लेते थे।[531]

एँ. कागज

इस पुस्तक की काल-सीमा में भारत में या तो कागज का पता ही न था या इसका इस्तेमाल बहुत कम होता था। भारत में कागज मुसलमान लाये। राजेन्द्र लाल मित्र का विश्वास है कि धारा के भोज के 'एक उलेल्ख' से सिद्ध होता है कि मालवा में 11वीं शती में कागज का इस्तेमाल होता था।[532] गुजरात की कागज पर लिखी सबसे प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक 1223-24 ई. की है।[533]

पीटरसन ने अणहिलवाड़ पाटन में विक्रम संवत् 1384-और 1394 (1327-28 और 1337-38 ई. की) कागज पर लिखी हस्तलिखित पुस्तकें खोजी हैं।[534] काशगर से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ जिनके विचित्र कागज पर गच-पत्थर (जिप्सम) की तह लगी है शायद ही भारत की हो। हार्नले का विश्वास है कि यह मध्य एशिया में ही लिखी गयी।[535]

ओ. स्याही

स्याही के लिए सबसे पुराना भारतीय शब्द **मषि** या **मषी** है जिसे **मसि** या **मसी** भी लिखते हैं। यह शब्द **गृह्यसूत्र** में आया है। यह **मष्** (हिंसायाम्) धातु से निकला है और इसका धात्वर्थ 'चूर्ण' है[536]। मसि से अनेक प्रकार के पीसे (लकड़ी के) कोयले का बोध होता है जिसमें पानी, गोंद, शक्कर आदि मिलाकर इसे तैयार करते थे।[537] बर्नेल का यह कथन भ्रमपूर्ण है कि संस्कृत साहित्य में **मसि**

---

531. ए. सो. बं. का 1896 का कार्यवृत्त, पृ. 99.

532. गाफ के **पेपर्स**, 16.

533. देखि. मेरा कैटलाग आफ मनुस्क्रिप्ट्स फ्राम गुजरात आदि, I, 238 सं. 147.

534. **पाँचवीं रिपोर्ट**, 123, 125.

535. वी. त्सा. कुं. मो. VI, 261, ज. ए. सो. बं. LXVI, 215, 218.

536. ब्यो., रो. ब्यो. और ब्यो. व्यो. **मसि** के अंतर्गत।

537. रोशनाई बनाने की भारतीय विधि का उल्लेख राजेन्द्रलाल मित्र ने गाफ के **पेपर्स**, 18 में किया है, **कश्मीर रिपोर्ट** 30.

का प्रयोग उत्तरकालीन ग्रंथों में ही मिलता है। बाण (लग. 620 ई.) और उसके पूर्ववर्ती सुबंधु को इसका पता था।[538]

बेनफे, हिक्स, और बेवर ने **मेला** (**मसि** के लिए दूसरा शब्द) की व्युत्पत्ति ग्रीक *mélas* से की है। किंतु निस्संदेह यह प्राकृत विशेषण शब्द **मैल**= गंदा, काला का स्त्रीलिङ्ग का रूप है जो ग्रीक से नहीं आया होगा।[539] **मेला** का ज्ञान सुबंधु को था। इसने **मेलानंदायते** नामधातु का[540] प्रयोग किया है। जिसका अर्थ दावात बनता है। दावात के लिए कोषों में **मेलामंदा, मेलांधु, मेलांधुका** और **मसिमणि** का और पुराणों में **मसिपात्र, मसिभाँड़** और **मासीकूपिका** का भी प्रयोग हुआ है।[541]

निआर्कस और कर्टिस के इस कथन से कि हिंदू रूई के कपड़े और पेड़ की छाल यानी भूर्ज पर लिखते थे यही संभव प्रतीत होता है कि ई. पू. चौथी शती में वे स्याही का प्रयोग करते थे। अशोक के आदेशलेखों में कभी-कभी कुछ अक्षरों में फंदों के स्थान पर बिंदियाँ मिलती हैं।[542] इससे भी इसी निष्कर्ष की संभावना होती है। अंधेर के धातु-कलश पर स्याही से लिखने का सबसे प्राचीन उदाहरण मिला है (दे. ऊपर पृ. 12) यह निश्चय ही ई. पू. दूसरी शती से पुराना नहीं है। खोतान के **धम्मपद** और अफगानिस्तान के स्तूपों से मिले भूर्ज की रस्सी और पत्थर के बर्त्तन जिन पर खरोष्ठी के अक्षर हैं पहली शती और इसके बाद के हैं। प्राचीन भूर्ज और ताड़-पत्र पर ब्राह्मी में लिखे हस्तलिखित ग्रंथ इनसे भी बाद के हैं। अजंटा की गुफाओं में चित्रित अभिलेख अभी तक मिलते हैं।[543]

जैन अपने हस्तलिखित ग्रंथों में रंगीन स्याही का खूब प्रयोग करते हैं।[544]

---

538. देखि. उदाहरणार्थ **वासवदत्ता**, 187, (हाल); **हर्षचरित**, 95.

539. जकरिया *Nachrichten Gött. Ges. Wiss* 1896, पृ. 265 तथा आगे भी देखिए।

540. ब्यो. रो. व्यो. उसी शीर्षक के अंतर्गत।

541. **मंदा** और **नंदा**, पानी का घड़ा (मिला. **नदिका, नांदी**, कूप और **नादिपट**, कूप की ढक्कन) **नंदयति** और **मंदयति** से निकले हैं।

542. बु. इं. III, 2, 61, 69.

543. ब., आ. स. रि. वे. इं. IV, फल. 59.

544. उदाहरणार्थ देखि. राजेन्द्रलाल मित्र की **नोटिसेज ऑफ संस्कृत** की प्रतिकृति फल. **मनुस्क्रिप्ट्स** 3, फल. I.

ऐसी स्याही के उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में भी, जैसे पुराणों के ग्रंथ-दान के प्रसंगों में हैं।[545] खड़िया के अलावा (दे. ऊपर **34**, **आ**) लाल स्याही के बदले रक्त-सिंदूर और हिंगुल का प्रयोग भारत में अति प्राचीन काल से होता आया है।[546]

औ. कलम, पेंसिल आदि

'लिखने की उपकरणिका' का सामान्य नाम '**लेखनी**' है। इसमें स्टाइलस, पेंसिल, कूंची, नरकट और लकड़ी की कलम सब कुछ सम्मिलित हैं। **रामायण-महाभारत** में भी इसका उल्लेख है।[547]

ललित-विस्तर में उल्लिखित **वर्णक** तो सीधी-सादी छोटी-सी लकड़ी है, जिसके मुंह पर किसी प्रकार की तिरछी कटाई नहीं होती थीं। भारतीय स्कूलों के बच्चे ऐसी ही बनायी हुई कलमों से अब भी पटिया पर अक्षर लिखने का अभ्यास करते हैं (दे. ऊपर पृ. 11) इसके एक अन्य भेद **वर्णिका** का भी उल्लेख कोषों में है । ऊपर उल्लिखित **दशकुमार चरित में वर्णवर्तिका** शब्द आया है (दे. ऊपर टि. 499)। निश्चय ही यह कूंची या रंगीन पेंसिल है क्यों कि **वर्तिका** से रेखांकन, या चित्रकर्म का कार्य करते थे, यह अन्य वर्णनों से प्रकट होता है।[548] **तूली** या **तूलिका** से मूलतः कूंची का अर्थ लेते थे। आधुनिक काल में **तूली** या **तूलिका** की व्याख्या **सळई**[549] से भी करते हैं जिससे उत्कीर्णन का कार्य करते हैं।

सरकंडे या नरकट से बने लिखने के उपकरण को सभी पूरबी भाषाओं में **कलम** की कैलामस कहते हैं। इसका एक अपेक्षाकृत कम प्रचलित देशी नाम **इषीका** या **ईषिका** भी है जिसका शाब्दिक अर्थ सरकंडा या नरकट है।[550] सरकंडे, नरकट, बांस, या लकड़ी के टुकड़ों को अंग्रेजी कलम की तरह बनाकर सारे भारत में स्याही से लिखते हैं।[551] ताड़पत्र और भोजपत्र

---

545. हेमाद्रि, **दानखण्ड**, पृ. 549 तथा आगे।

546. डी आलविस, **इंट्रोडक्शन टु कच्चायन**, XVII; जातक सं. 509 (IV, 489), इसकी ओर ओल्डेनवर्ग ने ध्यान आकर्षित किया है।

547. देखि. ब्यो. रो. व्यो. और ब्यो. व्यो. इसी शीर्षक के अंतर्गत।

548. **वही**, इसी शीर्षक के अंतर्गत।

549. **अमरकोष**, पृ. 246, श्लो. 33 पर महेश्वर की टीका बम्बई सरकार का संस्करण।

550. ब्यो. रो. व्यो., इसी शीर्षक के अंतर्गत।

551. मेरी जानकारी में भारत के सभी भागों में ऐसा ही होता है; मिला. राजेन्द्रलाल मित्र, गॉफ के **पेपर्स**, 18.

पर लिखे वे सभी ग्रंथ जो आज उपलब्ध हैं, संभवतः इसी प्रकार के कलम से लिखे गये थे ।[552] दक्षिण भारत में प्रयुक्त स्टाइलस का संस्कृत नाम **शलाका** है मराठी में इसे **सळई** कहते हैं ।

रूलर का आज काफी प्रयोग होता है । लकड़ी या गत्ते के टुकड़े लेकर उसमें बराबर की दूरियों पर सूत बांध देते हैं । इसके पूर्व रूप के लिए देखि. Anecdota Oxoniensia Aryan Series I. 3. 66. और *Anzeiger d. W. Akademie* 1897 सं. VIII जहाँ इसके नमूनों के दो फोटोग्राफ दिये गये हैं । श्री सी. क्लेम के एक पत्र (ता. 21 अप्रैल 1897) के अनुसार बर्लिन के एथ्नालाजिकल म्युजियम में भी दो नमूने हैं । इनमें एक कलकत्ते का है जिस पर **निवेदनपत्र** अभिलेख है और दूसरा मद्रास का है जिसे **किड़ुगु** कहा जाता है ।

38. हस्तलिखत पुस्तकों, ताम्रपट्टों की संरक्षा और पत्रों का उपचार

अ. हस्तलिखित ग्रंथ और पुस्तकालय

ताड़पत्रों और भूर्ज-पत्रों पर लिखे ग्रंथों को इन पत्रों के आकार के लकड़ी के टुकड़ों के बीच रखकर उन्हें सूत से बांध देते थे । कागज की हस्तलिखित पुस्तकों के लिए यह प्रथा अभी तक चालू है ।[553] दक्षिण भारत में आवरणों में में छेद कर देते हैं और एक मजबूत लंबा डोरा ले लेते हैं । इसे पहले छेदों में डालते हैं और आवरण के चारों ओर कई बार घुमाते हैं और तब कसकर गाँठ से बाँध देते हैं । प्राचीन काल में भी यही प्रक्रिया थी ।[554] पश्चिम और उत्तर भारत में हस्तलिखित पुस्तकें इसी प्रकार रखते थे । किंतु नेपाल में पुस्तकों के आवरण-विशेषकर बहुमूल्य पुस्तकों के धातु के बनाते हैं । कभी-कभी इन पर बेल-बूटे भी बनाते हैं । ऐसी पुस्तकों की बेठनें भी बनाते हैं जो रंगीन या जरी के कपड़ों की होती है । जैन-ग्रंथागारों में ताड़पत्र की पुस्तकें कभी-कभी सफेद कपड़े की खोलों में रखते हैं । फिर इन्हें टिन के बक्सों में बंद कर देते हैं । संग्रहों के प्रायः सूची-पत्र भी बनाते हैं । मठों, विहारों और राज-दरबारों में पुस्तकें रखने के लिए कभी-कभी पुस्तकालय भी होते हैं । इन्हें प्रायः लकड़ी या

---

552. *Anecdota Oxoniensia, Ar. Series* I, 3, 66.

553. वेरूनी, **इंडिया**, I, 171 (सचाऊ) ।

554. मिला. **हर्षचरित**, 95 जिसमें एक हस्तलिखित ग्रंथ के **सूत्रवेष्टनम्** का उल्लेख है ।

गत्ते के बक्सों में रखते हैं। कश्मीर में मुसलमानों की तरह चमड़े से पुस्तकों की जिल्द बांधते हैं और इन्हें हमारी तरह टांड़ों पर रखते हैं।

पुस्तकालय का भारतीय नाम **भारती-भांडागार** था जो जैन ग्रंथों में मिलता है। कभी-कभी इसके लिए **सरस्वती-भांडागार** शब्द भी मिलता है। ऐसे भांडागार मंदिरों,[555] विद्यामठों, मठों, उपाश्रयों, विहारों, संघारामों[556] राज-दरबारों और धनी-मानी व्यक्तियों के घरों में हुआ करते थे। आज भी हैं। पुराणों में लिखा है कि मंदिरों-मठों को पुस्तकों का दान देना धनिकों का कर्त्तव्य है।[557] इसी प्रकार जैन और बौद्ध उपासकों और श्रावकों का भी यही कर्त्तव्य बताया गया है। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की प्रशस्तियों से ऐसा पता चलता है कि लोग मुक्तहस्त इस कर्त्तव्य का पालन भी करते थे। मध्यकाल के राज-पुस्तकालयों में धारा के भोज (11वीं शती) का पुस्तकालय बड़ा प्रसिद्ध था। 1140 ई. में जब सिद्धराज जयसिंह ने मालवा को जीता तो वह यह पुस्तकालय भी अणहिलवाड़ में उठा ले गया।[558] ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुस्तकालय वहाँ चालुक्यों के भारती-भाण्डागार में मिला दिया गया। चालुक्यों के भारती-भाण्डागार का उल्लेख 13वीं शती के ग्रंथों में कई बार आया है। एक अप्रकाशित प्रशस्ति के अनुसार **नैषधीय** की जिस प्रति के आधार पर विद्याधर ने अपनी प्रथम टीका लिखी थी, वह चालुक्य वीसलदेव या विश्वमल्ल (1242-1262 ई.) के **भारती-भांडागार** की थी। इसी प्रकार यशोधर ने **कामसूत्र** की जिस प्रति के आधार पर अपनी **जयमङ्गलाटीका** लिखी वह भी इसी पुस्तकालय से प्राप्त की गयी थी।[559] बोन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में **रामायण** की एक हस्तलिखित प्रति है। यह प्रति वीसलदेव के संग्रह की एक प्रति की प्रतिलिपि है।[560]

---

555. अभिलेखों में ग्रंथों के बारे में आये प्रसंगों से मिलाइए; उदाह. *Inscriptions du Cambodge* 30, 31; हुल्श, सा. इं. इं. I, 154.

556. डुड्डा के बौद्ध विहार के भिक्षुकों द्वारा **सद्धर्म** की पुस्तक खरीदने (**पुस्तकोपक्रय**) के लिए दान का उल्लेख सन् 568 के वलभी के अभिलेख में आया है, इं. ऐ. VII, 67.

557. हेमाद्रि, **दानखण्ड**, पृ. 544 तथा आगे।

558. मिला, *D. Leben des, J. M. Hemcandra, D.W.A*, 183, 231

559. **कामसूत्र**, 364, टिप्पणी 4, (दुर्गाप्रसाद संस्करण)।

560. Wirtz, *die wastl. Rec. des Rāmāyaṇa* पृ. 17 तथा आगे।

भारत-सरकार ने संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य अपने हाथ में लिया है। इस खोज से विदित हुआ है कि भारतीय राजाओं में अनेक के अपने समृद्ध पुस्तकालय हैं जिनमें बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ हैं। अलवर, बीकानेर, जम्मू, मैसूर, तंजोर के राज-पुस्तकालयों ने तो अपने संग्रहों के सूची-पत्र भी छापे हैं। खोज-विवरणों से यह भी पता चला है कि भारत में अनेक धनी-मानी सज्जनों के भी सुव्यवस्थित निजी पुस्तकालय हैं। संस्कृत ग्रंथों के अनेक अवतरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भी ऐसे निजी पुस्तकालय थे। **वाण** (7वीं शती) हमें बतलाता है कि उसने एक **पुस्तक-वाचक** रखा था। **वायुपुराण** की पोथी में इसके हस्तकौशल का वर्णन उसने अपने **हर्षचरित** में किया है।[561] वर्नेल ने आलोचना की है कि **ब्राह्मण** हस्तलिखित पुस्तकों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते।[562] पर वर्नेल की यह आलोचना सारे भारत के—यहाँ तक कि सारे दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के बारे में भी सही नहीं है। गुजरात, राजस्थान, और मराठा-प्रदेश, तथा उत्तर और मध्यभारत में मैंने अनेक ब्राह्मणों और जैन-मुनियों के पुस्तकालय देखे हैं। इनमें कुछ तो अच्छी अवस्था में नहीं हैं, पर अन्य सभी बड़े यत्न से रक्षित हैं। पुस्तकों के प्रति कोई कैसा व्यवहार करता है यह उसकी भौतिक अवस्था पर भी निर्भर है।[563]

आ. ताम्रपट्ट

सामान्य व्यक्ति अपने **ताम्र-पट्टों** को विचित्र प्रकार से रखते थे। कई स्थानों पर जैसे वलभी—आधुनिक वला के खंडहरों में ये दीवालों में चुने या मकान की नींव में रखे पाये गये हैं। कई बार तो ये दान-पत्र उन खेतों में ही जिनके दान का उल्लेख इनमें है ईंटों से बने किसी गुप्त स्थान में रखे मिले हैं।

जिन्हें ये ताम्रपट्ट मिलते हैं या यदि स्वामी गरीब हुआ तो वह इन्हें किसी बनियाँ को बेंच देता है या उसके पास गिरवी रख देता है। यही कारण है कि ऐसे ताम्रपट्ट यूरोपीय विद्वानों को प्रायः जहाँ से ये जारी किये गये थे वहाँ से बहुत दूर के किसी स्थान पर मिलते हैं। जिस मूल के आधार पर ये ताम्रपट्ट बनाये

561. निर्णयसागर संस्करण, पृ. 95.

562. ब., ए. सा. इं. पै. 86.

563. मिला. राजेन्द्रलाल मित्र, गॉफ़ के **पेपर्स**, 21.

ते थे वे संभवतः राजा के कार्यालय में रहते थे । इनके रक्षक **अक्षपटलिक** का उल्लेख प्रायः मिलता है ।[564]

3. पत्रों का उपचार

जातकों में महत्वपूर्ण पत्रों को सफेद कपड़े में लपेट कर उन्हें मुद्रांकित करने का वर्णन आया है ।[565] आज भी सरकारी या विशेष समारोहों के पत्रों को प्रायः रेशम या जरी के लिफाफों में भेजते हैं । ताड़पत्रों पर लिखे सामान्य पत्रों की प्रक्रिया और सरल है । पत्तियों को मोड़कर इनके सिरों को चीरकर परस्पर जोड़ देते हैं । फिर सारी पत्ती को सूत से बांध देते हैं ।[566] संभवतः भूर्ज पर लिखी चिट्ठियाँ भी इसी तरह बांधते थे । **बाण** के अनुसार हरकारा (**दीर्घाध्वग, लेखहारक**) सारी चिट्ठियों को कपड़े के एक थैले में रखकर उसे अपने गले से लटका लेत था ।[567]

39. लेखक, उत्कीर्णक और संगतराश

यद्यपि प्राचीनतम भारतीय लिपि ब्राह्मण अध्यापकों की सृष्टि थी और काफी हाल तक लिखना-पढ़ना ब्राह्मणों तक ही सीमित था, फिर भी कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे अनुमान होता है कि अति प्राचीन काल में भी यहाँ पेशेवर लेखक या लेखकों की जाति थी जिसका काम ही लिखकर जीविका अर्जन करना था । ऐसे लोगों का सबसे पुराना नाम भी **लेखक** था । इस नाम का उल्लेख दक्षिणी बौद्ध आगमों में आया है । (दे. ऊपर पृ. 10) । सांची-अभिलेख, स्तूप 1, सं. 143[568] में दाता के इसी व्यवसाय का स्पष्ट उल्लेख है । मैंने इसका अनुवाद 'हस्तलिखित ग्रंथों का प्रतिलिपिक', या 'लिपिकार, क्लर्क' किया है जो संदे-

---

564. मिला. **राजतरंगिणी** V, 249, 397 का स्टीन का अनुवाद और टिप्पणियाँ ।

565. बु. इं., स्ट. III, 2, 8; फासबोल, **जातक** II, पृ. 173 तथा आगे ।

566. ब., ए. सा. इं. पै. 89.

567. **हर्षचरित**, 58, 167.

568. ए. इं. II, 369, 372.

हास्पद हो सकता है। बाद के अनेक अभिलेखों में[569] **लेखक** का तात्पर्य निस्संदेह उस व्यक्ति से था जो वह प्रलेख तैयार करता था जिसे ताम्रपट्ट या पत्थर पर खोदा जाता था । किंतु आजकल लेखक उसे कहते हैं जो हस्तलिखित पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार करता है । गरीब ब्राह्मण या बूढ़े क्लर्क (**कायस्थ, कारकून**) प्रायः इसी प्रकार अपनी जीविका चलाते हैं । जैन भी अतीत में ऐसे व्यक्तियों से काम लेते थे। आज भी लेते हैं । किंतु अनेक जैन पुस्तकों की प्रशस्तियों से विदित होता है कि ये जैन मुनियों या श्रावकों द्वारा तैयार की गयी प्रतिलिपियाँ हैं। कभी-कभी जैन साध्वियाँ भी प्रतिलिपि का कार्य करती थीं। इसी प्रकार नेपाल में हमें बौद्ध-पुस्तकों के प्रतिलिपिकारों के रूप में भिक्षुओं, वज्राचार्यों आदि के नाम मिलते हैं ।[570]

पेशेवर लेखक का एक दूसरा नाम **लिपिकर** या **लिबिकर** था जो ई. पू. चौथी शती में भी प्रचलित था। इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठों पर आया है। कोषों में[571] इसे लेखक का पर्याय बताया गया है। **वासवदत्ता**[572] में इसका अर्थ सामान्य 'लेखक' है। अशोक अपने चौदहवें आदेश-लेख में इस शब्द का उल्लेख क्लर्कों के पदनाम के रूप में करता है। इसी प्रकार पड़ भी अपने को लिपिकर करता है। यह शिद्दापुर के अशोक के आदेश-लेखों का प्रतिलिपिक है । सांची अभिलेख, स्तूप 1, सं. 49[573] का दाता सुबाहित गोतिपुत अपने लिए और ऊँची पदवी **राजलिपिकर** धारण करता है । शायद प्राक्तर काल में लिपिकर क्लर्क का पर्याय था।

सातवीं और आठवीं शती के वलभी के अनेक अभिलेखों के लेखक **संधि-विग्रहाधिकृत** (संधि और युद्ध का मंत्री) हैं। इनकी उपाधि **दिबिरपति** या

---

569. मिला. उदाहरणार्थ पल्लव-दानपत्र, ए. इं. I, पृ. 1 तथा आगे (अंत में); फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III) सं. 18 (अंत में), 80 (अंत में), और अनुक्रमणी में लेखक के अंतर्गत फ्लीट की टिप्पणी ।

570. **कश्मीररिपोर्ट**, 33 राजेन्द्रलाल मित्र, गॉफ के **पेपर्स**, 22; कीलहार्न और पीटरसन, **रिपोर्ट आन दि सर्च आफ संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स**, और बेंडेल का कै. सं. बु. म. ने.

571. देखि. उदाहरणार्थ **अमरकोष**, 183, श्लो.15. बंबई सरकार संस्करण

572. हेल का संस्करण. 239.

573. ए. इं. II, 102 .

दिबीरपति मिलती है । **दिविर** शब्द मध्य भारत के सन् 521-22 ई. के एक प्राक्तर अभिलेख में भी आया है ।[574] यह **दिविर** और कोई नहीं फारसी **देबीर** =लेखक ही था । ये देबीर संभवतः सासानी शासन-काल में पश्चिमी भारत में बस गये थे । इस काल में ईरान और पश्चिमी भारत के बीच व्यापारिक-संबंध बहुत बढ़ गये थे । **राजतरंगिणी** में भी **दिविर** शब्द आया है । कश्मीर के 11वीं-12वीं शती के अन्य ग्रंथों में भी यह शब्द मिलता है । क्षेमेन्द्र के **लोक-प्रकाश** में तो इसके अनेक उपभेद जैसे **गंज-दिविर**, (बाजार-लेखक), **ग्राम-दिविर**, **नगर-दिविर**, **खवास-दिविर** (?) भी मिलते हैं ।[575]

ऊपर जिन दो ग्रंथों का जिक्र आया है उनके अतिरिक्त अन्य तुल्यकालीन ग्रंथों में भी लेखक के लिए एक अन्य शब्द का भी व्यवहार हुआ है, वह है **कायस्थ** । यह शब्द पहली बार **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में आया है (1, 325) । आज भी उत्तरी और पूर्वी भारत में यह काफी प्रचलित है । किंतु आज **कायस्थों** की एक अलग जाति ही बन गयी है । इनके बारे में **ब्राह्मण-ग्रंथों** का कहना है कि इनमें शूद्र-रक्त है, पर ये ऊँचे स्थान का दावा करते हैं ।[576] वास्तविकता भी यह है कि प्रायः कायस्थों का काफी राजनीतिक प्रभाव रहा है । अभिलेखों में 8वीं शती से इनका उल्लेख आता है । पहला उल्लेख राजस्थान के सन् 738-39 के कणस्व अभिलेख का है[577] ।

लेखकों के अन्य पदनाम जो अभिलेखों में मिलते हैं वे हैं **करण**[578], **करणिक**[579], या कम प्रचलित **करणिन**[580], **शासनिक**[581] और **धर्मलेखिन**[582] । **करण**

---

574. फ्ली. गु. इं. (का. इं. इं. III), 122, पंक्ति. 7.

575 इं. ऐ. VI, 10.

576. कोलब्रुक, **एसेज,** II, 161, 169, (कावेल); बंबई के कायस्थ प्रभुओं के बारे में देखि. **बॉम्बे गज़ेटियर** XIII, 1. 87.

577 इ. ऐ. XIX, 55; बाद में गुजरात और कलिंग में कायस्थों का वर्णन प्रायः आता है, इं. ऐ. VI, 192, सं. 1 और आगे; ए. ऐ. III, 224.

578. **याज्ञवल्क्य**, I, 72; **वैजयंती**, LXXIII, 17; CXXXVII, 23 मिला. ब्यो. रो. ब्यो. 3 **करण** B के अंतर्गत ।

579. मिला. उदाहरणार्थ ए. इं. I, 81, 129, 166; इं. ऐ. XVI, 175; XVIII, 12.

580. **हर्षचरित**, 227 (निर्णयसागर संस्करण); इं. ऐ. XII. 121,

581. इं. ऐ. XX, 315.

582 इ. ए. XVI,L 208

संभवतः कायस्थ का पर्याय मात्र है[583] क्योंकि धर्मशास्त्रों में **करण** को भी संकर जातियों में रखा है। अन्य नामों में **करणिक** को कीलहार्न के अनुसार 'विधि प्रलेखों (**करण**)' का लेखक मानना होगा। यह संभवतः सरकारी पदवी थी, कोई जाति नहीं। निस्संदेह भारतीय लिपि के विकास और अक्षरों के नये रूपों की ईजाद का आंशिक श्रेय ब्राह्मणों, जैन-मुनियों और बौद्ध-भिक्षुओं को है, पर इसका इससे बहुत अधिक श्रेय पेशेवर लेखकों और लेखक जातियों को है। यह कथन कि रूपों में संशोधन संगतराशों और ताम्रपट्टों के उत्कीर्णकों ने किया है, कम संभाव्य है क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपनी शिक्षा-दीक्षा और व्यवसाय के द्वारा इस प्रकार के कार्य के उपयुक्त न थे।[584]

जैसा कि अनेक अभिलेखों के अंतिम अंशों से विदित होता है परंपरा यह थी कि पत्थर पर खोदे जाने के लिये प्रशस्तियाँ या काव्य पेशेवर लेखकों को दी जाती थीं। ये इसकी स्वच्छ प्रति तैयार करते थे। इस प्रति के आधार पर ही कारीगर (**सूत्रधार**, **शिलाकट**, **रूपकार** या **शिल्पिन**) पत्थरों पर प्रलेख खोद देते थे।[585] मेरी देख-रेख में भी एक बार यही काम हुआ था। उसमें भी इसी परंपरा का अनुकरण किया गया था। कारीगर को ठीक उस पत्थर के आकार का एक कागज दे दिया गया जिस पर प्रलेख (मंदिर की प्रशस्ति) लिखा था। उसने पहले एक पंडित की देखरेख में पत्थर पर अक्षर बनाये फिर उन्हें खोदा। कई बार प्रशस्तिकार यह भी कहता है कि उन्होंने कारीगर का काम भी किया है[586] पर

---

583. मिला. **करणकायस्थ** समास, इं. ऐ., XVII, 13; बेंडेल, कै. सं. बु. म. 70, सं. 1364.

584. ब., आ. स. रि. वे. इं. IV, 79; बु. इं. स्त. III, 2, 40, टिप्पणी; इं. ऐ. XII, 190.

585. उदाहरणार्थ मिला. ए. इं. I, 45, लेखक रत्नसिह, प्रतिलेखक क्षत्रियकुमारपाल; संगतराश रूपकार साम्पुल; ए. इं. I, 49; लेखक देवगण, प्रतिलेखक और संगतराश **वही**; ए. इं. I, 81, लेखक नेहिल; प्रतिलेखक कर्णिक गौड़ तक्षादित्य; संगतराश, सोमनाथ, टंकविज्ञानशालिन, (अक्षर खोदने में निपुण) इसी प्रकार के विचार ए. इं. I, 129, 139, 211, 279 आदि में मिलते हैं।

586. तालगुंड की प्रशस्ति के कवि कुब्ज ने (कीलहार्न, ए. इं. VIII, 31); और अञ्जनेरी अभिलेख, (इं. ऐ. XII, 127) के कवि दिवाकर पण्डित ने यही कहा है।

ऐसे मामले अपवाद स्वरूप ही मिलेंगे। दूसरे स्थानों पर कारीगर भी कभी-कभी कहते हैं कि प्रलेख की स्वच्छ प्रति उन्होंने ही बनायी है।[587]

ताम्रपट्ट की तैयारी के बारे में वक्तव्य और कम यथातथ और अस्पष्ट हैं। अभिलेखों में केवल उस व्यक्ति का ही नाम लेते हैं जिसने प्रलेख की रचना या उसे लिखा। इस रूप में केवल **अमात्य**, **संधिविग्रहिक**, **रहसिक** जैसे ऊँचे अधिकारी या **सेनापति**, **वलाधिकृत** का ही उल्लेख मिलता है। कभी-कभी यह भी मिलता है कि प्रारूप किसी **सूत्रधार**[588] या **त्वष्टा**[589] = संगतराश ने बनाया। सच तो यह है कि उसने मात्र दानपत्र पर लेख खोदा था। कल्हण के अनुसार[590] कश्मीरी राजाओं के यहाँ इस कार्य के लिए एक विशेष अधिकारी ही होता था जिसकी उपाधि **पट्टोपाध्याय**=स्वत्वलेखों (की तैयारी) का शिक्षक थी। वह **अक्षपटल** कार्यालय में काम करता था। स्टीन के मत से यह कार्यालय महालेखापाल का था पर मेरे विचार से यह रेकर्ड दफ्तर था।

शासनों में बहुत कम ही, सो भी उत्तर कालों में उन लोगों के नाम मिलते हैं जिन्होंने उनका **उत्कीर्ण** या **उन्मीलित** किया। उत्कीर्णकों के रूप में अनेक कारीगरों **पीतलकारों**, **लोहकारों** या **अयस्कारों**[591] जैसे, **कण्सर** (आधुनिक कसेरे), **सूत्रधार**[592] (संगतराश), **हेमकार** या **सुनार**[593], **शिल्पिन**[594] या **विज्ञानिक**[595] (कारीगर) का उल्लेख है। कलिंग के शासनों में इनके बदले **अक्ष-**

---

587. मिला. इं. ऐ. XI, 103, 107, XVII, 140.

588. इं. ऐ. XIX, 248; ज. बा. बां. रा. ए. सो. XIII, 4.

589. ए. इं. III, 158, 250 में कहा गया है कि त्वष्टा वीरणाचार्य ने अच्युतराय और वेङ्कटराय तथा सन् 1556 ई. के सदाशिवराय के दानपत्र लिखे हैं।

590. **राजतरङ्गिणी**, V, पृ. 397 तथा आगे (स्टीन).

591. ए. इं. IV, 170, ; इं. ऐ. XVII, 227, 230, 236.

592. इं. ऐ. XV, 360.

593. ए. ए. इं. III, 314; इं. ऐ. XVIII, 17.

594. इं. ऐ. XVII, 234.

595. इं. ऐ. XVI, 208; लोहकार कूके को इसी प्रकार **वीनाणि विज्ञानिक** कहा गया है, इं. ऐ. XVII, 230.

शालिन, **अक्षशालिक**, **अखशालिन**, या **अखशाल**[596] मिलते हैं। इनसे आधुनिक अक्साले[597] यानी सुनारों की जाति का अर्थ होता है।

अंत में, क्लर्कों और लेखकों के लिए लिखी गई दीपिकाओं का भी उल्लेख होना चाहिए। ऐसी अनेक पुस्तकें अब तक बच रही हैं। इनमें **लेखपंचाशिका** में व्यक्तिगत पत्रों के साथ-साथ भूदान-लेखों और संधियों के मसौदे बनाने के नियम भी दिये गये हैं। क्षेमेन्द्र-व्यासदास के **लोक प्रकाश** के एक खंड में विभिन्न प्रकार के बन्ध-पत्रों, हुंडियों आदि के प्रारूपों के नियम लिखे हैं।[598]

इस पुस्तक में फलकों के नीचे डा. डबल्यू. कार्टेलीरी का नाम है। इन्होंने उन सभी अक्षरों का रेखांकन किया है और टीप लगायी है जो प्रतिरूपों में नहीं मिल पाये हैं। काटकर लिये गये अक्षरों का विन्यास और संस्कार भी आपने ही किया है। फलकVII-IX की तैयारी एक युवक लिथोग्राफर श्री बोम ने की है। डा. कार्टेलीरीने चिह्नों के चुनाव में भी मेरी बड़ी सहायता की है। कुछ चिह्न तो उन्होंने स्वतंत्र रूप में ही बनाये हैं। कुछ में मेरे कहने से सुधार किया है जो मेरे प्रस्तावमें परिवर्तन के कारण आवश्यक हो गये थे। उन्होंने भारतीय लिपि के बारे में मुझे कई बातें भी बतलायीं, जिनसे उनकी प्रतिभा व्यक्त होती है। उन्होंने ही अशोक के आदेश लेखों से ऐसी सूचियाँ बनाई जिनमें परस्पर भेद थे। इन सबके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने अधिकांश भारतीय लिपियों के चित्र उनकी प्रतिकृतियों से दिये हैं। हाथ से रेखांकन नहीं किया है। इसके लिए मैं अपने मित्र डा. बर्गेस का ऋणी हूँ। इनके पास भारतीय अभिलेखों की प्रतिकृतियों का बड़ा सुंदर संग्रह है। इन अनेक वर्षों में जब मैं इस विषय के अध्ययन में प्रवृत्त था उन्होंने मुझे इनकी प्रतियाँ दी हैं। प्रतिकृतियों या फोटोग्राफों का दान मुझे डा. हुल्श, प्रो. ल्यूमैन, डा. एस. वान ओल्डेनबर्ग, से भी मिला है जिनका उल्लेख मैंने पाद-टिप्पणियों में यथा स्थान कर दिया है।

---

596. इं.ऐ. XIII, 123; XVIII, 145; ए. इं. III, 19, 213 और अनुवाद का संशोधन (पृ. 21) जिल्द के अंत में।

597. बेन्स, **इंपीरियल सेन्सस रिपोर्ट**, II, 38, जहा मद्रास के अक्समालियों का उल्लेख है। इनका उल्लेख पश्चिमी कन्नड़ प्रदेश में भी मिलता है।

598. भंडारकर, **रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मनुस्क्रिप्ट्स**, 1882-83, 38; **कश्मीर रिपोर्ट**, 75, अक्षर लेखकों के बारे में राजेन्द्रलाल मित्र की टिप्पणी **ग्राफ के पेपर्स** XVI, 133 और बेंडेल ए. सा. इं. पै. 89 भी देखिए।

अनुक्रमणिका

न

प

य

र

ल

ष, स

GLOSSARY OF TECHNICAL TERMS

अंकगणित arithmetic
अक्षर letter
अक्षर संख्यांक letter numeral
अघोष tenues
अनुनासिक nasal
अनुरेखण tracing
अभिलेख-शास्त्र Epigraphy
अमिश्र absolutives
अर्गला cross bar
अल्पप्राण unaspirated
अल्पायु ephimiral
अवयव element
असंभववाची तर्क argumentum ex-impossibilli
असली genuine
आगम canonical work
आड़ी horizontal
आदि proto–
आदि रूप prototype
आदेश-लेख edict
आद्य स्वर initial vowel
आधार base
अलंकारिक ornamental
आस्तिक orthodox
उच्चरित pronounced
उच्चारण pronunciation
उत्कीर्णित पत्थर cameos
उद्धरण quotation
उपभाषा dilect
उभरी मूर्ति relief
ऊष्म ध्वनि sibilant
ओष्ठ्य labial
कंठ्य guttural
कीलशीर्ष nail-head
कीलाक्षर cuneiform
कुंदी किया कपड़ा well beaten cloth
कोलोटाइप collotype
कोशकला lexicography
क्रम-चय permutation
क्षुराकृति dagger shaped
क्षेत्रमिति mensuration
खगोल शास्त्र astronomy
खड़ी vertical
खांचेदार notched
गूढ़ाक्षरी hieroglyphic
गृहीत चिह्न borrowed signs
घर्ष-वर्ण spirant
चिह्न sign
छल्ला ring
छाप impression
छाल bark
जाली forged
जिलेटिन gelatine
जोड़ addition, appendage
डंडा bar
तद्रूप autotype
ताड़पत्र palmleaf
तालव्य palatal
तिथिपत्र chronogram
त्रितीयक tertiary
त्रिभुज triangle
दंत्य dental
दस्तावेज document
दहाई decimal figure
दानलेख votive inscription
दाशमिक प्रणाली decimal system
दीर्घायत oblong
दुमदार tailed
द्रव स्वर liquid vowel
द्वितीयक secondary
द्विपक्षीय bipartite
धर्मशास्त्री teacher of Law
धातु-पात्र relic vessel
ध्वनि-मूल्य phonetic value
ध्वनि-विज्ञान phonetics
नमूना specimen
नास्तिक heterodox
नूतन संस्करण redaction
पंडिताऊ नियम-निष्ठता pedantic formalism

पत्थरों वाले रूप lapidory forms
परंपरा प्राप्त कृति traditional lore
पश्चगामी retrograde
पहाड़ा mulitplication table
पाठभेद recession
पिटक-शीर्ष box-headed
पुरागत archaic
पूर्वगामी precursor
पूर्ववर्ती precursor
पेपाइरी papyri
प्रतिकृति facsimile
प्रत्यय affix
प्रलेख document
प्राचीन ancient
फंदा loop
बाकी subtraction
बिंदी dot
भंग curve
भाषा language
भूल-सुधार correction
मरोड़ twist
महाप्राण aspirated
मात्रा, स्वर–medial
मात्रिका radical signs
मुद्रा seal
मुद्राध्यक्ष mint naster
मुहर seal
मूर्धन्य lingual
मूर्धन्य ध्वनि lingual
मूल चिह्न radical signs
मेष राशि Aries
मौनता का तर्क aegumentum ex-siletio
रूपभेद modification
लकीर stroke
लटकन pendant
लांछन coat of arms
लिपि alphabet, script
लुप्त lost
लेखन-शैली ductus
लौकिक संस्कृत classical Sanskrit
वंशावली pedigree
वर्ग square
वर्णमाला alphabet
वर्तनी orthography
वासंतिक vernal
विभेद variety
विषुव तिथि equinox
वीजाक्षरी hieroglyphic
वृत्त circle
वेदिका railing
व्यंजन consonant
शब्द-संख्यांक word numeral
शर-शीर्ष arrow head
शिरोरेखा top stroke
शून्य cipher, nought
शोशा serif
संख्यांक numeral
संजात व्यंजन derivative consonant
संप्रदाय sect
संप्रसारण weak grammatical forms
संयुक्ताक्षर ligature
संशोधन emendation, correction
संघोष medial
सजातीय cognate
समचतुर्भुज rhombus
समीकरण equation
समुच्चय group
सामन्त vassal
सिक्का coin
स्थानांतरण transposition
स्मारक रूप monumental form
स्वर vowel
स्वर मात्रा medial sign
हलावर्त शैली bandrophiadon
हस्तलिखित ग्रंथ MSS
हस्तलिखित प्रति MSS
हिज्जे spelling
हुक hook